ISSN 0975-119X

दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

प्रधान संपादक

डॉ. व्रज कुमार पाण्डेय

पूर्व यूनिवर्सिटी प्रोफेसर, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

कार्यकारी संपादक

डॉ. अश्विनी महाजन

रीडर, डी.ए.वी. पी.जी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

शैलेन्द्र सेंगर

प्रबंध संपादक, एडिटोरियल इंडिया, दिल्ली

संपादक

निर्मल कुमार सिंह

दृष्टिकोण प्रकाशन

WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली-110045

वर्ष : 2 **अंक** : 2 ❑ मार्च 2010

दृष्टिकोण

संपादक मंडल

प्रो. लॉरेंस ओएडिजी
वेगेनिंग्न विश्वविद्यालय, नीदरलैंड

डॉ. मार्टिन ग्रिन्डले
नॉटिंग्म विश्वविद्यालय, लंदन

डॉ. अरुण अग्रवाल
ट्रेन्ट विश्वविद्यालय, पीटरवोरोग, ओन्टारियो

डॉ. दया शंकर तिवारी
राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. आनंद प्रकाश तिवारी
काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. सुरज नन्दन प्रसाद
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

डॉ. प्रकाश सिन्हा
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. दीपक त्यागी
दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर

डॉ. सी.पी. शर्मा
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग

डॉ. अरुण कुमार
रांची विश्वविद्यालय, रांची

डॉ. महेश कुमार सिंह
सिद्धू कान्हू विश्वविद्यालय, दुमका

डॉ. पूनम सिंह
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

डॉ. एस. के. सिंह
पटना विश्वविद्यालय, पटना

डॉ. अनिल कुमार सिंह
जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा

डॉ. मिथिलेश्वर
वीर कुंअर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

समन्वय संपादक

सुरेन्द्र कुमार सिंह (मो. 09334626350)

चन्द्रकांत सिंह (मो. 09931010959)

संपादकीय सम्पर्क:

351, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091

फोन : 011-43015270, 64683387

e-mail : editorialindia@yahoo.com

©Editorial India

मूल्य : रूपये 100.00

मुद्रक एवं प्रकाशक निर्मल कुमार सिंह द्वारा WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली-110045 से प्रकाशित तथा प्राइमा प्रिंटर्स, वाई-56, ओखला, औद्योगिक क्षेत्र, फेस-2, नई दिल्ली से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

उच्च शिक्षा–गुणवत्ता, निजीकरण और आरक्षण

सभी शैक्षणिक क्रियाओं का निर्देशक सिद्धांत व्यक्ति का एक रचनात्मक और उत्तरदायी नागरिक के रूप में विकास करना है। प्रत्येक शिक्षार्थी अन्य शिक्षार्थियों के साथ कुछ सामान्य आवश्यकताओं और संभावनाओं का सहभागी होने के साथ-साथ अपनी आकांक्षाओं और नैसर्गिक-प्रवृत्तियों में भिन्न भी होता है। यदि शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी में निहित सर्वोत्तमता को साकार करना है तो यह पर्याप्त नहीं कि वह व्यक्ति के समाजीकरण का ध्येय रखे। यह भी आवश्यक है कि वह व्यक्ति और उसके समाज या समुदाय के बीच संघर्ष की संभावना को भी ध्यान में रखे और व्यक्ति के व्यक्तित्व के पोषण के साथ-साथ उसे ऐसे नागरिक जीवन के लिए प्रशिक्षित करे ताकि वह इस प्रकार के संघर्षों का समाधान कर सके और एक रचनात्मक, शांतिपूर्ण और उपयोगी सामुदायिक एवं राष्ट्रीय जीवन व्यतीत कर सके। वास्तव में शिक्षा एक सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति का एक सामाजिक साधन है–ऐसा साधन जिससे एक समाज अपने ही अस्तित्व को सुनिश्चित करता है। शिक्षक समाज का अभिकर्ता या एजेन्ट है, वह सांस्कृतिक संचार में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। यह उसी का कार्य है कि वह एक सामाजिक या नैतिक व्यक्ति का निर्माण करे। उसी के माध्यम से समाज अपनी कल्पना के मानव का निर्माण करता है। यही शिक्षा का कार्य है–शिक्षा एक नया व्यक्ति बनाती है। शिक्षा और विकास के बीच गहन अंतर्संबंध है। विकास के परंपरागत सिद्धांत के अनुसार विशाल जनसंख्या को पहले साक्षरता की सीमा पार करनी चाहिए तभी जनता विकास में भागीदार हो सकती है और विकास से लाभ उठा सकती है। भारतीय संदर्भ में शिक्षा और आर्थिक विकास के अंतर्संबंधों के विश्लेषण से यह बात उभरती है कि राज्यों के आर्थिक विकास और शैक्षिक उपलब्धि के बीच एक गहन संबंध है। सम्पन्न राज्य शैक्षिक रूप से उन्नत और निर्धन राज्य शैक्षिक रूप से पिछड़े हैं। केवल तीन राज्य कर्नाटक, केरल तथा तमिलनाडु–अपवाद हैं जो निर्धन हैं परन्तु शैक्षिक रूप से उन्नत हैं।

शिक्षा की व्यवस्था व्यापक सामाजिक व्यवस्था का ही अभिन्न अंग या उप-व्यवस्था है। अत: उसको सम्पूर्ण व्यवस्था से अलग देखना या समझना न तो संभव है और न ही उचित। भारत की आधुनिक शिक्षा प्रणाली विशेष तौर पर उच्च शिक्षा की व्यवस्था ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अधीन आरंभ हुई। अत: स्वाभाविक ही उसका स्वरूप ब्रिटिश शासन के प्रमुख हितों को प्रतिबिंबित और संरक्षित करने वाला था। ब्रिटिश शासकों को अपने प्रशासन को सुविधानुसार और सस्ती दरों पर चला सकने वाले क्लर्कों की जरूरत थी। अत: अधिकांश प्रारंभिक शिक्षा कला और मानविकी विषयों पर बल देने वाली थी। साधारण जनता को शिक्षित या साक्षर बनाना इसका उद्देश्य नहीं था। उनका उद्देश्य मैकाले के शब्दों में रक्त और वर्ण में भारतीय तथा मस्तिष्क और विचारों में अंग्रेज पैदा करना था ताकि ब्रिटिश उपनिवेशवाद की जड़ें मजबूत की जा सकें।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् शिक्षा के उद्देश्य में उल्लेखनीय परिवर्तन वांद्नीय था और आवश्यक भी। इसी को मुखरित करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने 1948 में राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन के सम्मुख अपने भाषण में कहा–''जब भी भारत में शिक्षा की योजना बनाने के लिए सम्मेलन बुलाए गए तो प्राय: धारणा वर्तमान व्यवस्था को थोड़े परिवर्तनों के साथ बनाए रखने की थी। अब ऐसा नहीं होना चाहिए। देश में महान परिवर्तन आए हैं और शिक्षा के सम्पूर्ण आधार में क्रांतिकारी परिवर्तन किया जाना चाहिए।'' स्वतंत्र भारत की प्रमुख विचारधारा समाज में परिवर्तन, आर्थिक विकास, आधुनिकीकरण, उद्योगीकरण, समाज-सुधार, सामाजिक पुनर्निमार्ण और आर्थिक प्रगति का मिश्रण थी। परिणामस्वरूप शिक्षा की सुविधा के विस्तार, साक्षरता के प्रसार, अनिवार्य और नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा तथा तकनीकी और वैज्ञानिक शिक्षा के प्रोत्साहन पर बल दिया गया। शिक्षा को मानवीय संसाधन में निवेश माना गया ताकि उसे नए विचारों और विकास के लिए बेहतर रूप से तैयार किया जा सके और उसकी प्रतिभा और योग्यता को नवोदित राष्ट्र के विकास में प्रयुक्त किया जा सके।

62 वर्षों के आजाद देश में शिक्षा प्रयोगों के दौर से ही गुजर रही है। जब कोई नई सरकार आती है–वह शिक्षा के लिए नई योजनाएँ बनाने लगती है और पूर्ववर्ती सरकार की खामियाँ निकालने लगती है। विगत वर्षों में उच्च शिक्षा की गुणवत्ता, आरक्षण और निजीकरण को लेकर बड़ी चर्चा रही। मैनेजमेंट और प्राद्यौगिक संस्थानों में पिछड़ी जातियों के नामांकन के सवाल

पर काफी विवाद भी हुआ और राजनीति भी हुई। देश में मेधा कैसे बढ़े, गुणवत्ता कैसे आये, हमारे छात्र आज की दुनिया में चल रही प्रतिस्पर्धा में कैसे अव्वल स्थान प्राप्त करें–इसकी चिन्ता किसी को नहीं है।

डॉ. मनमोहन सिंह उदारीकरण के प्रमुख पैरोकार हैं–इसलिए स्वभावत: वे निजीकरण के समर्थक भी हैं। और अपनी प्रतिबद्धता को साकार करने के लिए उन्होंने उसी विचार के समर्थक कपिल सिब्बल को मानव संसाधन विभाग का मंत्री भी बना दिया है। मैनेजमेन्ट और तकनौलिजकल शिक्षा से सम्बद्ध निजी संस्थान फीस बढ़ाने की तैयारी कर रहे हैं और फीस बढ़ोतरी का आलम यह है कि गरीब का बच्चा योग्यता रहते और प्रतियोगिता में सफल होने के बावजूद नामांकन कराने में सफल नहीं हो पायेगा। उदारीकरण सब्सिडी के खिलाफ है और वह किसी को किसी प्रकार की सेवा के लिए उसकी लागत को हर हाल में वसूलने का निर्देश देता है।

शिक्षा में निजीकरण का मतलब है शिक्षा को व्यवसाय बना देना। और हमारे देश में निजी शिक्षा के संचालक सरकार का किसी तरह का नियंत्रण अपनी संस्थाओं पर नहीं चाहते हैं। इस स्थिति में देश की 90 प्रतिशत आबादी के बच्चे निजी उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश नहीं पा सकेंगे।

भूमंडलीकरण के दौर में देशों की सीमाएँ खोल दी गई हैं। किसी भी देश का आदमी किसी भी देश में बेरोकटोक व्यापार और उद्योग लगा सकता है और लगा भी रहा है। उसी तरह पश्चिमी देशों की शिक्षा संस्थाएँ विकासशील देशों में अपनी संस्थाएँ खोल रही हैं और शिक्षा को व्यवसाय बनाकर भारत जैसे देश को शोषण का नया जरिया बना रही हैं।

वर्तमान शिक्षा दर्शन पर विचार करते समय पी. एन. हक्सर की यह ईमानदार स्वाकारोक्ति बरबस याद आ जाती है कि मैकाले कब्र से हमारे ऊपर शासन कर रहा है। यहाँ उल्लेखनीय है कि हक्सर ने यह विचार नौकरी से मुक्त होने के बाद योजना में प्रकाशित एक लेख में प्रकट किया था। यही वस्तु स्थिति है। अंग्रेजी की मानसिक दासता ने हमें इस योग्य नहीं छोड़ा है कि हम कुछ नई चीज सोच सकें या अपनी समस्याओं को खुद सुलझा सकें। इस मानसिक दासता को 'सहयोग' अथवा 'प्रगति' का आकर्षक नाम दिया गया है। प्रतिवर्ष हजारों नए शब्दों और संकल्पनाओं का आयात किया जाता है और उनमें शिक्षा को ऐसा उलझाया जाता है कि हम शिक्षा के क्षेत्र में विश्व के उन्नत देशों की बराबरी करते हुए दिखाई देते हैं। बच्चों की 85 प्रतिशत जनसंख्या के लिए हम अत्यन्त आवश्यक सुविधाएँ नहीं जुटा पाते हैं, परन्तु 2.5 से 3 प्रतिशत बच्चों के लिए हम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

आम लोगों के बच्चों के लिए भारतीय भाषाओं में शिक्षा और विशिष्ट वर्ग के बच्चों के लिए अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा और फिर ऊँची शिक्षा तथा सरकारी गैर सरकारी नौकरियों के लिए अंग्रेजी की अनिवार्यता; यह ऐसा कुचक्र है जिसमें से साधारण भारतीय जीवन भर उभर नहीं पाता। योग्यता का आधार अंग्रेजी ज्ञान और अधिकाधिक विषयों की जानकारी है जिसका निर्णय ऐसी असमान प्रतियोगिताओं से किया जाता है जिनमें फटे तंबुओं के स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों को भव्य भवनों वाले पब्लिक स्कूलों में पढ़े बच्चे के मुकाबले में खड़ा होना पड़ता है। जो इसमें जीतता है उसे 'योग्य' करार दिया जाता है और जो असफल रहता है; उसे 'निकम्मा' घोषित कर दिया जाता है। नई शिक्षा प्रणाली भी इस व्यवस्था में कोई बुनियादी–परिवर्तन नहीं सुझा सकी है।

– ब्रजकुमार पांडेय

इस अंक में

स्थायी शान्ति के लिए गांधीजी के विचारों की प्रासंगिकता–डॉ. सूर्य देव प्रसाद 7

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या : वैज्ञानिक इतिहास लेखन की तलाश–पवन कुमार 12

सभ्यता के विनाश में इतिहास की भूमिका–डॉ. प्रियरंजन 16

ब्रिटिश भारत में कृषक आन्दोलन की समीक्षा–अश्विनी कुमार 20

कश्मीर समस्या का अंतर्राष्ट्रीयकरण के दुष्परिणाम–सुशील कुमार 24

इतिहास लेखन की व्यथा कथा–पुष्पा कुमारी 28

''बिहार और 1857 : सामाजार्थिक विसंगतियों से उपजा विद्रोह''–डॉ॰ दीपक कुमार राय 32

सिंधु क्षेत्र के बाहर के पशुचारण तथा कृषक समुदाय–डॉ. सुरज नन्दन प्रसाद 37

लोकतांत्रिक समाजवाद–डॉ. उमेश प्रसाद सिंह 40

पंचायती राज एवं अ्रसरतंत्र–डॉ. पूनम कुमारी 43

अलगाव की अवधारणा - एरिक फॅम, राबर्ट ए निस्बेट तथा हरबर्ट मारक्यूज के चिंतन के विशेष संदर्भ में
–अशोक राम. सी. पी. शर्मा 46

1929 की आर्थिक मंदी का प्रभाव भारत पर–डॉ. रविन्द्र प्रसाद सिंह 51
आर्थिक मंदी के दौर में दुनिया–डॉ. उपेन्द्र प्रसाद सिंह

नारियों के आर्थिक सशक्तिकरण में स्वसहायता समूह की भूमिका का विश्लेशणात्मक अध्ययन–डॉ॰ मीरा सिंह 58

कन्या भ्रूण हत्या : समीक्षात्मक अध्ययन–सतीश कुमार 62

विवाह और दहेज प्रथा की अन्तर्निहित सैद्धान्तिकता–डॉ॰ ममता मनोरम 66

प्राकृतिक आपदा और भूकम्पः कारण और समाधान–डॉ. सुमन कुमार 71

संयुक्त परिवार के बिखरने के मनोवैज्ञानिक कारण एवं परिणाम–डॉ. अंजू कुमारी 75

गृह विज्ञान की शिक्षा का महत्त्व–डॉ. किरण कुमारी

बाल विकास पर माता-पिता की मनोवृति का प्रयास–डॉ. प्रतिमा कुमारी 80

माता-पिता के मनोवृति के संदर्भ में बाल विकास–डॉ. अंजना सिन्हा 84

वैश्वीकरण के दौर में शिक्षकों का प्रशिक्षण–मीना कुमारी 89

उच्च शिक्षा का बदलता स्वरूप–सुरक्षा शर्मा 91

हरिवंशपुराण की उपादेयता (वर्तमान संदर्भ में)–डॉ. नरेन्द्र झा 93

महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् नाटक में संगीत-योजना : एक विवेचन–डॉ. बाल कृष्ण शर्मा 96

शिक्षा से सामाजिक उन्नति–डॉ. केकी कृष्ण 98

शिक्षा में श्रीकृष्ण चरित्र की भूमिका–डॉ॰ इन्दु कुमारी 106

तुलसी के मानस में संघर्षतत्त्व–डॉ. सुमेधा पाठक 110

दृष्टिकोण

कोड-मिश्रण और कोड-परिवर्तन : एक अध्ययन–चारु गोयल 113

हिंदी आलोचना और प्रो. विजयदेव नारायण साही–गजेन्द्र कुमार पाठक 118

निराला की 'सरोज स्मृति'–डॉ॰ मनोज कुमार 122

भूमंडलीकरण के दौर में गबन–शिप्रा प्रभा 125

छायावादोत्तर हिन्दी कविता का सामान्य परिवेश–शशांक शेखर 127

भारतीय राजनीति में गाँधी जी का योगदान–डॉ॰ राजीव सिंह कनौजिया 132

राष्ट्रीय कवि पंडित श्याम नारायण पांडेय और श्री माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन
–डॉ॰ पुनीता कुशवाहा 140

मीडिया और संस्कृति–डॉ॰ हीरा नंदन प्रसाद 145

पथ के साथी मैथिलीशरण गुप्त: एक संस्मरण–डॉ॰ कृष्णा कुमारी 148

कबीर के अध्ययन की परम्परा–प्रेम नाथ गौतम 152

विजयदेव नारायण साही की आलोचना का स्वरूप और वैशिष्ठ्य–कुमारी कोमल 155

स्थायी शान्ति के लिए गांधीजी के विचारों की प्रासंगिकता

डॉ. सूर्य देव प्रसाद

रिसर्च स्कॉलर (इतिहास) मगध वि. वि. बोधगया।

शान्ति व्यवस्था की स्थापना आज के युग की कठिनतम समस्या है। आज मानव को ऐसा ज्ञान और संस्कृति उपलब्ध है कि यदि वह उसका सदुपयोग करें तो जगत में शांति, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना स्थापित हो सकती है, लेकिन विज्ञान का दुरुपयोग करके आज सारा विश्व हिंसा से उन्मत और युद्ध की छाया से धूमिल है। यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि युद्ध मानवता के खिलाफ अपराध है और उसके द्वारा कोई मसला हल नहीं हो सकता है। हिंसक साधनों की निरर्थकता आज सिद्ध हो चुकी है, किन्तु अहिंसा की व्यवस्था स्थापना के माध्यम के रूप में स्थापित होना बाकी है। मानव जाति को यह प्रत्यय दिलाना चाहिए कि प्रेम में हिंसा पर विजय पाने और भय तथा द्वेष की जगह सख्यभाव और सहयोग स्थापित करने की क्षमता है।

गांधीजी के विचारों का उद्देश्य मानव समाज में हिंसा की जड़ को काटकर शांति और अहिंसा की नींव पर नया समाज स्थापित करना था। तनावों को मिटाना, हिंसक कार्यों को अंहिसा एवं सत्याग्रह के द्वारा नहीं होने देना, कौमी दंगों का शमन और मानव-मानव के बीच भेद बढ़ानेवाली दीवारों को मिटाना, आज के युग के परिप्रेक्ष्य में गांधीवादी विचारों की प्रासंगिकता महत्वपूर्ण हो गई है। गांधीजी ने सत्य, अहिंसा एवं सत्याग्रह का प्रयोग राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति स्थापना के लिए करने को कहा। हमें किसी भी बाहरी आक्रमण का भय नहीं रखना चाहिए और हमारी तैयारियाँ शांति के लिए होनी चाहिए। हमारे पड़ोसी और आस-पास के देशों के वास्ते हमारी मनः स्थिति निर्भय और शांत रहनी चाहिए। सत्य और अहिंसा ही वह औजार है जिससे हम दुनिया को भी बचा सकते है। हमें दिलों को जोड़ने के लिए काम करना पड़ेगा, दिलों को तोड़ने के लिए नहीं। दंगों को रोकने के लिए यदि प्राण देने का भी समय आएगा तो इसके लिए हमें तैयार रहना पड़ेगा। सत्य और अहिंसा वह शांति है जिससे बल मिलता है, ताकत मिलती है, यह दिलों को जोड़ता है, राष्ट्र को जोड़ता है और सारी दुनिया को जोड़ता है।

हिंसा मानव धर्म के विपरीत है। मर कर जीने का नाम जिन्दगी है। किसी को मार कर जीना कोई जीना नहीं है। यही अहिंसा सिखलाती है। महात्मा गांधी ने कहा "मानव जाति के हाथ में अहिंसा सबसे बड़ा बल है। मनुष्य की सूझ ने विनाश के जो प्रबल हथियार तैयार किए हैं उनसे भी यह सबल है। विनाश का कोई धर्म नहीं है। मनुष्य अपने भावों के हाथ जरूरत पड़ने पर मरने को तैयार रहकर आजादी से जीता है उसे मार कर हर्गिज नहीं प्रत्येक हत्या या आघात उसका कारण कुछ भी रहा हो, मानवता के विरुद्ध अपराध है।"- "हरिजन" 20.07.1933

अहिंसक भारत का पुनर्निमाण करने और संधि काल में हिंसा के आन्तरिक उभारों एवं उपद्रवों को अहिंसक ढंग से दूर करने के लिए हमें गांधीवादी विचारों का प्रश्रय लेना पड़ेगा। देश अंतर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्ष का मुकाबला अहिंसक साधनों से तब तक नहीं कर सकता जब तक उसका आन्तरिक जीवन अहिंसा पर आधारित न हो और उसके

नागरिकों ने अपने दिल से नफरत, डर और हिंसा को निकाल न दिया हो। अहिंसा के लिए इस प्रकार की राष्ट्र व्यापी तैयारी एक दिन में नहीं हो सकती। इसमें लम्बा समय लगना अनिवार्य है। अहिंसा के प्रयत्नों से ही आन्तरिक मामलों को मजबूत करके राष्ट्र, राज्य की सीमाओं से ऊपर उठकर हम नि:शस्त्र और शान्तिमय जगत की बुनियाद डाल सकेंगे। इसके लिए हमें सर्वप्रथम आवश्यकता है अहिंसक नागरिकों की सेना की जो अन्दर के झगड़ों को शान्त करने के लिए सहायता करेंगें। हर व्यक्ति अपने आप पर काबू रखें, हर नागरिक अपने आप में अनुशासन रखे, अपने अधिकारों को ध्यान रखने के क्रम में दूसरे के अधिकारों पर अतिक्रमण नहीं करके अपने अधिकारों की अपेक्षा इसे अधिक मूल्यवान समझे। इतिहास हमें ज्ञान देता है कि लड़ाई का अन्त लड़ाई से नहीं हो सकता इसका अन्त अहिंसक कार्यो से ही हो सकता है। इसके लिए ग्राम-ग्राम में ग्राम भावना जागृत करना होगा, एक-एक व्यक्ति को जागृत करके मजबूत करना होगा। देश के हर व्यक्ति को हम रायफल नहीं दे सकते पर अहिंसक कार्यो के लिए उसका मनोबल अवश्य बढ़ा सकते हैं। देश के तमाम नागरिकों को इसके लिए तैयार करना होगा। उन्हें सक्रिय तथा संगठित करना होगा। जाति विशेष का ख्याल किए बिना मानव-मात्र को इसके लिए तैयार करना होगा। अहिंसा हर मनुष्य की शान्ति है और हर मनुष्य का कर्तव्य भी। सत्य और अहिंसा के अतिरिक्त कोई ऐसी शान्ति नहीं है जो मानवता का त्राण कर सके। इस महान कार्य के लिए देश की समस्त अहिंसक शान्ति को एकत्रित और संयोजित होना चाहिए। संकट और परीक्षा के अवसर पर विश्व मैत्री की भावना को अक्षुण्ण रखते हुए राष्ट्रीय एकात्मकता का निर्माण तथा अहिंसक प्रतिकार की क्षमता बढ़ाने के दृविध कार्यों में सहयोग देने के लिए अहिंसा में विश्वास रखने वाली समस्त संस्थाओं, प्रवृत्तियों और व्याक्तियों का सहयोग लिया जाना चाहिए।

गांधीजी लिखते हैं "जो अपनी रक्षा आप नहीं करते हैं वे कायर और दोषी हैं। अपनी इज्जत बचाने के लिए जान की भी बाजी लगा लेना उचित है। इसमें कर्तव्य पालन और अहिंसा में कहीं भी कोई भी विरोध नहीं है। अहिंसा को समझना कोई सरल कार्य नहीं चलता, अपितु इसके पालन करने में ही सार्थकता है।"-"यंग इण्डिया" 5.11.1925

यदि आज विश्व को स्थायी शान्ति प्रदान करना है तो व्यक्ति को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन में एकरूपता लानी होगी, इन सबकी प्राप्ति के लिए नैतिकता सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि नैतिकता की कमी ही जीवन को विभिन्न क्षेत्रों में विषमता को जन्म देती है और उसी से राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं का जन्म होता है। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता के अभाव में समाज और राष्ट्र का जीवन भी भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए गांधीजी अपने कार्यक्रम में नैतिकता को विशेष महत्व देते हैं।

विश्वशांति के लिए भ्रातृत्व की भावना का विकास और प्रचार सबसे महत्वपूर्ण है। गांधीजी का विश्व भ्रातृत्व-सिद्धांत वेदान्त दर्शन के आत्मा और परमात्मा के सिद्धांत पर आधरित है। मानवपरिवार का सदस्य होने के नाते हमलोग सब एक हैं। मानव-मानव में कोई भिन्नता नहीं है। यह दूसरी बात है कि देश काल और परिस्थिति के कारण मनुष्य, समाज और उसकी प्रकृति में अन्तर आ जाता है पर यह ऊपरी भिन्नता है, भीतर में सब एक ही तार है। इसी कारण यह बाह्य अन्तर व्यक्ति को वर्गों में बॉटने में असमर्थ है। महात्मा गांधी ऐसा मानते थे। इसलिए वे कल्याण और उन्नति के विषय में व्यापक, सार्वजनीन और विश्वसनीय भावना रखते थे। उनका विचार था कि देश तथा मानव समुदाय को छोड़कर भारत के लोगों की उन्नति नहीं हो सकती, इसलिए जब सब का कल्याण होगा, सब की उन्नति होगी, मानव समुदाय का उन्नति होगा तभी भारतीयों का भी उद्धार होगा। उनकी दृष्टि में सभी धर्म और विश्वास समान हैं। वे सभी सम्प्रदाय और आचार के लोगों के प्रति आदर भाव रखते थे। धर्म, संप्रदाय, जाति के भेद को मिटाने के लिए मनुष्य के आपसी संघर्ष को समाप्त करने के लिए धर्मिक और जातीय सहिष्णुता परमावश्यक है। जीवन में सुख और सन्तोष पाने के लिए इससे कहीं ऊंची और दूर की चीज चाहिए वह है मानवता के प्रति श्रद्धा। जब तक हम

मानव-भ्रातृत्व और अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव को अपने भीतर नहीं लाते तब तक न हम शांतिपूर्वक रह सकते और न दूसरों को ही रहने दे सकते हैं। क्योंकि युद्ध व्यक्ति और समूह की भावनाओं का क्रियात्मक रूप है। अत: जब तक व्यक्ति और समूह से इसके मूल कारण क्रोध, घृणा, लिप्सा, अभिमान, भय, स्वार्थ आदि दोषों का निराकरण नहीं हो जाता तब तक शांति संभव नहीं। अत: विश्वशान्ति के लिए सबसे पहले व्यक्ति और राष्ट्र को नैतिक सिद्धांतों को अपनाना होगा, तभी अंतर्राष्ट्रीय शांति संभव हो सकती है।

स्थायी शांति के लिए गांधीजी ने निर्भयता का पाठ अपनाने को कहा, कायरता ही तमाम बुराइयों की जड़ है। कायरता के लिए उनके सिद्धांतों में कोई स्थान नहीं था। कायरतापूर्वक चुपचाप अत्याचार सहनेवाले की अपेक्षा शस्त्र लेकर क्रांति करनेवालों से उनकी सहानुभूति अधिक थी। यद्यपि यह मार्ग भी उनका अभीष्ट नहीं था। शस्त्र से मुकाबला करनेवाला अपने पर विश्वास भले ही करे किन्तु वह निर्भय नहीं हो सकता। आज छोटे-छोटे राष्ट्रों के मुकाबले विश्व के वे ही राष्ट्र सबसे अधिक भयभीत रहते है जो बृहतर शस्त्र बल से लैस है।

स्थायी शांति के लिए गांधीजी दृढ़लगन को भी महत्वपूर्ण मानते है। दृधलगन के द्वारा हम विश्व की बड़ी से बड़ी शक्ति को झुका सकते है। यदि हमारा लक्ष्य शुद्ध तथा आत्मसंयम से युक्त हो, हम आत्मबलिदान के लिए तैयार रहें तथा संसार के कुछ लोग इस प्रकार कटिबद्ध हो जाएं तो संसार में बिना बल प्रयोग के ही शांति स्थापित हो जायगी।

गांधीजी के पास शस्त्र से सुसज्जित कोई फौज नहीं थी फिर भी उन्होंने विश्व की एक महाशक्ति के ऊपर विजय प्राप्त की। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसके प्रयोग के लिए व्यक्ति नहीं राष्ट्र की आवश्यकता होगी। राष्ट्र दृढ़लगन और अहिंसक तरीकों का प्रयोग कर विश्व संकटों का समाधन कर सकता है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में काम करनेवाली एकमात्र महत्वपूर्ण संस्था यू० एन० ओ० को इस दिशा में विशेष प्रयास करना चाहिए। इसके लिए यू० एन० ओ० चार्टर में सुधार कर इसकी क्रियात्मकता में विशेषाधिकार आदि जो बाधाएँ हैं उसे समाप्त कर देना चाहिए।

विश्व में स्थायी शांति के लिए गांधीजी ने जो अभूतपूर्व मार्ग दिखाया वह है अहिंसा का व्यापक प्रयोग। वे कहते हैं कि "अहिंसा का प्रयोग हमें केवल व्यक्तियों पर ही नहीं करना चाहिए बल्कि समूहों, राष्ट्रों और समाजों पर भी करना चाहिए।" सर्वतों भावेन ऐसा करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। सत्य और अहिंसा पर दृढ़ विश्वास करने को कहते हुए उन्होंने कहा कि बुरे साधनों से अच्छे परिणाम नहीं निकाल सकते। इसलिए साध्य और साधन में एकरूपता होनी चाहिए। अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार सत्य और अहिंसा के साधनों से ही किया जाना चाहिए अन्यथा इसका परिणाम भी घृणा और युद्ध ही होगा। युद्ध में रक्तपात होता है इसके परिणाम सदैव बुरे होते है। गॉधीजी सत्यानिष्ठ और अहिंसक होने के नाते युद्ध विरोधी थे और उसका अन्त चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपनी चिन्ता प्रकट करते हुए कहा "मेरी अंतरात्मा में अहिंसा के विषय में कुछ भी अस्पष्ट नहीं है। युद्ध एक बहुत बड़ी चीज है और इसे समाप्त करना चाहिए। रक्तपात पर आधारित स्वतंत्रता निर्मल नहीं होती है। मेरे सब कार्यों का लोग दोषपूर्ण समझें पर मैंने कभी अहिंसा के विरुद्ध कार्य करने को नहीं सोचा। हमारे जीवन का आधर सत्य और अहिंसा ही हो सकता है। असत्य और हिंसा कभी भी नहीं"- ("यंग इण्डिया" 13/09/28 पृष्ठ 308) विश्व को स्थायी शांति प्रदान करने और मानवता की रक्षा के लिए गांधीजी ने शांतिमय एवं कुछ मानवीय उपायों को खोज निकाला और उनका परीक्षण कर सफलता प्राप्त की। अहिंसा का प्रयोग करने के लिए उन्होंने निम्नलिखित सूत्रों को सत्याग्रहियों को अपनाने को कहा:-

1. आत्मा और उसकी सर्वश्रेष्ठ शक्ति में विश्वास
2. सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा
3. सभी प्रकार के शारीरिक बल का बहिष्कार

4. साधनों की पवित्रता और बुराइयों के साथ असहयोग, असहयोग के द्वारा बुराइयों का निवारण

5. अपने प्रतिद्वन्द्वी के साथ समझौता करने को प्रस्तुत रहना

6. प्रारंभिक शिक्षा और

7. समस्त धर्मों के प्रति समभाव

हजारों वर्षों से रक्तपात से ऊबे हुए विश्व को उन्होंने एक ऐसा मार्ग दिखाया जिसके आधर पर बिना शर्त के ही अन्याय का विरोध किया जा सकता है। यह पद्धति कठिन अवश्य है किन्तु असम्भव नही। इसके अलावा कोई अन्य रास्ता भी नहीं। हमें विभिन्न क्षेत्रों और परिस्थितियों में इसका सफल प्रयोग करने के लिए कुछ आवश्यक परिवर्तन भी करना होगा।

स्थायी शांति की प्राप्ति के लिए अहिंसा एवं सत्य को अपनाना ही होगा। इसी के आधार पर विश्व के समस्त राष्ट्रों का सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संगठन किया जा सकता है। अहिंसात्मक विरोध के द्वारा हम अपने व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सभी तनावों का हल शांतिपूर्वक निकाल सकते हैं। आज तक के इतिहास में कोई ऐसा प्रमाण नहीं है, जबकि किसी देश ने अहिंसात्मक प्रतीकार किया हो। यदि किसी देश पर मेरे कष्ट सहन का कोई असर नहीं पड़ता तो इसके लिए हमें अपना आत्मसम्मान नहीं खोना पड़ रहा है, पर निर्भीक भाव से बिना किसी लिप्सा के शस्त्रविहीन स्त्री, पुरुष और बच्चों के द्वारा किया गया द्वेष रहित अहिंसात्मक प्रतिरोध उनके लिए एक नया अनुभव होगा और लोग इस अमोघ शक्ति के आगे अन्ततः झुक जायेंगे।

अहिंसा ही गांधीजी का अमोघ शस्त्र है। इसलिए वे कहते हैं कि यदि सच्ची शक्ति चाहते हो और युद्धों को समाप्त करना चाहते हो तो अहिंसा को अपनाओं, क्योंकि अहिंसक मनुष्य के लिए तो सारा जगत कुटुम्ब हौ जो ऐसा मानता है वह किससे डरेगा और किसे डरायेगा। हिट लरशाही को हिटलरशाही से कभी भी परास्त नहीं किया जा सकता। उससे तो दसगुनी तेज ऊंचे दर्जे की हिटलरशाही का पोषण होगा। इतिहास इसका साक्षी है कि यह कथन सत्य के कितना निकट है।

यघपि गांधीजी को कभी सशस्त्र आक्रमण का मुकाबला करने का मौका नहीं मिला। गांधी पद्धति का यदि प्रयोग किया जाय तो सबसे पहले हर व्यक्ति को किसी भी पद्धति से सर्वथा भिन्न करके देखना होगा, विरोध पद्धति का होता है व्यक्ति का नहीं। कोई व्यक्ति किसी दूसरे को बुरा चित्रित नहीं कर सकता है। वह पद्धति की आलोचना अवश्य कर सकता है। वे हमेशा कहा करते थे मैं ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ रहा हूं, अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं। प्रत्येक अंग्रेज मेरा मित्र है। युद्ध के विरुद्ध होने के चलते मुझे नैतिक सहायता भी नहीं देनी चाहिए। लेकिन मेरे विचार से युद्ध के विरुद्ध होने पर भी हमें उस पक्ष की सहायता करनी चाहिए जो न्याय के पक्ष में हो और इस तरह हम दोनों देशों में शांति स्थापना करने में सफल हो सकते हैं। केवल हाथ पर हाथ रखकर अहिंसा का नाम लेने से किसी समस्या का समाधन नहीं हो सकता है। - "हरिजन"4/9/39 पृ0 329

गॉधीजी ने अपनी आत्मकथा में भी अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा- "युद्ध के विरोधी सभी हैं पर जो अहिंसक हैं उनका कर्तव्य है कि वे युद्ध को रोकने का प्रयत्न करें। युद्ध में भाग लेकर भी यदि युद्ध को रोकना पड़ा तो उसमें किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए। जब दो राष्ट्र लड़ रहे हों तब अहिंसा के पुजारी का कर्तव्य है कि वह युद्ध बन्द करवायें जो इस कर्तव्य पालन में समर्थ नहीं हैं जिसमें युद्ध का विरोध करने की शक्ति नहीं है, जिसमें लड़ाई रोकने की योग्यता नहीं वह लड़ाई में भाग लेकर भी अपने आपको अपने राष्ट्र को और संसार को युद्ध से मुक्त करने की पूरे दिल से कोशिश करता है।" - गांधी आत्मकथा पृष्ठ. 428

हिंसा और युद्ध से स्थायी शांति कभी भी नहीं आ सकती न ही मानवता का कल्याण ही हो सकता है। स्थायी

शांति अहिंसा और सत्य के प्रयोग से ही संभव है। इसके प्रयोग से मैत्री और सहयोग की भावना का विस्तार होगा जो हर प्रकार की समस्या का कारगर उपाय है। अहिंसा और हिंसा दो भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण करती है। दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं। अस्त्र विहिन मनुष्य स्वभावत: अपने बाहु-बल पर भरोसा करता है, उसे अन्य किसी कि सहायता की आवश्यकता नहीं है। महात्मा गांधी अहिंसा रूपी अमोघ अस्त्र के द्वारा संसार के तमाम उलझनों पर विजय पाना चाहते थे। कर्तव्यपालन के लिए युद्ध अवश्यम्भावी है। जैसा कि गीता में उल्लेखित है "विजय उसे ही मिलती है जो पूर्ण तथा निर्भय और निर्भीक होकर लड़ता है। मनुष्य केवल पुरुषार्थ करने का अधिकारी है परिणाम का नहीं। इसलिए उसे अपने कर्तव्य का निश्चय करके निश्चितभाव से उसमें लगे रहना चाहिए।"- अनाशक्तियोग (एम. के. गांधी) अध्याय-1 पृष्ठ 18

शांति की समस्या के लिए इस बात की आवश्यकता है कि पहले हिंसात्मक प्रणालियों का अन्त करना होगा जो अशांति को जन्म देती है। जब तक समाज में शोषक और शोषित वर्ग रहेंगे तब तक स्थायी शांति संभव नहीं है। युद्ध या अशांति बाहरी कारणों से नहीं बल्कि आन्तरिक कारणों के परिणाम हैं। यही केन्द्र बिन्दु है जहाँ से अशांति शुरू होती है और यहीं से चलकर हम अपने लक्ष्य तक पहुंच सकते है। गांधीजी के अनुसार शांति स्थापना का कार्य ऊपर से नहीं नीचे से शुरू होना चाहिए।

पारस्परिक आदान प्रदान से मैत्री की भावना बढ़ती है और कटुता का अंत होता है। यदि विश्व के राष्ट्र एक-दूसरे की भलाई के लिए श्रम और अर्थ का आदान-प्रदान करें तो देश की उन्नति के साथ-साथ बाहरी भय भी नहीं रहेगा और राष्ट्र में आन्तरिक और वाह्य शांति भी बनी रहेगी। विश्वशांति के लिए हमें संपत्ति और प्रभुता सम्बंधी धरणाओं को बदलना होगा। पूंजी और काम की कल्पना और व्यवस्था में परिवर्तन लाना होगा। हमें जीवन के लिए नए मानदण्डों को स्वीकार करना होगा। वर्ग, जाति या राष्ट्र मूलक मिथ्याभिमान की प्रवृत्तियों को जड़ से उखाड़ कर फेंकना होगा अपनी वासनाओं और लिप्साओं को सीमित करके पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के स्थान पर सहयोग मूलक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय अर्थनीति एवं राजनीति को अपनाना होगा। किसी भी राष्ट्र ने जो स्वंय में इन सिद्धांतों का सफल प्रयोग कर चुका हो उसे अग्रणी बनाकर शांति के मार्ग को उत्तरोत्तर प्रशस्त कर सकते हैं। मानवता में विश्वास करनेवाला कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र इसका नेतृत्व कर सकता है। जो पद्धति भारत जैसे देश में सफल हो सकती है वह संपूर्ण विश्व में स्थायी शांति कायम करने में सफल होगी इसमें संदेह नहीं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डी. जी. तेंदुलकर: "महात्मा", खंड 6
2. मोहनदास करमचंद्र गांधी: "आटोबायोग्राफी"
3. के. पोलक: "विश्व भारती कवार्टरली", गांधी शांति विशेषांक
4. "हरिजन"
5. "यंग इण्डिया"
6. लुई फिशर : "गांधी"
7. मोहनदास करमचंद्र गांधी : "हिन्द स्वराज्य"

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या : वैज्ञानिक इतिहास लेखन की तलाश

पवन कुमार

+2 शिक्षक, रिसर्च स्कॉलर (नेट) प. वि. वि. पटना

18वीं सदी में जिस वैज्ञानिक इतिहास की तलाश प्रारम्भ हुई, जिसमें ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता के आधार पर मानव समाज के प्रगति के नियमों और परिवर्तनों, सिद्धांतों को चिन्हित करने की कोशिश हो रही थी। उस दिशा में कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक ऐंगेल्स के द्वारा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या एक महान उपलब्धि थी। मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के द्वारा जहां एक ओर दुनिया के श्रमिकों को शोषित, पीड़ित सर्वहारा वर्ग को मुक्ति का एक सशक्त हथियार प्रदान किया, वहीं दूसरी ओर अतीत को समझने की वैज्ञानिक सोच, वर्तमान को बदलने के कारगर उपाय और भविष्य को संवारने की प्रेरणा देकर इतिहास के क्षितिज को असीम विस्तार दिया और इसे परिवर्तन का संवाहक बना दिया।

वस्तुत: 18वीं सदी से ही यूरोप में इतिहास के अध्ययन की नवीन पद्धतियों का अवलम्वन किया जाने लगा था। इतिहास की व्याख्या के आधार पर इसी समय सामाजिक विकास के नियमों की खोज आरम्भ हुई और इतिहास का लक्ष्य निर्धारित किया जाने लगा। मार्क्स ने दावा किया कि उसने मानव समाज के विकास के रहस्य को जान लिया है। उसकी मान्यता थी कि संपूर्ण विकास की प्रक्रिया द्वंद्वात्मक होती है और यह विकास आर्थिक शक्तियों के परस्पर संघर्ष का प्रतिफल होता है। मार्क्स के अनुसार विश्व का मूल स्वरूप भौतिक है और यह भौतिकता शोषक तथा उत्पादक शक्तियों के सतत् संघर्ष से धीरे-धीरे अपनी समृद्धि और सम्पन्नता के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर बढ़ रही है। मार्क्स के अनुसार इतिहास का लक्ष्य उत्पादन के समुन्नत एवं प्रचुर साधनों से युक्त एक ऐसे राज्यविहीन, वर्ग विहीन, शोषणमुक्त, समता पर आधारित समृद्ध साम्यवादी समाज की स्थापना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को योग्यता के अनुसार काम और आवश्यकतानुसार दाम मिलेगा।

Dialectical Materialism: मार्क्स के संपूर्ण राजनीतिक चिंतन का आधार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है। मार्क्स ने मानव समाज के विकास अथवा उसमें होने वाले परिवर्तन के जिस रहस्य को जान लेने का दावा किया वह और कुछ नहीं बल्कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ही है। अत: इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को समझना आवश्यक है यद्यपि मार्क्स अथवा एंलेग्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की आधारशीला पर ही अपनी विचारधारा को खरा किया था।

Materialistic Interpretation of History: इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का आरम्भ यह अभिधरणा है कि सामाजिक संरचना का मूल आधार जीवन क्रम को बनाये रखने के लिए किया गया है। प्रत्येक समाज में संपत्ति का वितरण और समाज का वर्गो में विभाजन इस बात पर निर्भर रहता है कि उत्पादन क्या और कैसे होता है और उत्पाद

का वितरण किस प्रकार होता है। इतिहास की भौतिकवादी धारणा के अनुसार प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन या राजनैतिक कारण के मूलभूत कारण मनुष्य के मस्तिष्क में था। अंतिम सत्य और न्याय के प्रति मनुष्य की अर्न्तदृष्टि में अथवा ईश्वरेच्छा में नहीं बल्कि उत्पादन और विनिमय के साधनों में हुए परिवर्तन में निहित होता है। उनकी तलाश दर्शन, विचारधारा या विश्वात्मा की यात्रा में नहीं, आर्थिक स्थितियों में करनी पड़ती है। यद्यपि कभी-कभी सामाजिक, आर्थिक अधिरचना के विभिन्न तत्व जैसे धर्म, राजनीति, संस्कृति, भूगोल आदि भी इतिहास के विकास के प्रभावशाली भूमिका निर्वाह करते दिखलाई परते है, परन्तु भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार आर्थिक तत्वों की भूमिका ही निर्णायक होती है।

वस्तुत: मनुष्य जैसा होता है वैसा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है और वह कैसा है इसका सीधा संबन्ध उसके उत्पादन स्तर से जुड़ा होता है। मनुष्य का स्वभाव उसकी भौतिक स्थितियों पर निर्भर करता है, जो निश्चित ही उत्पादन प्रणाली पर आधरित होती है। इसलिए मनुष्य का इतिहास में अध्ययन मनुष्य के कथन, कल्पना या अभिधारणाओं से नहीं प्राप्त होता न ही इस आधार पर कि मनुष्य के संबंध में मनुष्य ने क्या सोचा, क्या परिकल्पना की अथवा क्या धरणा बनायी, बल्कि मनुष्य का अध्ययन उन प्राकृतिक आधारों से आरम्भ होता है जिनका निर्माण स्वयं मनुष्य करता है। अत: मार्क्सवादी दर्शन वास्तविक क्रियाशील मनुष्य के जीवन से प्रारंभ होता है और उसके वास्तविक जीवनक्रम का अध्ययन करता है। हेगल की धारणा के ठीक प्रतिकूल मार्क्स का मानना है कि जीवन चेतना से निर्धारित नहीं होता अपितु चेतना जीवन से निर्धारित होती है और जीवन का तात्पर्य होता है- भौतिक परिस्थितियों को बेहतर बनाने में लगा हुआ मनुष्य।

जाहिर है कि मनुष्य परिस्थिति को भले पैदा करता हो वह स्वयं परिस्थितिजन्य भी होता है। मार्क्स के अनुसार इतिहास मृत तथ्यों का संग्रह नहीं है और नहीं मनमाने ढंग से देखे गए अतीत के प्रमाणों का जमघट, बल्कि वर्ग संघर्ष के माध्यम से निरंतर विकासोन्मुख मानव समाज के अध्ययन का आधार ही इतिहास है। इस प्रकार मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या ने एक ऐसी पद्वति प्रदान की है जिसके माध्यम से मनुष्य के ज्ञान द्वारा उसके अस्तित्व को समझने के स्थान पर उसके अस्तित्व के माध्यम से उसके ज्ञान को समझा जा सकता है। उल्लेखनीय तथ्य है कि मार्क्सवाद के अनुसार मनुष्य का अस्त्वि निर्भर करता है उन भौतिक परिस्थितियों पर जिनका निर्माण स्वयं मनुष्य के द्वारा होता है।

मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की धरणा के अनुसार मानव समाज की प्रगति खास नियमों के आधार पर होती है और प्रगति का तात्पर्य होता है भौतिक स्थितियों में द्वंद्वात्मक के कारण होने वाला परिवर्तन उत्पादन स्तर एवं विनिमय के स्वरूप के आधार पर मार्क्स ने यह बताया कि समाज अपनी वर्तमान स्थिति में पहुंचने के लिए कई स्थितियों से गुजर चुका है और इसे अपने विकास के पूर्णत्व की अवस्था में पहुंचने हेतु कुछ और अवस्थाओं से गुजरना होगा। उत्पादन के साधनों और मानव समाज की संरचना के बीच सम्बंध दिखलाते हुए मार्क्स में इतिहास का युग विभाजन किया। जब मनुष्य के पास उत्पादन के साधनों के नाम पर उसके दो हाथ और पत्थर के कुछ अनगढ़ हथियार थे तब अतिरिक्त उत्पादन कुछ भी नहीं होता था।

यह समाज आदिम साम्यवादी समाज था जिसमें विभेद तथा शोषण की कोई संभावना नहीं थी। इस आदिम साम्यवादी समाज में मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति संभव नहीं थी। उन्होंने अपने भौतिक जीवन को बेहतर बनाने का प्रयास प्रारम्भ किया। पशुओं को पालतु बनाया छोटे पैमाने पर कृषि कार्य प्रारंभ किया। स्पष्ट है कि उत्पादन

के साधनों में परिवर्तन हुआ व अतिरिक्त उत्पादन होने लगा। इस अतिरिक्त उत्पादन ने स्वामित्व की प्रथा को जन्म दिया। निजी स्वामित्व से ही जुड़ी हुई संस्था विवाह की शुरुआत हुई। आदिम साम्यवादी समाज में परिवार का जन्म हुआ। समाज स्पष्टत: दो वर्गो में विभाजित हो गया–एक वर्ग भू-स्वामी वर्ग था और दूसरा वर्ग खेतों पर काम करनेवाला दासों का वर्ग था। मार्क्स ने इस बदले हुए समाज को भू-स्वामी और दास-प्रथा वाला समाज कहा है। धीरे-धीरे कृषि के साथ विभिन्न प्रकार के व्यवसायों का प्रादुर्भाव हुआ। समाज में शिल्पियों और कारीगरों के वर्ग बने। वस्तु विनिमय का स्थान मुद्रा विनिमय ने लिया और भू-स्वामियों द्वारा अपने-अपने परिवार तथा निजी सम्पत्ति की रक्षा के लिए राज्य तथा पुलिसतंत्र का निर्माण किया। सम्पत्ति के अधिकार को दैवी अधिकार माना जाने लगा। व्यवसाय तथा व्यापार के विकास में समाज ने विचौलियों को भी जन्म दिया इस तरह उत्पादन के साधनों और वितरण प्रणाली में आमूल परिवर्तन कुटीर उद्योगों के विकास के साथ हुआ। समाज ने कई आर्थिक और राजनीतिक संस्थाएँ के दिग्दर्शन किए। मार्क्स ने इस समाज को सामंतवादी समाज कहा है। सामंतवादी समाज में भी अर्धदासों और सामंतो के बीच और फिर सामंतो तथा मध्यमवर्ग के बीच संघर्ष की स्थिति सदैव बनी रहती थी औद्योगिक क्रांति ने सशक्त मध्यम वर्ग को जन्म दिया। जिसके विकास के मार्ग में सामंती विशेषाधिकार एक बहुत बड़ी बाधा थी। यही कारण है कि औद्योगिक क्रांति के बाद राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ। राष्ट्रीय सरकारें बनी ताकि नवीन आर्थिक व्यवस्था तेजी से विकसित हो सके। यह अर्थिक व्यवस्था मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था थी। अपने ''दास कैपिटल'' में मार्क्स ने पूंजीवाद के अंतर्विरोधों को उद्धरित किया है।

मार्क्स की समकालीन व्यवस्था में पूंजीपति राजनीतिक सत्ता का उपयोग आर्थिक लाभ के लिए करते हैं, राज्य के संविधान, सरकार, प्रशासन, पुलिसतंत्र आदि राज्य के विभिन्न अवयवों का उपयोग पूंजीपतियों की रक्षा के लिए किया जाता है। लेकिन बदली हुई भौतिक परिस्थितियों में विशाल कारखानों के निर्माण के कारण मजदूरों में राजनीतिक चेतना का विकास होता है। वे संगठित होते हैं और संगठित होकर क्रांति करते हैं ताकि राज्य सत्ता पर अधिकार कर उत्पादन के समस्त साधनों को और वितरण प्रणाली को राज्य के अधीन कर दिया जाय। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत उत्पादन का कार्य एक मात्र पूंजीपतियों के हितों को ध्यान में रखकर ही बाजार में उत्पादों का वितरण होता है। सर्वहारा के द्वारा राजसत्ता पर अधिकार कर लिए जाने के बाद उत्पादन और वितरण पूरे समाज की आवश्यकता को ध्यान में रखकर होता है। सर्वहारा वर्ग राजसत्ता का उपयोग पूंजीवाद के अवशेषों को विनष्ट करने में करता है। मार्क्स के अनुसार यह समाजवादी व्यवस्था होती है जिसे लेनिन ने सर्वहारा के अधिनायकवाद की संज्ञा दी। जिस प्रकार पूंजीवादी अवस्था में पूंजीपति राजसत्ता का उपयोग शोषण बनाये रखने, अपने मुनाफे के लिए, अतिरिक्त मूल्य तथा अतिरिक्त श्रम पर अधिकार बनाये रखने हेतु करते हैं, उसी प्रकार सर्वहारा के अधिनायकवाद में राजसत्ता का उपयोग वर्ग विभेद तथा शोषण को समाप्त करने के लिए किया जाता है। धीरे-धीरे जब वर्गों के अस्तित्व समाप्त हो जाते है, पूंजीवाद के अवशेषों को विनष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार मार्क्स ने एक ऐसे समाज की परिकल्पना की। जो उत्पादन का सर्वोच्च स्तर होगा। उत्पादन की प्रचुरता सभी प्रकारा के अभाव को समाप्त कर देगी और ऐसा समाज राज्यविहीन और वर्ग विहीन समाज होगा।

दरअसल मार्क्स इसी साम्यवादी समाज के तार्किक लक्ष्य तक पहुंचने के लिए भौतिकवाद का सहारा लेते हैं। परिवर्तन तथा विकास के एकमात्र नियामक तत्व के रूप में आर्थिक पक्ष को ही प्रमुखता देने के कारण इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की आलोचना की जाती है। दरअसल भौतिक तत्व इतिहास के निर्माण और विकास में महत्वपूर्ण

तो अवश्य होते हैं लेकिन एकमात्र निर्णायक तत्व नहीं। मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धांत की भी आलोचना इस आधार पर की जाती है- इससे आवश्यक वर्ग विद्वेष, पारस्परिक घृणा और प्रतिस्पर्धा पैदा होती है। लेकिन इन आलोचनाओं के बावजूद मार्क्स को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उसने इतिहास को मानव समुदायों के द्वारा समवेत रूप में किए गए कृत्यों का लेखा-जोखा बनाया। इतिहास से न केवल धर्म, अध्यात्म, प्रजाति, संस्कृति आदि के अनावश्यक महत्व को कम किया बल्कि उसने इतिहास के क्षेत्र में मानव समुदाय के खासकर उत्पादक वर्गों के कार्य-कलापों तक विस्तृत किया। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या स्पष्ट रूप में इसका इजहार करती है कि इतिहास निर्माण किसी नायक अथवा ईश्वर के द्वारा नहीं हुआ है बल्कि इतिहास के वास्तविक निर्माता वे उत्पादक वर्ग हैं, जिनसे उत्पादन का स्तर और उसकी शक्तियों का निर्धारण होता है।

मार्क्सवादी इतिहास की व्याख्या ने यह स्पष्ट किया कि यदि समाज का विकास कुछ नियमों के आधार पर होता है तो मनुष्य यत्नपूर्वक उन नियमों में अनुकूल परिवर्तन कर परिस्थिति को अपने अनुकूल ढ़ाल सकता था। इस प्रकार मार्क्स ने इतिहास में व्यक्ति के महत्व को सुस्थापित कर उसे समष्टी से जोड़ा और प्रतिपादित किया कि भौतिक परिस्थितियां ही इतिहास की मुख्य नियन्ता हैं। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या इतिहास दर्शन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण सीमा चिन्ह मानी जाती है। इससे इतिहास अध्ययन की पद्धति और क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का काम किया। अब इतिहास सही अर्थों में वैज्ञानिक हुआ सार्वभौमिक बना और यह वर्तमान को सुखद भविष्य में बदलने का हथियार भी बना।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या आर्थिक तत्वों पर अत्यधिक जोर देने के कारण आलोचना का पात्र तो बनी लेकिन इतिहास को वैज्ञानिक पद्धति और दृष्टिकोण को समुन्नत बनाने का श्रेय भी इसे दिया जाता है। यदि इतिहास की इस पद्धति में आर्थिक तत्वों का सामंजस्य उन तत्वों के साथ बढ़ाया जाय तो इतिहास के निर्माण में कमोबेश भूमिका का निर्वाह करते हैं, तो नि:संदेह इसे इतिहास की सर्वोत्तम वैज्ञानिक व्याख्या माना जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रजनी पाम दत्त: ''इण्डिया टूडे''।
2. रंजीत गुहा: ''सब्अल्र्टन स्टडीज''।
3. एलन मिकसिनन्स बुड, जॉन बेलमि: ''इन डिफेन्स ऑफ हिस्ट्री: मार्क्विसज्म एण्ड पोस्ट मोडरनिज्म एजेण्डा''।
4. नरहरि कवि राज: ''वाट इज पोस्ट मोडरनिज्म''।
5. मृदुला मुखर्जी (पुस्तक समीक्षा) ''स्टडीज इन हिस्ट्री'' नई दिल्ली खण्ड-I जनवरी-जून 1979।
6. विपिन चंद्र: ''भारत का स्वतंत्रता संघर्ष'' नई दिल्ली
7. शेक असी बी.: ''हिस्ट्री इटस थ्योरी एण्ड मेथड'' 1978।
8. बुद्ध प्रकाश: ''इतिहास दर्शन'' 1968
9. गोविन्द चंद्र पांडे: ''इतिहास: स्वरूप एवं दर्शन'' 1973।
10. सुमित सरकार: ''आधुनिक भारत'' नई दिल्ली।
11. काल मार्क्स: ''ए कन्ट्रीब्यूशन टू द फास्टर क्रिटिक एण्ड पॉलिटिकल इकोनामी।''

सभ्यता के विनाश में इतिहास की भूमिका

डॉ. प्रियरंजन

(एम. ए., बेट) मगध वि. वि. बोधगया

इतिहास आदमी के इंसान बनने के जद्दोजहद का दस्तावेज है। यह अतीत से अनुप्राणित होता है। हमारे पास अतीत की जो गौरव-गरिमा है, रौनक हैं, उपलब्धियां व विफलताएं हैं उसे स्मरण कर इतिहास वर्तमान के संदर्भ में इससे हमारा मार्गदर्शन कराता है तथा भविष्य के प्रति सतर्क रखने का प्रयास करता है। प्रख्यात इतिहासकार E.H.CARR के शब्दों में इतिहास वर्तमान और अतीत के बीच अनन्त परिसंवाद है तथा इतिहासकार का मुख्य कार्य वर्तमान के संदर्भ में अतीत की मानव वृत्तियों का एक मानव अर्थात इतिहासकार विवेचन करता है तब इतिहास की रचना होती है।[1] इतिहास इस ओर प्रयासरत है कि वह मनुष्य को उसके अतीतग्रस्तता से अतीत के प्रति जो उसे मोह है उससे निकालकर इतिहास बोध करावे जिससे वह शिक्षा लेकर अपने स्वर्णिम अतीत को पुनः प्रतिष्ठित कर सके।

इतिहासकार के इतिहास की सामग्री अतीत कालिक ऐतिहासिक तथ्य होते हैं तथा इतिहासकार वर्तमान का प्रतिनिधित्व करता है। इतिहास को हम जिस रूप में लेंगे उसका प्रतिफल वैसा ही होगा। इतिहासकार E.R.Elton ने The practice of History में लिखा है-History is what the historian writes.[2] यह हम पर निर्भर करता है कि हम उसका उपयोग किस तरह करते हैं। कोई भी वस्तु स्वयंमेव अनुपयोगी नहीं होती। अणु शक्ति तथा न्यूक्लीय शक्ति की उपयोगिता असंदिग्ध है परन्तु मनुष्य ने आज इसका दुरुपयोग मानव विनाश के लिए किया तो यह अनुपयोगी हो गया है। इतिहास का दुरुपयोग भी महत्वाकांक्षी व्यक्तियों ने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए किया है। इतिहास व्यावहारिक स्तर पर हमारे लिए शुभेच्छा हो सकती है और यह प्रयोग करने वाले पर निर्भर करता है कि वह इसे उपयोगी बनाने का या दुरुपयोगी बनाने का प्रयास करता है। इतिहासकार Henery Ford ने लिखा है कि "History is bunk" तथा महान जर्मन दार्शनिक Hegal ने इसे अनुपयोगी करार देते हुए कहा है इतिहास में शिक्षा के लिए कुछ भी तत्व नहीं है।[3] उपरोक्त धरणाएँ निराधार नहीं है। इतिहास को कोई व्यक्ति ही लिपिबद्ध करता है। वह व्यक्ति अपने परिवेश से प्रभावित रहता है। इतिहासकार पर देश, काल, जन्म, भावना, का प्रभाव पड़ता है। वह अपने को निरपेक्ष ढंग से इतिहास की रचना कर ही नहीं सकता। अतीत की पुनर्रचना पूर्णतः वस्तुनिष्ठ ढंग से हो ही नहीं सकती। इतिहासकार को अतीत के वर्णन-क्रम में अपने परिवेश के साथ-साथ अतीत के पात्रों से भी जूझना पड़ता है। उस समय की जीवन मूल्यों पर उसके दृष्टिकोण तथा मूल्यांकन प्रभाव डालते हैं। हम कह सकते हैं कि इतिहासकार अतीत के जुलूस का एक हिस्सा होता है, जो विभिन्न चौराहों रूपी कालक्रम से गुजरता हुआ विभिन्न परिवर्तित होते हुए रंग-रूपों में आज (वर्तमान)तक पहुंचा है। इस जुलूस में इतिहासकार एक धुंधली आकृति के रूप में अपने-आपको पेश करता है। अर्थात इतिहास का रंग-रूप आकार विभिन्न समय में बदलता रहता है, तब इतिहासकार कैसे निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ हो सकता है। इतिहासकार ऐसे ही में गलती, भ्रातियाँ, तथा पूर्वाग्रहों का शिकार होकर गलत इतिहास की रचना करता है तथा अपने दृष्टिदोष का दुरुपयोग मानवजाति के लिए करने लगता है।

जब कभी इतिहास की रचना स्वार्थपूर्ति, किसी खास-वर्ग की संतुष्टि, जाति-प्रजाति या क्षेत्रीयता को ध्यान में रखकर की जाती है तो वह इतिहास मानव जाति के लिए अभिशाप सिद्ध होता है। सम्राट के संरक्षण में रचा गया

इतिहास, धनलोलुपता के लिए की गई रचना, राजनीतिक प्रभाव, धर्म से ली गई प्रेरणा तथा वर्ग-विशेष के हितों के लिए रचा गया इतिहास, इतिहास को अनुपयोगी बना देता है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कार्ल मार्क्स ने की है परंतु उसकी भी वैज्ञानिक व्याख्या एक विशेष वर्ग सर्वहारा की हित-पूर्ति को पुर्नस्थापित करने का प्रयास करता है। वर्ग-विद्वेष का जन्म होता है और यह सामाजिक तंत्र को विषाक्त कर देता है। पूंजीपति वर्ग का विनाश, उत्पादन के साधनों पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण, वर्ग-विहीन समाज की स्थापना, शोषण रहित एवं समता पर आधरित मानव समाज की स्थापना मार्क्स के वैज्ञानिक इतिहास का लक्ष्य है पर इन सबके पीछे एक-प्रमुख उद्देश्य साम्यवाद की स्थापना भी रही। महात्मा गांधी ने वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्ग-सहयोग का विचार देकर आदर्श समाज की स्थापना की बात की। इतिहास जब कभी भी वर्ग-विशेष के लिए लिखा गया इसका दुरुपयोग ही हुआ है। इतिहासकार Kaling Wood लिखते हैं कि इतिहास प्रासंगिक होता है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि इसकी रचना वर्ग-विशेष या स्वयं की स्वार्थ सिद्धि के लिए की जाय।

इतिहास जब प्रतिशोध तथा प्रतिस्पर्धा की भावना से लिखा जाता है तब अनायास इसका दुरुपयोग होने लगता है। यह कटु सत्य है कि इतिहास मनुष्य के स्वर्णिम अतीत के वर्णन के साथ-साथ उसके युद्धों, षड्यंत्रों, विनाश, पतन का भी उल्लेख करता है जिससे मानवजाति में प्रतिस्पर्धा तथा प्रतिशोध की भावना बलवती हो जाती है जो संपूर्ण राष्ट्र एवं मानवजाति के लिए घ्रातक सिद्ध होती है। हिटलर का उत्थान अगर द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण बना तो बिस्मार्क द्वारा फ्रांस से ऐल्सेस लोरेन को जबरन अधिकार कर लेने से प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। अरब तथा यहूदियों के बीच संघर्ष का कारण, अतीत का स्मरण ही रहा है। भारत-चीन के बीच सीमा-विवाद, भारत-पाकिस्तान के बीच कूटनीतिक असफलता का प्रमुख कारण दोनों देशों की अतीतग्रस्तता ही रही है। जाहिर है कि यदि इतिहास का प्रयोग शत्रुता एवं प्रतिस्पर्धा की भावना को जीवित रखने के लिए किया जाता है तो इतिहास का दुरुपयोग होने लगता है। आधुनिक काल में रामजन्म भूमि बाबरी मस्जिद विवाद में दोनों संप्रदायों हिन्दू और मुसलमान के बीच परस्पर अविस्वास का जो माहौल है उसमे इतिहास का दुरुपयोग किया गया है। राष्ट्र संघ की स्थापना उच्च आदर्शों के लिए की गई थी, परंतु संकुचित राष्ट्रवाद की भावना ने उसे मृतप्राय कर दिया। हिगेल ने अपनी रचनाओं से जर्मन राष्ट्रवाद, जर्मन प्रजाति की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयास किया जिसके परिणामस्वरूप वहां के लोगों में जातीय अहं की भावना का विकास हुआ जिसका खामियाजा जर्मनी को द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में भुगतना पड़ा।

कभी-कभी इतिहास की रचना इतिहासकार अपने विचारों के प्रचार माध्यम के लिए करता है। वह तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर तथा व्यक्तिगत द्वेष तथा भावनाओं को प्रधानता देकर इतिहास की रचना करता है। ऐसे इतिहासकारों की सर्वत्र निंदा होनी चाहिए जो मानव-समुदाय को अपने कार्य-कृत्तियों के द्वारा विनाश की ओर ढकेल रहे हैं। इतिहास की वस्तुनिष्ठता का परित्याग कर उसे अतिरंजित करने का प्रयास इतिहास की उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगाता है, तब इतिहास इतिहास नहीं रहकर कोरा प्रचार माध्यम बन जाता है।

इतिहास समसामायिक होता है,[5] अर्थात् यह वर्तमान के माध्यम से अतीत के सारे सवालों का उत्तर देता है। प्रत्येक वर्तमान इतिहासकार अतीत का अवलोकन अपनी दृष्टि से करता है। अतीत को वह उस रूप में नहीं देखता जिस रूप में वह था। वह अपने मस्तिष्क में अतीत का निर्माण कर अपने ढंग से उसे अमली जामा पहनाता है, परिणामतः इतिहास समसामयिक नहीं रह जाता है। वह इतिहासकार के मस्तिष्क से प्रभावित से होता है। जो जैसा चाहता है वैसे उसको प्रस्तुत करता है। दास प्रथा किसी युग की सामाजिक आवश्यकता थी पर अब वह अभिशाप मानी जाती है। इसका चित्रण अब सामाजिक संघर्ष को जन्म देता है।

इतिहास का अध्ययन विचारधाराओं का अध्ययन है।[6] जब तक सामान्य लोगों की उपेक्षा कर, कुछ लोगों की गौरव-गरिमा के लिए इसका प्रयोग किया जायगा तब-तब इसका दुरुपयोग होगा। प्रत्येक घटना, परिघटना,

मानव-व्यापार का उद्‌गम स्थल, मानव मस्तिष्क ही होता है। हिगेल, मार्क्स, क्रोचे आदि इतिहासकारों ने अपने हाथों से इतिहास की उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। रूसो के मानव स्वतंत्रता सम्बंधी सिद्धांत, मार्क्स की आर्थिक-व्याख्या, हिगेल का द्वंद्ववाद आदि सिद्धांतों का उपयोग ऐतिहासिक अवधारणाओं के विकास में होता रहा है, परंतु इसके प्रतिफल में विशेष वर्ग का हित सिद्ध हुआ है, जिसने मानव- मानव के बीच की दूरी को चौड़ा कर दिया है।

इतिहास की पुनर्रचना प्रत्येक युग में सामाजिक आवश्यकतानुसार होती है। एक ही ऐतिहासिक तथ्य की उपयोगिता तथा अनुपयोगिता विभिन्न युगों में बदलती रहती है। उपनिवेशवाद, दास-प्रथा किसी युग की सामाजिक आवश्यकता थी, परंतु अभी ये अभिशाप मानी जाती है। इस प्रकार मानव जीवन की रुचियाँ तथा निहित स्वार्थो का स्वरूप प्रत्येक युग में बदलता है अर्थात् युगचक्रवाद इतिहास को प्रभावित करता है। पर इससे ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठा पर प्रश्नचिन्ह लगता है। इतिहासकार की दृष्टि अलग- अलग ढंग की हो जाती है तथा तथ्यों की प्रामाणिकता असंदिग्ध हो जाती है। व्यवहार में इसका लगातार दुरुपयोग किया जाता है। इतिहास की धरा अतीत से लेकर वर्तमान तक भविष्य की ओर उन्मुख होती है तब इतिहास की उपयोगिता वैज्ञानिक समझदारी पर ही आधारित रह जाती है।

इतिहास जब कभी धर्म तथा जाति से प्रभावित होता है तब इसका दुरुपयोग होने लगता है। कई इतिहासकार अपने को इससे मुक्त नहीं रख पाते हैं। मध्यकालीन भारतीय इतिहास लेखन में सर-यदुनाथ सरकार जहां औरंजेब की धार्मिक-नीति तथा मंदिरों को तोड़ने के कारण उसकी कटु आलोचना करते हैं, वहीं फारूकी उसके इस कार्य को औचित्यपूर्ण ठहराते हैं।[7] इसी प्रकार के इतिहास की दुरुपयोगिता अरब तथा यहूदी इतिहासकारों तथा प्रोटेस्टेंट तथा कैथोलिक इतिहासकारों में पाए जाते हैं।

इतिहास में जब महानायकों के चित्रण को प्रधनता देकर समाज को गौण करके नियतिवाद को मान लेने पर तथा भविष्यवाणी करने पर इतिहास का दुरुपयोग होता है। इससे समाज में गलत नीतियों का विकास होता है। जीवन-मूल्यों में ह्रास आता है तथा नए मानदंड स्थापित करने में कठिनाई होती है। रचनाएं व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती हैं, परंतु व्यक्तित्व से इतिहास को दूषित नहीं करना चाहिए।[8]

इतिहास में सामान्यीकरण के द्वारा भी इसका दुरुपयोग होता है। किसी विशेष घटना को हम प्रमुखता देकर उसका उपयोग हमलोग सभी प्रसंगों में करने लगते है। मुहम्मद बिन तुगलक के द्वारा किया गया राजधानी परिवर्तन उस समय ठीक नहीं था पर हम आज के सन्दर्भ में बिना अन्वेषण किये उसे नियति मान लेना एक खतरनाक प्रवृत्ति को जन्म देता है। सामान्यीकरण से व्यक्ति में उदासीनता बढ़ती है। उत्साह कम पड़ने लगता है तथा व्यक्ति कुपमंडुकता की ओर जाने लगता है। इतिहास यहां अनुपयोगी होने लगता है।

इतिहास में पुनरावृत्ति की अवधरणा भी खतरनाक बात है। यह लोगों के मन में भ्रांतियाँ, संशय, शक पैदा कर देता है। कोई भी दो घटना इतिहास में समान नहीं होकर समरूप होती है। उसके परिवेश पात्र बिल्कुल अलग-अलग होते हैं। तो फिर इसे हम इतिहास की पुनरावृर्त्ति कैसे कह सकते हैं। इतिहास में पुनरावृत्ति की यह धारणा व्यक्ति को अंधेरे रास्ते पर अग्रसर करती है।

इतिहास में नियतिवाद की धारणा इतिहास को दुरुपयोगी बनाती है। यह व्यक्ति को अकर्मण्य बनाता है तथा उसे कमजोर बना देता है। मार्क्स की भौतिकवादी नियतिवाद अवधारणा को मान लेने पर रूस में 1917 की क्रांति नहीं होती, वहां के लोग हाथ पर हाथ रखकर क्रांति की प्रतीक्षा करते रहते। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में हम आज भी शायद गुलाम ही रहते और किसी अवतार की प्रतीक्षा करते रहते। इतिहास में नियतिवादी से की गई भविष्यवाणियां इतिहास को दुरुपयोगी बना देती है।

इतिहास जब कभी गलत व्यक्तियों, गलत परिवेश में पड़ा है तब-तब स्वार्थी व्यक्तियों ने इसका उपयोग अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए किया है। इतिहास का यह दुरूपयोग उसकी उपादेयता को असंदिग्ध कर देता है। इसलिए प्रसिद्ध इतिहासकार Ernest Rennar ने लिखा है-

"To forget and I will venture to say to get one's history wrong are essential elements in the making of a nation and thus the advance of historical studies is often in danger to the nationality." परंतु क्या मानव कल्याण के लिए इस विशाल इतिहास को हम भूला सकते है। यह सत्य है कि इतिहास को भूलने वाले राष्ट्र का कोई भविष्य नहीं होता है। अतीत के इस चित्रण का उपयोग हम भविष्य निधि के रूप में करेगें। अतीत के बिना वर्तमान अपूर्ण और अज्ञेय है। जरूरत है वर्तमान सन्दर्भ में वैज्ञानिक इतिहास लेखन के क्रम में वस्तुनिष्ठा का समावेश हो, व्यक्तिगत स्वार्थो की तिलांजलि दी जाए, किसी वर्ग-विशेष, क्षेत्र, राष्ट्र की भावना से हम ऊपर उठकर इतिहास का निर्माण करें, तब इतिहास के दुरुपयोग को रोक सकते है। अतीत के प्रति लगाव अच्छी बात है पर उसे इतिहास के द्वारा जानकर भी उसकी प्राप्ति के लिए कुछ भी प्रयास नहीं करना इतिहास की आत्मा के साथ परिहास करना है। Renier ने लिखा है, "All past is my past and I want to recapture for my own satisfaction." कोई भी विषय स्वंय अनुपयोगी नहीं होता है इसे अनुपयोगी या दुरुपयोग बना दिया जाता है। इतिहासकार G.R. ELTON का भी कथन है- "History is what the historian writes."

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ई. एच. कार: ''हावट इज हिस्ट्री'' पृ. 30।
2. जी. आर. एल्टन: ''द प्रैक्टिस ऑफ हिस्ट्री'' पृ. 167।
3. शेक अली: ''हिस्ट्री इटस थयोरी एण्ड मेथड'' पृ. 22।
4. कालिंगवुड: ''आइडिया ऑफ हिस्ट्री'' पृ. 32।
5. उपरोक्त पृ. 130।
6. उपरोक्त पृ. 175।
7. फारूकी: ''औरंगजेब एण्ड हिज टाइम्स'' पृ. 164।
8. रेनियर: ''हिस्ट्री, इटस परपस एण्ड मेथड्स'' पृ. 249।

ब्रिटिश भारत में कृषक आन्दोलन की समीक्षा

अश्विनी कुमार

रिसर्च स्कॉलर (नेट) पटना वि. वि. पटना

भारतीय किसान, जिनमें मध्यकाल के अन्त तक जरा भी आक्रामक प्रवृत्ति नहीं थी, अंग्रेजी शासत काल के दौरान उनमें आक्रामक सैनिक प्रवृत्तियाँ बड़ी तेजी से प्रकट होने लगीं। सत्ता के पारम्परिक सम्बन्धों में जो परिवर्तन लाये गये थे उनके कारण कृषि व्यवस्था को अनेक प्रसासकीय परिवर्तनों से गुजरना पड़ा और ब्रिटिश नियमों के अन्तर्गत व्यवस्थित होना पड़ा। अब पूर्ववर्ती परिस्थितियों की तुलना में किसानों का अधिक शोषण होने लगा और किसान इसे चुपचाप बर्दाशत न कर सके। नये अंग्रेजी कानूनी प्रावधानों के आगे पारम्परिक मान्यताओं से अनुमोदित ''बैधता'' की संकल्पना समाप्त हो गयी, फलत: किसानों में संशय व्याप्त हो गया। पारम्परिक मान्यताओं से समर्थित कुछ ऐसे रिवाज भी खत्म हो गये जिनसे किसी प्राकृतिक या सामाजिक विपदा के समय किसानों को तत्कालिक सहायता मिल जाया करती थी। अब वे लोभी शोषणकर्ताओं के खुलेआम शिकार बन जाते। इन कानूनी परिवर्तनों को बड़ी कठोरता एवं निर्ममतापूर्वक लागू किया जाने लगा। ऐसी स्थिति में अत्यन्त सरल एवं भीरू किसान भी समय-समय पर निराशाओं का शिकार होकर सशस्त्र विद्रोह में उठ खड़ा होता।

इसके बजाय कि कृषक संधर्षों को कालक्रमानुसार खण्डों में बाँट कर मनचाही तिथियों के चुनाव के आधार पर वर्गीकृत करें- बेहतर तो यह होगा कि कृषक संघर्ष को कुछ ऐसे स्पष्ट चरणों में बाँट कर विश्लेषित कर सकें कि एक चरण की अपेक्षा अगले क्रमिक चरण में क्या-क्या गुणात्मक परिवर्तन हुए, यह स्पष्ट हो जाए। कुछ ऐसे क्रमिक चरण जिनसे हमारे इस उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है-इस प्रकार हैं;

(1) 1855 से 1875 ई0 तक अर्थात संथाल विद्रोह से लेकर दक्कन के दंगे तक। इस काल में कई महत्वपूर्ण आन्दोलन हुए जो अनेक विशिष्ट क्षेत्रों में विशिष्ट परिस्थितियों में उत्पन्न हुए थे। संयुक्त रूप से इस काल में हुए आंदोलनों की चारित्रिक विशेषता यह थी कि वे औपनिवेशिक परिस्थितियों में उत्पन्न किये गये तीव्रगति परिवर्तनों के प्रति कृषक जन-समुदाय को प्रतिक्रिया थी।

(2) 1917 से 1935 तक अर्थात महात्मा गांधी के चम्पारण सत्याग्रह से लेकर अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना तक। इस कालावधि के आन्दोलनों में यद्यपि अनेक नयी प्रवृत्तियां मौजूद थीं किन्तु तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं - जैसे- (क) स्वतंत्रता आन्दोलन से किसानों का घनिष्ठ जुड़ाव और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति सहज सम्पर्क। (ख) स्वतंत्र या अर्द्ध-स्वतंत्र किसान संगठनों की स्थापना होने लगी थी जिनमें किसान सभा भी एक थी। (ग) मोपला विद्रोह जैसे कुछ आन्दोलनों से यह स्पष्ट होने लगा कि कृषक संघर्षों का प्रभाव सीमा एक पारम्परिक समाज में कितनी आंकी जा सकती है जबकि कुछ आदिम भावनाएं ही कृषक संघर्षों को एक आत्मघाती अंजाम तक पहुंचाने के लिए काफी हैं।

(3) 1946-50 ई० वह काल है जब तेभागा और तेलंगाना संघर्षों की शुरुआत हो गई और अनेक शक्तिशाली वैचारिक दर्शनों के साथ राजनीतिक दल उन्हें सहयोग-समर्थन और नेतृत्व देने आ पहुँचे थे। यह इस देश के

कृषक संघर्षो के इतिहास में सर्वथा नयी बात थी।

उपरोक्त वर्णित तीनों क्रमिक चरणों की विशषताओं के आधार पर भारत में हुए संघर्षों को चार अवस्थाओं में बांटा जा सकता है:-

प्रारम्भिक अवस्था- इस अवस्था के आन्दोलनों की प्रवृत्ति पूर्वकालिक व्यवस्था की पुन: स्थापना की ओर उन्मुख रही तथा उनका चरित्र सशस्त्र-मंडली या टोलीनुमा रहा। कैथलीन गफ के अनुसार 1857 के युग के पूर्व कई जन विद्रोह हुए। उन विद्रोह की उपरोक्त प्रकृति का कारण यह था कि अकसर ऐसे विद्रोहों में ब्रिटिश पूर्व शासन की पुन: स्थापना की भावना थोड़ा भी समावेश पाकर उसे जन विद्रोह मान लिया है जबकि पुन: स्थापना का योग ऐसे विद्रोहों में किसी न किसी रूप में ढूंढ़ लेना कतई मुश्किल नहीं है। 18वीं शताबदी के अन्त और 19 वीं शताबदी के प्रारम्भ की अवधि में अंग्रेजों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर अपनी राजनीतिक पकड़ को अधिकाधिक कसने लगे थे। पुराने राजा, सरकार और जमीन्दार का शासन ठप्प पड़ गया और वे अंग्रजों की इच्छा पर बने हुए थे, लेकिन इस स्थिति को चुपचाप सहन करने के लिए कई छोटे-बड़े जमींदार एवं सरदार तैयार न थे, वे अंग्रेजों को अपना नया स्वामी स्वीकार नहीं करते और उनके खिलाफ उठ खड़े होते थे। ऐसी स्थिति में किसान भी अपनी विद्रोही स्वामी को समर्थन देने के लिए उठ खड़े होते थे। किसानों का विद्रोह में उठ खड़ा होना मुख्यत: अपने स्वामियों के प्रति पारंपरिक वफादारी की भावना से प्रेरित होता था या नये विदेशी स्वामियों के प्रति स्वाभाविक भय और आंशका से। अगले क्रम में हुए ऐसे विद्रोहों में नेता और समर्थक दोनों को अंग्रेजी शासन का अनुभव हो चुका था और वे वखूबी जान गये थे कि ये नये शासक अपनी लोभी प्रवृत्ति के कारण शोषण की किस सीमा तक जा सकते हैं, कैस-कैसे तरीके अपना सकते हैं।

1769-74 ई० के बीच बीरभूम के राजा ने विद्रोह किया। इस प्रकार, बजीर अली ने 1799 ई० में बनारस तथा गोरखपुर के विद्रोह का नेतृत्व किया, 1803 से 1805 के बीच पोलिगरों के विद्रोह, बेल्लारी, अनन्तपुर, कुद्दापह, कुर्नूल तथा उत्तरी अर्काट सहित भारत के अनेक स्थानों पर फूट पड़े। 1824 में देसाई के उतराधिकारियों ने किल्लूर में विद्रोह का नेतृत्व किया।

कैथलीन गफ ने 1765 से 1857 ई० के बीच 29 ऐसे किसान विद्रोहों को ढूंढ़ा है जिनकी प्रवृत्ति पुन: स्थापना की ओर प्रेरित रही थी। इस तथ्य का एक अन्य दिलचस्प पक्ष यह है कि इन 29 किसान विद्रोहों में से कम-से-कम 12 का नेतृत्व आदिवासी कबीलाई सरदारों ने किया था। संपूर्ण राष्ट्रीय जनसंख्या के आदिवासी जनसंख्या के छोटे अनुपात के हिसाब से संघर्षों और विद्रोहों में उनकी भागीदारी का अनुपात कहीं अधिक था।

इन तथ्यों के प्रकाश में यह भी स्पष्ट होता है कि आदिवासी जनसमुदायों में विद्रोह की क्षमता एवं प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक थी। प्रकटत: जैसा कि धनाग्र ने अपने अध्ययन में स्पष्ट किया की आदिवासी समुदायों में अपनी पहचान के प्रति एक अत्यन्त प्रगाढ़ जुड़ाव की भावना मौजूद थी जिसने उन्हें ठीक उसी प्रकार जनआन्दोलनों के लिए प्रेरित किया जिस प्रकार राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना ने राष्ट्रीय आन्दोलनों को प्रेरणा दी। इसके साथ-साथ, इस कालावधि में हो रहे परिवर्तनों के प्रति आदिवासी जनसमुदायों की सूझ-बूझ भारतीय समाज के अन्य समूहों की तुलना में निश्चित रूप से काफी कम थी। आदिवासी जनसमुदाय ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञातिक रूप से, किसी सामाजिक व्यवस्था की अधीनता की भूमिका, या ताबेदारी की भूमिका में कभी संलग्न नहीं रहे अत: बाहरी लोगों के प्रति उनमें स्वाभाविक संदेह एवं भय था। जमीन की नयी बन्दोवस्ती के बारे में उन्हें ठीक जानकारी न मिल सकी और इस अज्ञानता ने भी उन्हें परिस्थितियों का शिकार बना दिया। आदिवासी जनसमुदाय दुहरे शोषण का शिकार बनते रहे - शासन एवं प्रशासन के साथ-साथ बाहरी भारतीय क्षेत्र से आये बनियों, सूदखोरों एवं ठेकेदारों को - जिन्हें वे अपनी भाषा से ''दिकू'' कहते हैं।

बंगाल में सबसे पहले फूट पड़े किसान आन्दोलन थे – संन्यासी विद्रोह एवं जागीर विद्रोह। इसके पश्चात् लगभग सम्पूर्ण 19वीं शताबदी में आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुए विद्रोह एवं आन्दोलन बंगाल की सरजमीं पर छाये रहे। संन्यासी एवं जागीर विद्रोहों को दस्यु गिरोह की श्रेणी में वर्गीकृत किया जा सकता है। यदि हम टोब्सबॉउस द्वारा प्रतिपादित इस अवधरणा को स्वीकार कर लें कि ऐसे गिरोह शासन की दृष्टि में अपराधी एवं लुटेरे होते थे जबकि स्थानीय कृषक समुदाय में उनकी छवि नायकों एवं बहादुर उद्धारकर्ताओं जैसे होती थी। कथरीन गाउ ने इस श्रेणी के अन्तर्गत उत्तरी भारत के उन ठगों को भी शामिल दिया है जो 1650 ई० से 1830 ई० के बीच सक्रिय रहे। गाउ द्वारा इस श्रेणी में शामिल किये गये अन्य विद्रोहों के प्रमुख हैं, नरसिम्हा रेड्डी के नेतृतव में कुर्नूल में हुआ 1845–47 का विद्रोह, मिदनापुर एवं दक्षिण–भारत के कल्लार आदिवासियों का विद्रोह। 19वीं शताब्दी के अन्तिम काल तक अंग्रेजों द्वारा बंगाल को प्रशासनिक व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध नहीं हो पाया था। अत: बंगाल के तत्कालीन संकट के कारक भी इसमें जोड़े जा सकते हैं। वार्षिक क्रियाकलापों का कागज़ी विवरण भी अंग्रेजाी शासन अभी पूरा न कर पायी थी कि 1770 के भयानक अकाल ने बंगाल की एक तिहाई जनसंख्या को मृत्यु का ग्रास बना दिया। नौकरी से छूट गये भूतपूर्व सैनिकों ने गिरोहबन्द लूटपाट शुरू कर दिया था। अन्यायपूर्ण शासन एवं उसे सहयोग करने वालों को ये गिरोह अपना निशाना बनाते थे।

धर्मिक विचार दर्शन ने भी इन गिरोहबन्द विद्रोहियों को नैतिक समर्थन दिया कि अंग्रेजों के विदेशी शासत के खिलाफ लड़कर धार्मिक कृत्य जैसा पवित्र कार्य कर रहें हैं। अत: इन विद्रोहियों को भी पूर्वकालिक शासन की पुन: स्थापना की दिशा में उन्मुख कहा जा सकता है क्योंकि वे अपने–नये शासनकर्ताओं को इसलिए उखाड़ फेंकना चाहते थे ताकि पुरानी खामियों को पुन: स्थापित कर सके।

भारत में, अंग्रेजी शासन के इतिहास का प्रारम्भिक काल, सशस्त्र–गिरोह बन्द विद्रोहियों के कारनामों से भरा पड़ा है। लेकिन जैसे–जैसे अंग्रेजी शासन ने राजनीतिक–प्रशासनिक शक्तियों की मोर्चाबन्दी शुरू की तथा पुलिस एवं सैन्य शक्ति के सुसज्जित होती गयी। सशस्त्र – गिरोहबन्द विद्रोह का तरीका कृषक समाजों में अपना प्रभाव खोने लगा। फिर भी, कभी–कभी कुछ दुर्गम भौगोलिक (तराई) क्षेत्रों में, रॉबिनहुड जैसे नायक उत्पन्न हो जाते थे जो सशस्त्र गिरोहबन्द प्रकार के विद्रोह का नेतृत्व करते थे। ऐसे विद्रोहों में, (1922–3ई०) सीताराम राजू के नेतृत्व में हुआ विद्रोह काफी महत्वपूर्ण है। किसी खास शिकायत को दूर किये जाने की मांग को लेकर किसानों में बड़े पैमाने पर हुए आन्दोलन बहुत कम थे और ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल के कुछ समय बाद ऐसे आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। ऐसे दो महत्वपूर्ण विद्रोहों में पगला 1783 में रंगपुर में हुआ था जो भूराजस्व की वसूली–अधिकारी तेबी सिंह के खिलाफ उठ खड़ा हुआ था और दूसरा 1789 ई० में हुआ था जिसमें विष्णुपुर तथा बीरभूमि के सशस्त्र–गिरोहबन्द किसानों ने कुछ समय के लिए एक इलाके को अंग्रेजी शासन से स्वतंत्र भी कर लिया था। रंगपुर का विद्रोह, काश्तकारों तथा छोटे भूस्वामी–किसानों द्वारा शुरू किया गया जिसको देवी सिंह के आदमियों ने अत्यन्त नृशंस–क्रूरता का प्रदर्शन करके दबाया था। अपने युग के हिसाब से यह विद्रोह अपनी प्रकृति और उद्देश्य में बिल्कुल भिन्न था किन्तु इस काल के बाद ऐसे विद्रोहों की बारम्बारता बढ़ने लगी।

प्रारम्भिक किसान संघर्षों में कुछ बेहद स्पष्ट लक्षणों को पहचान लेना संभव हौ वे इस प्रकार हैं:–

इस काल के विद्रोहों में पूर्वकालिक स्वामियों को पुन: स्थापित करने की एक स्पष्ट भावना अन्तर्निहित रही जो मुगल–काल में हुए विद्रोहों से काफी कुछ मिलता–जुलता है खासकर नेतृत्व के मामले में ये पूरी तरह सामन्तवादी थे। स्वदेशी भावनाओं से परिपूर्ण, ऐसे विद्रोहों में पूर्वकालिक शासकों को पुन: स्थापित करने की भावना बलबती रही तथा विद्रोह, अंगेजों एवं उनके भारतीय पिछलग्गुओं के खिलाफ प्रेरित थी।

पुरातन भावनाओं ने इन विद्रोहों में एकत्व की भाव अवश्य पैदा दिया परन्तु वे निर्णायक भूमिका नहीं निभा सके। इन विद्रोहों का संगठनात्मक ढांचा अत्यन्त कमजोर और बिखराव-ग्रस्त था और इस कमी की पूर्ति कभी साम्प्रदायिक पहचान तो कभी धार्मिक भावनाओं या कभी किसी वैचारिक आधार द्वारा की जाती थी। अत: इन विद्रोहों में वैचारिक आधार की बड़ी अस्पष्ट धारणाएं दीख पड़ती है।

मजबूत संगठन की कमी तथा वैचारिक आधर का अभाव रहने के कारण ये संघर्ष स्वत: स्फूर्त विद्रोह बन कर रह गये। इसके बावजूद कुछ विद्रोह काफी समय तक सक्रिय रूप से चलते रहे। जैसे संन्यासी विद्रोह।

प्रारम्भिक काल के कृषक विद्रोह, आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों के बदलाव से उत्पन्न निराशोन्मत प्रतिक्रिया थी और जन अंसतोष की कुंठित भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए हिंसा सर्वथा उपयुक्त माध्यम था। शिकायतों एवं अपेक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए दूसरे साधनों, माध्यमों का विकास होना अभी बाकी था। ब्रिटिश अस्त्र-शस्त्रों की अपराजेय क्षमता का मिथक अभी स्थापित न हुआ था इसलिए भारतीय जनचेतना को यह आशा थी कि सशस्त्र-विद्रोहों द्वारा उन्हें उखाड़ फेंका जा सकता है।

कुछ खास भारतीय क्षेत्र सशस्त्र विद्रोहों के लिए अधिक प्रजननशील साबित हुए जैसे बंगाल एवं बिहार, किन्तु इस सशस्त्र विद्रोहों का हस्र, सम्पूर्णत: उन विस्थापित और असंतुष्ट सामन्तों-सरदारों के दृष्टिकोण पर निर्भर था जो इन विद्रोहों को नेतृत्व प्रदान किया करते थे। भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा स्थानीय सामाजिक सांस्कृतिक छवि के प्रति प्रगाढ़ जुड़ाव की भावनाओं ने भी विद्रोहों के फूट पड़ने में समुचित योगदान दिया था।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मजिद एच. सिद्दीकी : ''एगेरियन अनरेस्ट इन नार्थ इण्डिया द यूनाइटेड प्रोविन्स 1918-22'' नई दिल्ली 1978।
2. सी. सी. मेहता : ''द पिजेन्टरी एण्ड नेशनलिज्म'' नई दिल्ली
3. माधव देसाई : ''द स्टोरी ऑफ बारदोली'', अहमदावाद 1957।
4. सुनील सेत : ''एगेरियन स्ट्रगल इन बंगाल'' नई दिल्ली 1972।
5. ए. आर. देसाई (स.) : ''पिजेन्ट स्ट्रगल इन इण्डिया''।
6. एम. ए. रासेल : ''ए हिस्ट्री ऑफ द ऑल इण्डिया किसान सभा'' कलकत्ता 1974।
7. मास्टर हरि सिंह : ''पंजाब पिजेन्ट्स इन फ्रीड्म स्ट्रगल'' खण्ड 2 नई दिल्ली 1984।
8. विपिनचंद : ''भारत का स्वतंत्रता संघर्ष'' नई दिल्ली।

कश्मीर समस्या का अंतर्राष्ट्रीयकरण के दुष्परिणाम

सुशील कुमार

रिसर्च स्कॉलर, पटना वि. वि. पटना

सन् 1947 में प्राप्त आजादी के बाद से अब तक भारत जिन समस्याओं से निरंतर संघर्ष करते आ रहा है वे समस्याएं क्षेत्रीय, भाषाई, राजनैतिक, आर्थिक या अन्य किसी तरह की क्यों न हो वर्षों से भारतीय राष्ट्र को कमजोर करती आ रही हैं। कश्मीर समस्या उनमें से एक ऐसी ही समस्या है जो आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है, जिसे हल करने के तमाम प्रयास बिफल साबित हुए हैं। इस बिशुद्ध राजनैतिक समस्या का समाधन भारत-पाक द्विपक्षीय वार्ता के द्वारा ही संभव है और इसे राजनीतिक रूप से ही हल किया जाना चाहिए।

अपनी प्राकृतिक सुन्दरता और राजनीतिक सामरिक महत्व के लिए मशहूर कश्मीर आज पूर्णरूप से आतंक और उग्रवादी कार्यवाहियों से त्रस्त है। अनुपम सौन्दर्य के लिए विख्यात कश्मीर में चारों ओर आतंक का ही बोलबाला है। समस्या के मूल कारणों की छानबीन से पता चलता है कि राजनैतिक कुचक्र, पड़ोसी देश पाकिस्तान द्वारा आतंकवाद का समर्थन तथा पश्चिमी देशों के निहित राजनीतिक स्वार्थ इसे हवा दे रहे हैं।

कश्मीर अपनी भौगोलिक स्थिति और सामरिक दृष्टि से एक महवपूर्ण क्षेत्र है। कश्मीर की सीमाएं चीन, पाकिस्तान, अफगानिस्तान एवं कजाकिस्तान (पूर्व सोवियत संघ) को स्पर्श करती हैं। इस दृष्टि से भी इसका महत्व बढ़ जाता है। कश्मीर में ही गिलगिट् एवं सियाचीन ग्लेसियर जैसे भू-भाग भी हैं जिनका सामरिक महत्व सीमावर्ती देशों के लिए बहुत की अधिक है।

ब्रिटिश सरकार सरकार के साथ आजादी सम्बधी हुए समझौते के अनुसार कश्मीर एक संप्रभु राज्य की स्थिति में आ गया था, जिसका विलय भारत में उसके शासक हरिसिंह के साथ स्वतंत्र भारत की सरकार के साथ एक समझौता जो 27 अक्टूबर, 1947 को संपन्न हुआ, के द्वारा हो गया। समझौता वार्ता चल ही रही थी कि 22 अक्टूबर 1947 को पाकिस्तान द्वारा कवायली हमला कर कश्मीर की स्थिति में नया मोड़ ला दिया गया। हरि सिंह के साथ हुए समझौते के बाद कश्मीर भारत का जब अभिन्न अंग बन गया तब भारत सरकार ने कार्यवाई शुरू की, पाकिस्तान की इस अनुचित हमले को विफल किया और कवायलियों को भागना पड़ा।

पाकिस्तान को प्रारंभ से ही यह प्रस्ताव नापंसद था और उसकी मंशा कश्मीर को पाकिस्तान में शामिल करने की थी उसकी प्राप्ति के लिए पाकिस्तान ने हर संभव तरीके, यहाँ तक कि अनैतिक तरीकों से भी कश्मीर को हड़पने और भारत की अंतर्राष्ट्रीय छवि को घूमिल करने का प्रयास करता रहा है। कश्मीर का बहाना लेकर ही 1947, 1965 और कारगिल युद्ध भी हुए जिसमें हर बार उसे पराजित होना पड़ा। अत: अपमानित होकर वह बदले की भावना से

लगातार कश्मीर के नवयुवकों को गुमराह करता रहा है और अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें अस्त्र-शस्त्र तथा धन मुहैया कराता रहा है। इस प्रकार वह इनको प्रशिक्षित कर भारत के खिलाफ एक प्रॉक्सी वार या छद्म युद्ध लड़ते हुए इसके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करके भारत की क्षेत्रीय अखण्डता पर लगातार खतरा पैदा करता रहा है।

कश्मीर समस्या का अंतर्राष्ट्रीकरण : कश्मीर के मामले को अंतर्राष्ट्रीय मंच पर बार-बार उठाने के पीछे पाकिस्तान का एकमात्र उद्देश्य भारत की धर्मनिरपेक्ष छवि को बदनाम कर, इसके सांप्रदायिक सौहार्द की नीति को बदनाम कर, अस्थिरता को बढ़ावा देना है। अपने इस ध्येय की पूर्ति के लिए कश्मीर के मामले को पाकिस्तान कभी अंतर्राष्ट्रीय मंचों, सम्मेलनों तो कभी मानवाधिकार के उल्लंघन के नाम पर तो कभी जनमत-संग्रह के नाम पर उठाता रहा है। अपने इस उद्देश्य पूर्ति मे वह इस्लाम का खुलकर दुरुपयोग भी करता रहा है। कश्मीर के लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए पाकिस्तान राजनायिक माध्यम से संयुक्त राष्ट्रसंघ में जनमत संग्रह की मांग भी वह हमेशा से करता रहा है जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक कमिटी ने जनमत संग्रह को खारिज कर चुकी है। विलय सम्बंधी प्रस्ताव को भी वह चुनौती देता रहा रहा है। इस सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्रसंघ की भूमिका भी काफी विवादास्पद रही है। संयुक्त राष्ट्रसंघ पश्चिमी ताकतों अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन के दबाव में आकर हमेशा कश्मीर के मुद्दे पर एकतरफा पाकिस्तान पक्षीय रूख रखता आया है। 1 जनवरी 1948 को भारत ने पहली बार संयुक्त राष्ट्रसंघ में पाकिस्तान के खिलाफ शिकायत दर्ज कर यह मांग की कि पाकिस्तान घुसपैठियो को मदद दे रहा है। उसकी इस कारवाई को बंद कराया जाय।

सुरक्षा परिषद ने 22 जनवरी 1948 को यह व्यवस्था दी कि कश्मीर की समस्या भारत और पाकिस्तान का आपसी विवाद है जिसमें जम्मू व कश्मीर भी एक तीसरा पक्ष है। यहाँ पर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने ऐसा निर्णय कर मामले को और उलझाने का कार्य किया। उसने आक्रमणकारी देश पाकिस्तान की हरकत पर पाबन्दी लगाने के बजाय उसको परोक्ष रूप से इस विवाद का अंतर्राष्ट्रीकरण करने के लिए प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त परिषद ने अपनी व्यवस्था के जरिये परोक्ष रूप से पाकिस्तान का दावा कश्मीर पर मान लिया। इस तरह परिषद ने कश्मीर के मामले को भारत की जमीन पर पाकिस्तानी शह पर हमला का मामला न रह कर पाकिस्तान से भी संबंधित मामला बना दिया गया।

21 अप्रैल, 1948 को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने यह प्रस्ताव पारित किया कि एक पाँच सदस्यीय आयोग की नियुक्ति की जाय। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में पाकिस्तान को कबायली घुसपैठियों की मदद देना बन्द करने तथा घुसपैठियों को हटने के बाद भारतीय सेना की वापसी तथा वहाँ शांति व्यवस्था स्थापित करने के लिए जनमत संग्रह करवाने की बात की। इसका स्पष्ट मतलब था कि कश्मीर का भारत में विलय सम्बंधी समझौता के मामले में परिषद ने पाकिस्तान का पक्ष ले लिया अर्थात सुरक्षा परिषद् ने पाकिस्तान के जनमत संग्रह की मांग को मान्यता दे दी तथा कश्मीर के विलय समबंधी समझौते को नजरअंदाज कर दिया। परिषद् ने जनमत संग्रह की मांग को विवाद का मुख्य मुद्दा मानकर पाकिस्तान की खुली मदद की। विलय सम्बंधी प्रस्ताव से अति उत्साहित और लार्ड माउन्बैटन की चाल में फँसकर तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने जनमत संग्रह की बात कही थी यह स्वीकृति राष्ट्रसंघ के प्रति भारत की आस्था थी जिसका दुरुपयोग राष्ट्रसंघ ने पाकिस्तान के पक्ष में करना शुरू कर दिया। यह बात उस समय की परिस्थिति के अनुरूप हो सकती थी परन्तु इस परिस्थिति में इस मांग की कोई औचित्य नहीं रहा। अपने पाकिस्तानी पक्ष के कारण राष्ट्रसंघ ने नई परिस्थिति का सृजन कर दिया। यही कारण था कि बाद में संयुक्त राष्ट्रसंघ की कश्मीर मामले पर गठित एक कमिटी ने भी अपनी रिपोर्ट में जनमत संग्रह से इंकार कर इस मसले को सदा के लिए समाप्त कर दिया। पाकिस्तान इसके बाद भी इसे उठाता रहता है।

अमेरिकी नीति : कश्मीर समस्या को हवा देने में अमेरीका का पाकिस्तान को समर्थन प्राप्त है। कुछ समय पहले अमेरिकी सीनेटर डैनियल पैट्रिक ओपनिहन ने दावा किया कि कश्मीर मामले में अमेरिकी नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। लेकिन अमेरिकी सहायक विदेशमंत्री रॉबिन राफेल का यह कथन कि कश्मीर समस्या अफगानिस्तान के समान है तथा अमेरिका कश्मीर के भारत में विलय को विवादस्यद मानता है, अमेरिका की परिवर्तित विदेशनीति का संकेत देता है। ज्ञातव्य है कि प्रारंभ से ही अमेरिकी समर्थन पर पाकिस्तान सुरक्षा परिषद् में इस मामले को उठाता रहा है। अमेरिका भी न सिर्फ पाकिस्तान को अस्त्र-शस्त्र पहुँचाता रहा है बल्कि एक तरह से यदा-कदा कश्मीर में मानवाधिकार की बात उठाकर भारत के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप करने का प्रयास भी करता रहा है। कश्मीर के पीछे अमेरिका का एक मात्र उद्देश्य कश्मीर के गिलगिट का भू-भाग प्राप्त करना है, जिससे पूर्व साम्राज्यवादी ब्रिटेन की तरह वह भी एशिया की निगरानी कर सके। यही कारण है कि अमेरिकी प्रस्ताव हमेशा कश्मीर के विभाजन को लेकर रहा है जिस विभाजित भू-भाग को अमेरिका पाकिस्तान से प्राप्त कर सके।

ब्रिटेन द्वारा कश्मीर समस्या का अंतर्राष्ट्रीकरण : प्रारंभ से ही कश्मीर के मामला पर ब्रिटेन पाकिस्तान का समर्थत करता रहा है। ब्रिटेन के समर्थन से ही पाकिस्तान संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मंचों से कश्मीर के प्रश्न को उठाता रहा है। इस संबंध में ब्रिटेन हमेशा से अमेरिकी नीति का पिछलग्गू बनता रहा। कश्मीर उग्रवादी नेता कश्मीर में उग्रवाद का संचालन ब्रिटेन स्थित अपने मुख्यालय से कर रहे थे और ब्रिटेन की सरकार परोक्ष रूप से कश्मीर में आतंकवाद को बढ़ावा दे रही थी। घाटी में सुरक्षा बलो द्वारा बरामद किए गए हथियारों पर अमेरिका, चीन व ब्रिटेन के भी मुहर लगे मिले हैं।

कश्मीर समस्या का चीन द्वारा अंतराष्ट्रीयकरणः कश्मीर के सम्बंध में पाकिस्तान की रणनीति में चीन भी शामिल दीखता है। चीन अपने उस भू-भाग को जो पाकिस्तान आधिकृत कश्मीर में 2050 वर्गमील का भू-भाग है बनाए रखना चाहता है ताकि इसकि वापसी की बात नहीं उठे। भारत को अस्थिर करने के लिए चीन पाकिस्तान को कश्मीर के मुद्दे पर धन, अस्त्र-शस्त्र एवं अपने समर्थन से अपरोक्ष सहायता करता रहा है।

कश्मीर पर इस्लामिक शासकों का पाकिस्तान को समर्थन : कश्मीर मामले पर इस्लामिक शासक पाकिस्तान को समर्थन करते रहे हैं, यद्यपि इसमें इन देशों की जनता अपने शासकों के साथ नहीं है। 29 अप्रैल 1993 को इस्लामिक देशों के सम्मेलन में इनके संगठन ने पाकिस्तान को समर्थन देते हुए सदस्य देशों से आग्रह किया कि वे भारत पर कश्मीर में जनमत संग्रह करवाने के लिए दवाव डालें। सम्मेलन की समाप्ति के बाद तत्कालीन पाकिस्तानी विदेश मंत्री फारूक लेघारी ने इसे महत्वपूर्ण कदम बताते हुए कश्मीर के प्रश्न को फिलीस्तीन, दक्षिण अफ्रिका और बोस्निया के मुद्दे के समकक्ष बताया। स्पष्टतः पाकिस्तानी नीति को इस्लामिक शासकों का समर्थत प्राप्त है जिसके बल पर वह इस मुद्दे को यदा-कदा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तूल देने का प्रयास करता रहा है।

कश्मीर मुद्ददे पर यूरोपिय बैठक में विचार-विमर्श : नवम्बर, 1993 में कश्मीर के प्रश्न पर यूरोपिय संसद के साम्राज्यवादी सदस्यों के निमंत्रण पर ब्रूसेल्स में एक गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें प्रतिनिधियों ने इसके समाधान के लिए अपने सुझाव दिए। सम्मेलन में पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी एवं जे० के० एल० एक० के प्रतिनिधियों ने कश्मीर के मुद्दे पर भारत की बड़ी आलोचना की।

कश्मीर मामले के अंतर्राष्ट्रीयकरण से दूरगामी परिणामः कश्मीर के मामले को यदा-कदा विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मंचों से उठाया जाना ही यह स्पष्ट करता है कि यह कितना गंभीर रूप धारण कर चुका है। कश्मीर के

पीछे विभिन्न देशों के अपने-अपने स्वार्थ हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, चीन, फ्रांस जैसे देश अपने-अपने स्वार्थ के लिए पाकिस्तान की पीठ थप-थपाते हैं। कश्मीर घाटी में आतंकवादी कार्यवाहियों को बढ़ावा देकर पाकिस्तान भारत में अस्थिरता पैदा करना चाहता है, वह भारत को विकसित राष्ट्र के रूप में परिणत होते नहीं देख सकता है, देश में व्याप्त धर्मिक सौहार्द्र को नष्ट करना चाहता है। इन सबके लिए वह आए-दिन कोई न कोई शगूफा छोड़ता रहता है।

भारत के लिए सबसे अधिक समस्या साम्राज्यवादी देशों की शह पर इस्लामिक शासक पैदा करते हैं। ये पाकिस्तान को मुस्लिम राष्ट्र और भारत को हिन्दू राष्ट्र मानते हैं। उनका झुकाव भी पाकिस्तान के प्रति ज्यादा है। परिणामत: वे पाकिस्तान द्वारा चलाए गए भारत की अंतर्राष्ट्रीय छवि को नुकसान पहुंचाते है। भारत एवं पाक के बीच सफल कूटनीतिक संबंधों में भी सबसे बड़ी बाधा कश्मीर समस्या ही रही हैं। जिसका प्रमाण है कि आज तक जितने भी कूटनीतिक वार्ता हुई सभी असफल हो गई हैं। पाकिस्तान भारत में आंतकवादियों को प्रवेश कराने से लेकर उन्हें प्रशिक्षित कराने तक का कार्य कर रहा है। दोनों देश एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप का दौर जारी रखे हुए हैं। कश्मीर के मुद्दे पर अमेरिका, चीन, फ्रांस व ब्रिटेन द्वारा पाकिस्तान को अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन देने के कारण भारत का कूटनीतिक सम्बंध इन देशों के साथ उतार-चढ़ाव का रहता आया है। भारत यदा-कदा कश्मीर मुद्दे पर पाकिस्तान का साथ देने के लिए इन देशों की कड़ी आलोचना करता रहा है। विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर इन देशों के साथ भारत के मतभेद उभर कर सामने आए हैं जिनसे अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ भी प्रभावित होती हैं।

कश्मीर समस्या के अंतर्राष्ट्रीयकरण से भारत एवं पाकिस्तान के बीच अविश्वास, असहयोग एवं घृणा का माहौल बन गया है जिसका प्रभाव दोनों देशों के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन पर पड़ रहा है। सांप्रदायिक सौहार्द्र नष्ट हो रहे हैं, भाई-भाई एक-दूसरे के दुश्मन बनते जा रहे हैं दोनों देश एक-दूसरे के यहाँ कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम नहीं आयोजित कर पा रहे हैं। एक-दूसरे के यहाँ निर्बाध रूप से नहीं आ जा सकते है। एक-दूसरे के यहाँ शांतिपूर्वक खेल-कूद का आयोजन नहीं करवा पर रहे हैं।

कश्मीर का मामला राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पेचीदा स्वरूप अख्तियार कर लिया है। आजादी के 60 वर्षों के बाद भी यह मामला ज्यों का त्यों पड़ा हुआ है। विश्व की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ इस मामले में शुरू से रुचि लेती आ रही हैं। कश्मीर का मामला भारत और पाकिस्तान के बीच अत्यंत ही संवेदनशील मामला हो गया है जिसका समाधन दोनों को आपस में मिल बैठकर करना चाहिए तभी वे विश्व राजनीति में अपनी पृथक छवि बनाकर महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. लाल बहादुर : ''द मुस्लिम लीग''।
2. ''हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेन्ट ऑफ पाकिस्तान'' 4 खण्ड(पाकिस्तान हिस्टारिकल सोसाईटी)।
3. मेहता एण्ड पटवर्धन : ''द कम्यूनल ट्रिंगल''।
4. सी. एच. फिलिप्स : ''द पार्टिशन ऑफ इण्डिया''।
5. विपिन चंद : ''नेशनलिज्म एण्ड कम्युनलिज्म इन माडर्न इण्डिया'' नई दिल्ली।
6. स. सुमन्त, संजय चौधरी : ''कारगिल का सच''।
7. संसदीय बहस : लोकसभा 5 अगस्त 1998।

इतिहास लेखन की व्यथा कथा

पुष्पा कुमारी

पूर्व के दशकों ही नहीं शताब्दियों में इतिहास लेखन को जिस तरह राजनीतिक, धर्मिक, आर्थिक तथा अन्य वैचारिक दबावों के तहत तोड़ा-मरोड़ा जाता रहा है उससे इतिहास को उसके सच्चे स्वरूप में पाठकों के सामने आने की असमर्थता की एक व्यथा कथा चली आ रही है। इस तरह की विकृति को सबसे ज्यादा प्रभावी ढंग से सामने लाने में उपनिवेशवादी शासकों की भूमिकाएं सबसे ज्यादा हानिकारक रही हैं। खासकर भारतीय इतिहास को इस तरह विकृत करके पाठकों के सामने पेश करना जिससे ऐसा लगे कि भारत पर ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन एक वरदान के रूप में आया है और इसका विरोध करने वाले भारत में जनवाद की शिक्षा, आधुनिक शिक्षा के प्रसार और पश्चिम यूरोप में स्वरूप ग्रहण करने वाली तकनीकी विकास प्रक्रिया, ब्रिटिश शासक भारत को प्रदान कर रहे हैं, जिन्हें राष्ट्रहित में नहीं समझा जाना चाहिए। अपनी इन धारणाओं के आधार पर उपनिवेशवादी इतिहासकार भारत में ब्रिटिश शासन को भारतीयों के लिए वरदान और अंग्रेजों के ''व्हाइटमन वर्डेन'' कहा। हालांकि डी.डी. कोस्मवी, रजनी पाण्डव आदि जैसे इतिहासकारों ने प्राचीन और अधुनिक भारत के इतिहास लेखन की व्याख्या एक भिन्न ढंग से की, जिसका आधार ऐतिहासिक तथ्यों के सम्यक वैचारिक विश्लेषण को आधार बना कर किया गया। क्योंकि सील आदि जैसे साम्राज्यवाद पक्की इतिहासकारों ने जब भारत को एक राष्ट्र के रूप में स्वीकृति से इंकार करके मात्र एक भौगोलिक क्षेत्र की संज्ञा दी तब उन्होंने भारत का एक इतिहास होने की संभावना को ही नकार दिया और यह स्थापित करने का प्रयास किया कि भारत का अगर कोई इतिहास है तब वह ब्रिटिशराज द्वारा निर्मित इतिहास ही है, क्योंकि यह श्रेय अंग्रेजों को ही जाता है कि उन्होंने एक बहुभाषाई, बहुधर्मिकता और बहु-संस्कृतियों को एक का एक राज्य के रूप में भारत को सामने लाया। उनके इन तर्कों का सटीक जवाब डी.डी. कोसम्बी ने इतिहास की परिभाषा करते हुए दिया और लिखा कि अगर इतिहास का मतलब कुछ बड़ी-बड़ी लड़ाइयों और कुछ अहंकारी नामों का वर्णन है तब भारत का प्राचीन इतिहास नहीं है।[1] मगर इतिहास का मतलब यह देखना है कि किसी राज्य के शासन काल में किसान हल को उपयोग करते थे या नहीं, तब भारत का प्राचीन इतिहास है।[1] इस प्रकार इतिहास के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए कोसंबी ने इतिहास को परिभाषित करते हुए कहा–उत्पादन की सामाजिक शक्तियों और उत्पादन के संबंध के बीच खराबी से होने वाला श्रमिक विकास ही इतिहास है।[2] इस प्रकार कोसम्बी ने इतिहास लेखन की एक नई विध को सामने लाया।

आधुनिक भारत के इतिहास लेखन में एक नई मगर वैज्ञानिक पद्धति का प्रवेश मूलत: कार्ल मार्क्स के उन लेखों से हुआ जिसको उन्होंने 1853 से 1859 के बीच लिखा था और जो न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में डी. डी. कोसम्बी, प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन की भूमिका में देखा जा सकता है।

मार्क्स ने भारत में ब्रिटिश राज के प्रभाव का द्वंद्वात्मक विश्लेषण करते हुए लिखा कि ब्रिटिश राज को भारत में दोहरी भूमिका विध्वंसक, और सृजनात्मक का निर्वहन करना था। मगर उसने सिर्फ पहली भूमिका का यानि विध्वंसक भूमिका को ही निभाया। मार्क्स ने लिखा है कि-यह सत्य है कि भारत में अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए इंग्लैण्ड निकटतम स्वार्थों से प्रेरित होकर काम कर रहा था और उन स्वार्थों की पूर्ति का उसका तरीका मूर्खतापूर्ण था। लेकिन सवाल यह है कि क्या एशिया की जनता बिना एक सामाजिक क्रांति किए अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकती है? अगर नहीं तो इंग्लैण्ड ने चाहे जो भी अपराध किए उसने इस क्रांति को लाने में इतिहास के अनभिवेत साधनों का काम किया।[2] मार्क्स के इस विश्लेषण का अर्थ यह लगाना कि मार्क्स ब्रिटिश शासन के प्रति पक्षधरता प्रकट कर रहे हैं, गलत है, क्योंकि उन्होंने आगे लिखा कि ब्रिटिश राज के विध्वंसकारी कृत्यों के द्वारा सामाजिक क्रांति के लिए जो वस्तुनिष्ठ स्थितियां पैदा हुई हैं उनको आगे बढ़ा सृजनात्मक कार्यों

को ब्रिटेन नहीं कर सकता क्योंकि यह कार्य व्यापक तौर पर उपनिवेशवाद विरोधी चरित्र वाला होगा। इस कारण इन कर्तव्यों की पूर्ति का दायित्व भारत की जनता पर स्वयं है और यह दो ही स्थितियों में पूरा हो सकता है–या तो भारतीय जनता औपनिवेशिक सत्ता को समाप्त कर एक समाजवादी जनवादी शासन को भारत में कायम करे या इंग्लैंड का सर्वहारा वर्ग वर्तमान पूंजीवादी शासन को हरा कर स्वयं सत्ता में आ जाए। मार्क्स की इन स्थापनाओं की वैधानिकता को साम्राज्यवाद परस्त इतिहासकार और राजनेता आज भी उपेक्षित करते दिखते हैं। विडंबना यह है कि भारत के प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह जब इंग्लैण्ड के एक विश्व- विद्यालय में दिए गए अपने भाषण में भारत में ब्रिटिश राज की परोपकारिता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि भारत पर शासन कर इंग्लैण्ड ने भारत के प्रति उपकार किया, क्योंकि इसी ने आधुनिक शिक्षा और जनवाद का पाठ भारतीयों को पढ़ाया। अज्ञानता की इस तह तक जाने वाले व्यक्ति का राजनीतिक कद चाहे कितना भी उच्च क्यों न हो वह आधुनिक भारत के इतिहास लेखन की व्यथा कथा को उसकी अनिवार्य नियति बना रहा है। वह नहीं समझ सकता कि 1813 में जब ईस्ट इण्डिया कंपनी का भारत के व्यापार पर इजारेदारी की समाप्ति ब्रिटिश संसद द्वारा की गई और विभिन्न व्यापारिक कंपनियों को भारत में व्यापार की अनुमति मिल गई तब उनकी जरूरतें थी कि भारत में आधुनिक शिक्षा में खास कर अंग्रेजी में शिक्षित लोगों को तैयार कर बड़े पैमाने पर लिपिकों की जरूरत को पूरा किया जाए। यही कारण था कि जब ईस्ट इंडिया कंपनी का चार्टर नवीकरण के लिए ब्रिटिश संसद के सामने रखा गया तब संसद ने यह शर्त रखी कि कंपनी भारत में शिक्षा पर एक लाख रूपया खर्च करे। 1823 के आते-आते संसद ने कंपनी को निर्देशित किया कि शिक्षा पर भारत में खर्च की जाने वाली राशि को अंग्रेजी शिक्षा पर खर्च किया जाय। इन वस्तुगत स्थितियों से हटकर ब्रिटिश राज को एक वरदान मानने की प्रवृति अगर अभी भी किसी राजनेता या इतिहासकार में मौजूद है तो उसका 1. कार्ल मार्क्स ''भारत में ब्रिटिशराज'' और अन्य लेख जो न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में छपे हैं (विभिन्न वर्षों में) चिंतन राष्ट्र विरोधी हैं। 2. उपरोक्त आधुनिक भारत के इतिहास लेखन को एक वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित विश्लेषणों को सामने लाने में रजनी पाम दत्त की बड़ी भूमिका रही है। आज का भारत (1) में उन्होंने भारत में ब्रिटिश राज का वर्ग विश्लेषण किया है। अंग्रेजों द्वारा भारत की पराजय के कारणों का वैधानिकता पर आधारित विश्लेषण किया है, साम्राज्यवाद की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन करते हुए उन्होंने उसके शोषण के तकनीकों में आए बदलावों को रेखांकित किया है और सर्वोपरि तौर पर भारत की जनता के साम्राज्यवाद विरोध के आधार पर विभिन्न वर्ग शक्तियों की एकता के आधार भूमि का पता लगाया है। एक ऐसा भारत जिसने ईस्ट इंडिया कंपनी को इस कारण नहीं आकृष्ट किया था कि भारत इंग्लैण्ड में निर्मित मालों का विस्तृत बाजार था बल्कि इस कारण आकृष्ट किया था कि भारत में निर्मित मालों को यूरोप के बाजारों में बेचकर कंपनी अकूत मुनाफा अर्जित कर सकती थी। मगर क्यों कर हुआ कि मात्र 50 वर्षों की अल्पावधि में ही यह सारी प्रक्रिया ही उलट गई और भारत इंग्लैण्ड में बने मालों का बाजार बन गया। इसी तरह अंग्रेजों द्वारा भारत की पराजय के कारणों पर अपने वैज्ञानिक शोध परक विचारों को रखते हुए रजनीपाम दत्त ने स्पष्ट किया है कि अंग्रेजों के भारत आने का काल ऐसा काल था जो विभ्रम का था क्योंकि भारत में वर्णिक पूंजी का संकेंद्रण इस हद और ऊंचाई तक में गया था कि भारत अब वर्णिक पूंजी से औद्योगिक पूंजी के उत्पादन संबंधों में संक्रमण करने के कगार पर खड़ा था। ऐसा काल विभिन्न वैचारिकताओं के बीच अंतर द्वंद्व का होता है और सामाजिक आर्थिक शक्तियां एक विभ्रम की पीड़ा झेलती है। ठीक उसी समय भारत में आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के प्रतिनिधि अंग्रेज भारत में आए और उन्होंने अपने अपेक्षाकृत ज्यादा उन्नति उत्पादन के साधनों और हथियारों के बल पर भारत पर आक्रमण किया, इसके स्वाभाविक विकास प्रक्रिया को अवरूद्ध कर दिया और भारत पर एक ऐसे उत्पादन संबंधों को थोप दिया जो परिवर्तित हो रहे भारतीय समाज के आंतरिक खोल से निकली उत्पादन व्यवस्था नहीं थी, बल्कि भारत पर एक विदेशी शासन द्वारा बलपूर्वक लादी गई एक ऐसी व्यवस्था थी जिसका लक्ष्य शासक वर्ग और शासक देश को लाभ पहुंचाने की तरफ उन्मुख था। इस तरह भारत को पराजित कर, इस पर अपनी राजनीतिक सत्ता कायम कर कंपनी ने वर्णिक पूंजी का ऐसा शासन कायम किया जिसमें भारत का धन इंग्लैण्ड की तरफ बेरोकटोक प्रवाहित होने लगा।

आधुनिक भारत के इतिहास लेखन को रजनीपाम दत्त ने ब्रिटिश राज के वर्ग चरित्र का विश्लेषण वणिक पूंजी का राज, औद्योगिक पूंजी का राज और वित्तीय पूंजी का राज इन तीन श्रेणियों में विभाजित कर उसके शोषण के स्वरूपों का वर्णन किया। उन्होंने बताया है कि भारत की विडंबना यह रही कि शास्त्रीय अर्थ में वित्तीय पूंजी या साम्राज्यवाद जिसे दूसरे देशों में पूंजी निर्यात की एक प्रक्रिया का धारक माना जाता है, भारत के मामले में ठीक इसने इसके उल्टी प्रक्रिया का अवलंबन किया।

कभी भी इंग्लैण्ड से निर्यात होकर भारत आने वाली पूंजी 1. (रजनी पामदत्त आज का भारत मैकमिलन इण्डिया सन 1985।) मात्रात्मक रूप में भारत से इंग्लैण्ड की तरफ होने वाले पूंजी बहाव से ज्यादा नहीं रही। इस प्रकार भारत पर एक विचित्र ढंग की शोषण व्यवस्था को थोपा गया जिसमें शोषण का जाल भारत के अतिशय गरीब से लेकर राजकीय पूंजीपति वर्ग तक को अपने जाल में फंसा कर रखा। साम्राज्यवाद विरोध में विभिन्न वर्ग शक्तियों की एकता का यही राज भारत में दिखा।

साम्राज्यवाद विरोध की मौलिक सैद्धांतिकता के आधार पर विभिन्न वर्ग शक्तियों के एक संयुक्त मोर्चा के रूप में, जिसमें विभिन्न राजनीतिक प्रवृत्तियां एकताबद्ध थी, उस आंदोलन को और उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त आजादी को आज भी पट्टाभी सीता रमैया जैसे इतिहासकार यह दर्शाने की कोशिश किए हैं कि आजादी का संघर्ष कांग्रेस द्वारा लड़ा गया और जीता गया जंग है।[1] इस तरह आधुनिक भारत के इतिहास लेखन को विकृत कर पेश किया जाना राष्ट्रीय आंदोलन की वास्तविकता से आने वाली पीढ़ी को महरूम रखना है।

जिस तरह राष्ट्रीय आंदोलन के विकास क्रम में बहुभाषाई, बहुधर्मिकता और बहु-संस्कृतियों वाली आबादी ने जब एक राष्ट्रीय आंदोलन को स्वरूप प्रदान कर दिया और जब भारत को एक राष्ट्र के रूप में अस्वीकार कर दिए जाने संबंधी उपनिवेशवादी इतिहासकारों की दलील को ठुकरा दिया तो उनके पैरों तले की मिट्टी ही खिसक गई तब उन्होंने अपने विश्लेषण संबंधी पैंतरे को बदल दिया। अब वे भारत को एक राष्ट्र नहीं बल्कि महज एक भौगोलिक क्षेत्र मानने की संकल्पना से हट गए और नई दलीलों के साथ सामने आए। अब वे स्थापित करने लगे कि भारत में जो राष्ट्रवाद स्वरूप ग्रहण किया है वह अंग्रेजी राज की देन है, क्योंकि इसी ने भारत को एकताबद्ध करके एक प्रशासन के तहत लाया है, संचार साधनों के द्वारा संपर्कों को स्थापित किया है आदि आदि उनकी इस स्थापना ने कई राष्ट्रवादी इतिहासकारों और नेताओं को प्रभावित भी किया। राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व का वह तबका जिसने यह समझ जाल रखा था कि भारत की गरीबी, दरिद्रता आदि का मूल कारण उपनिवेशवादी सता नहीं है, बल्कि भारत की अशिक्षा, धर्मिक अंधविश्वास आदि हैं और इनसे निजात अंग्रेजी राज के मदद से ही मिल सकती है, वे इसी अवैज्ञानिक दलीलों के शिकार थे। आज भी जब भारत की सरकार वैश्वीकरण में यह सोच कर काम कर रही है कि देश से गरीबी और बदहाली का उन्मूलन साम्राज्यवादी मुल्कों के साथ अर्थव्यवस्था को जोड़कर ही किया जा सकता है, वह ऐसे अवैज्ञानिक मिथकों को पाल रही है। भूत काल के अनुभवों का वर्तमान काल के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करना इतिहास का एक प्रमुख काम होता है। मगर जो समाज इतिहास बोध की इस प्रक्रिया को नजरअंदाज करता है वह अपने अस्तित्व के प्रति भी चेतन नहीं रहता। क्रौचे ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया कि इतिहास का या इतिहासकार का काम अलग-अलग तथ्यों को इक्टठा करना ही नहीं है, बल्कि उन तथ्यों का विश्लेषण करना, उनका मूल्यांकन करना और उनके आधर पर भविष्य के लिए दायित्वों का निर्धारण करना भी है। करीब दो सौ साल से भी ज्यादा के औपनिवेशिक शासन का भारत का अनुभव बहुत से फलितार्थों को आज भी सामने ला रहा है, जिनका चरित्र ठीक इसी प्रकार लुभावना दिखता है जिस प्रकार औपनिवेशिक शासकों ने अपने तथाकथित परोपकारिता के आवरण में एक शिक्षित वर्ग को पैदा किया जो मैकाले के शब्दों में रूपरंग और देखने में भारतीय हैं मगर दिमागी और मानसिक तौर पर अंग्रेज हैं। मानसिक गुलामी होती है जो आजादी के संघर्ष में देखा जा सकता है: पट्टाभी सीतारम्मैया की आफ्सियल टिस्ट्री ऑफ कांग्रेस, को नकारती है। आज वैश्वीकरण के नये दौर में साम्राज्यवाद अपने ज्यादा परिष्कृत शोषण के स्वरूप के साथ नव उपनिवेशवादी शोषण के तरीकों के साथ विकासशील देशों को अपने गिरफ्त में लाता जा रहा है और इतिहासकार, राजनेता और समाज शास्त्री इस विकास प्रक्रिया को एक क्रांतिकारी बदलाव के रूप में अंगीकार करते दिखते हैं। वैज्ञानिक इतिहास लेखन को जिसके प्रबल प्रवक्ता कार्ल मार्क्स, ऐंगिल्स आदि रहे हैं, झुठलाने के नए तरीकों का इजाद किया जा रहा है जो इधर से देखने में क्रांतिकारी तेवर वाला दिखता है मगर अपने अंतिम विश्लेषण में वह साम्राज्यवाद के शोषणकारी स्वरूप की मुखालफत करने से अपने को अलग कर लेता है। इस तरह की नयी वैचारिकता जो मार्क्सवादी ही नहीं बहुत सारी इतिहास लेखन पद्धतियों के विरोध में लाया गया है उनमें सबाअल्टर्न या उप्रायायवादी या अधीनस्थ इतिहास लेखन पद्धति का वर्णन किया जा सकता है। यह इतिहास लेखन पद्धति यह मानती है कि अब तक जितने भी इतिहास लिखे गए हैं उनकी लेखन पद्धति चाहे जो भी रही हो किसी ने भी दलित जनता का वास्तविक इतिहास लिखा ही नहीं। यहां तक कि बड़ी ऐतिहासिक घटनाओं का इतिहास लिखते समय भी वास्तविक जनता का जिसने उस घटना को अंजाम दिया, इतिहास उसके नजरिए से कभी लिखा ही नहीं गया। इस उपाश्रयवादी इतिहास लेखन के प्रवक्ता रणजीत गुहा आदि मानते हैं कि इतिहास लेखन में आमजन को या तो उच्च वर्ग के

नेताओं और संगठनों के इशारों पर चलने वाला मान लिया गया है या आर्थिक सामाजिक विपत्तियों के कारण कभी-कभार विद्रोह करने वाले ढोर-डांगर के रूप में मान लिया गया है जिनका अपना कोई विवेक नहीं होता। अत: इतिहास लेखन में इनकी चेतना, उनकी समझ का अलग से अध्ययन किया जाना चाहिए।

सबाअल्टन अध्ययन के प्रतिपादक दो प्रकार के नए प्रयोगों पर बल देते हैं। इनमें उनकी पहली स्थापना है कि भारतीय समाज को एक समरूप समाज (होमोजेनस) या प्रतियोगी गठबंधनों के जमघट या बने बनाए सामाजिक वर्गों एवं उत्पादन संबंधों के माध्यम से देखने के बजाय कुलीनों एवं दलितों या अभिजनों उपाश्रयवादियों में बहे समाज के रूप में देखा जाना चाहिए। वे दलील देते हैं कि पूंजीवादी परिणति से पूर्व यानि पाक पूंजीवादी समाजों तथा परिपक्व वर्ग चेतना के उदय के पूर्व किसानों मजदूरों, वकीलों आदि को अलग-अलग एवं अनन्य वर्गों के रूप में देखने के बजाय घनिष्ठ पारिवारिक संबंधों, स्थानीय परस्परता, मिली-जुली लोक चेतना आदि के आधार पर मिले-जुले दलित समुदाय के रूप में देखा जाना चाहिए। इनकी दूसरी स्थापना है कि दलितों को पेट से सोचने वाले जाहिल गंवार लोगों के रूप में देखने के बजाय उनकी चेतना और मानसिकता पर इतिहासकारों को विशेष जोर देना चाहिए।

वास्तव में सबाअल्टर्न वैचारिकता वाले ज्यादातर इतिहासकार मार्क्सवादी विचारधारा से आए हैं और मार्क्सवादी विकास नियम, ऐतिहासिक भौतिकवाद की परिकल्पना को झुठलाने की कोशिश में ये साम्राज्यवादी स्वार्थों के पोषक बन जाते हैं। ये समाज को सुपरिभाषित वर्गों के संघर्षों और अंतर्विरोधों के माधयम से देखने के बजाय अभिजन और उपाश्रयवादी समूहों के माध्यम से (1. रणजीत गुहा इन्ट्रोडक्सन टू सबाअल्टन स्टहीन) देखने की उनकी संकल्पना का मूलभूत है वर्गत: संघर्ष को त्याग देना। वे तमाम उन वर्गों को जिन्हें वे शोषित मानते हैं, जैसे शोषित असान, कारखाने के मजदूर, सरकारी निम्नवर्गीय कर्मचारी आदिवासी महिलाएं आदि सभी को एक ही वर्ग में लाकर वर्ग की संकल्पना को ऐसा अवैज्ञानिक बना देते हैं कि वर्ग संघर्ष ही बेमतलब हो जाता है।

द्वितीय, वे दलितों की आर्थिक स्थिति को प्रधानता नहीं देते हैं यह नहीं मानते कि व्यक्ति का आर्थिक सामाजिक परिवेश या उसकी भौतिक स्थितियां व्यक्ति की चेतना का निर्धरण करती हैं। वे दलितों की सोच, मानसिकता आदि को इस प्रकार महत्व देते हैं कि वे ही गलबादी आदर्शवादी के वाहक बन जाते हैं।

वास्तव में उपाश्रयवादी सोच मार्क्सवादी इतिहास लेखन की परिष्कृत पद्धति को इस तरह से गड़बड़ करता है कि वर्ग संघर्ष की अवधरणा को समाप्त कर यह प्रमाणित किया जा सके कि शोषण का मूल श्रोत उत्पादन की पूंजीवादी व्यवस्था और उसका विकसित रूप साम्राज्यवाद नहीं है बल्कि अभिजन और उपाश्रयवादी के बीच का संघर्ष है। इस प्रकार की स्थापना पर लिखित इतिहास कभी भी वैज्ञानिक नहीं हो सकता।

"बिहार और 1857 : सामाजार्थिक विसंगतियों से उपजा विद्रोह"

डॉ॰ दीपक कुमार राय

एन॰ ए॰ सिद्दीकी लिखते हैं कि ''भारत में जो इंग्लैण्ड आया वह शेक्सपियर या मिल्टन की पसंद का नहीं था न ही राजनैतिक क्रांतिकारियों और स्वाधीनता संग्राम सेनानियों की परंपरा का। यह नयी वैज्ञानिक तकनीकी प्रगति की परंपरा का वाहक भी नहीं था, यह दूसरा इंग्लैण्ड था। सामंती क्रूरता तथा प्रतिक्रियावाद की परंपरा का वाहक''[1] बिहार में न तो इसका कोई और चरित्र होना था और न ही सारे देश से इतर यहां कोई और प्रतिक्रिया होनी थी। 1857 के संदर्भ में बिहार पर जब बातें होंगी तो इस प्रथम जन विद्रोह के फैलाव के साथ-साथ इसके बुनियादी कारणों पर भी बातें होंगी। यूरोपीय राष्ट्रों ने बिहार के आर्थिक महत्व को बखूबी समझा एवं अपनी वृत्ति के अनुरूप ही बहुत बेरहमी से अपने वाणिज्यिक हितों के लिए इसका भरपूर दोहन किया। औपनिवेशिक दासता शासन एवं शोषण के प्रत्यक्ष एवं शुरुआती कुप्रभाव बंगाल में दिखे, इससे बिहार भी अछूता नहीं रह सकता था। बिहार एवं उत्तर प्रदेश की एक बड़ी आबादी बंगाल की विविध व्यावसायिक गतिविधियों पर आश्रित थी। बंगाल की खुली लूट ने इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति को तो संभव बनाया परंतु भारत में जो देहाती करण शुरू हुआ, गरीबी, बेरोजगारी एवं भुखमरी बढ़ी उसने भारतीय जनता को अंग्रेजों के विरुद्ध किया, देशी उद्योग धंधे तो चौपट हुए ही; कृषि पर भी बेतहाशा बोझ बढ़ा, लेकिन वहां भी भू-राजस्व का ऐसा कुचक्र था कि जनता पर दोहरी मार पड़ी।

भारतीय हस्तशिल्प के सामान अपनी कलात्मकता के लिए विश्वप्रसिद्ध थे। इनमें दक्ष कारीगर अपनी आजीविका के लिए इन्हीं पर निर्भर थे, देशी रियासतों की समाप्ति से इनके पारंपरिक खरीदार खत्म हो गए, नये अभिजात वर्ग की रुचियां कुछ और थी। फिर बहुत से कारीगरों को ब्रिटिश कारखानों में जबरिया काम पर लगाया गया, कइयों के हाथ काटे गए इस तरह शहरी हस्तशिल्प तबाह हुआ और शहर भी तबाह हुए। लोग शहर से गांवों की ओर चले, यही देहाती कारण था। विकास की गति यहां उल्टी दिशा में चली। औपनिवेशिक लूट ने जहां इंग्लैण्ड का औद्योगीकरण किया वहीं भारत का देहातीकरण किया।

पटना, मिर्जापुर और मुरादाबाद जैसे हस्तशिल्प के तत्कालीन बड़े केंद्र वीरान होते गए। गोले-बारूद और तोप पर आधारित युद्ध शैली ने हाथी-घोड़ों की उपयोगिता सीमित कर दी। फलतः तीर तलवार या परंपरागत युद्धक साजो-सामान बनाने वाले बरबाद होते चले गए। बेरोजगार शिल्पी-श्रमिकों ने गांवों का रुख किया।

बिहार के विशेष संदर्भ में देखें तो कुछ उदाहरणों से स्थिति कुछ और स्पष्ट होगी। स्वतंत्र प्रांत की हैसियत खो देने के बाद प्रशासनिक केंद्र बदलने व्यवसाय-वाणिज्य की गतिविधियां पहले से न्यून हुई, 1810 में भागलपुर का तस्सर कारोबार काफी उन्नत व्यापक और गतिशील था। उस समय 3275 करघे काम कर रहे थे परंतु 1877 आते-आते स्थिति इतनी खराब हुई कि मात्र 13 व्यक्ति बचे रह गए जो इस कारोबार में लगे हुए थे। अरवल जो कागज के लिए ख्यात था और बिहार से बाहर बंगाल तक उसके प्रोडक्ट्स की धूम थी, 1870-80 के दशक तक आते-आते वीरान हो चुका था। जहानाबाद में कपड़े का मशहूर कारखाना था। 1960 और 1815 के बीच वहां काफी गहमा-गहमी हुआ करती थी, लेकिन औपनिवेशिक शोषण चक्र में वहां की रौनक भी पिस गई।

थोड़ी दूर चलें और ढाका को देखें 1818 में वहां की आबादी 1,50,000 थी जो 1836 में महज 20,000 रह गई। पटना भागलपुर, छपरा, दरभंगा जैसे शहरों की भी आबादी इसी तरह तेजी से घटी। वहां विभिन्न सामानों के खरीदार ही नहीं रहे,

गांव जो उत्पादन कर रहे थे उन्हें शहरों में खपाना मुश्किल हो गया। ब्रिटेन में उत्पादित वस्तुओं की भारतीय बाजार में भारी मांग ने यहां के पारंपरिक शिल्पियों, कारीगरों, दस्तकारों को वैसे भी बेरोजगार कर दिया था।

इन सबका बोझ पड़ा जमीन पर। किसानों की दशा और बदतर हुई, उत्पादन में कोई गुणात्मक वृद्धि हुई नहीं, लेकिन लगान वसूली में कोई रियायत नहीं थी। इसने जमींदारों को भी बेहाल कर दिया, कर्जों के बोझ तले कइयों की जमीन-जागीरें बिकीं। 1793-94 से लेकर 1806-07 के मध्य बिहार की बहुत सी जमींदारियां बिकीं; और कंपनी का तो एकमात्र उद्देश्य था राजस्व की येनकेन प्रकारेण से वसूली। इससे किसानों का जीना दुश्वार हुआ, कुछ ऐसी जमीनें जिन पर लगान में छूट रहती थी उनको भी लगान-व्यवस्था के तहत लाकर उन पर राजस्व लिया जाने लगा, 1780 से 1870 के बीच पटना में धार्मिक-शैक्षणिक या विभिन्न जनहित के कामों के लिए उपयोग में लाई जा रही लगान मुक्त जमीनों से भी राजस्व वसूल किया गया तो 48 प्रतिशत अधिक हाथ लगा। राजस्व की अन्यायपूर्ण लूट का थोड़ा सा भी हिस्सा जनहित में नहीं लगता था, सिंचाई की सुचारू व्यवस्था कैसे हो ताकि उत्पादन बढ़े, इस पर ध्यान नहीं था। जिससे आम जन जीवन बेहतर हो किसी भी तरह के सामाजिक विकास के कार्यों पर ध्यान नहीं था। ऐसे में तो उस व्यवस्था, उस शासन, उस सरकार के प्रति जनाक्रोश फूटना ही था, राजस्व की वसूली संबंधी एक आंकड़ा जान शोर ने बंगाल के बारे में प्रस्तुत किया है जो बताता है कि 1790-91 में यह राशि 268 लाख तक पहुंच गई, आर॰ सी॰ दत्त[2] लिखते हैं कि 1757 से 1765 के बीच कंपनी अधिकारियों की कमाई छः लाख पौण्ड थी जो बंगाल की वार्षिक आय से चार गुना अधिक थी, दरअसल इस बेहिसाब कमाई के पीछे वहशी लूट, क्रूरता और भ्रष्टाचार का तंत्र लगा हुआ था, व्यापारिक हितों के लिए अंग्रेजों ने कुछ नकदी फसलों की जबरिया खेती भी कराई की उपज बुरी तरह प्रभावित हुई, जिससे बिहार-बंगाल में कई लोग अकाल के शिकार हुए।

ऐसा नहीं था कि अंग्रेजों के आने से पहले बिहार में नील की खेती नहीं होती थी, लेकिन अंग्रेजों के आने के बाद यह अंग्रेजों के व्यावसायिक हितों की पूर्ति के लिए भारतीय जनता की मजबूरी बन गई, यही वह समय था जब नील की खेती का औद्योगिक स्वरूप उभर रहा था,[3] नील की खेती ने निलहे साहबों और जमींदारों को खेती करने वाली जनता के शोषण के निमित्त असीमित अधिकार दे दिए, क्योंकि नील की खेती कानून द्वारा संरक्षित खेती थी और इस आधार पर शोषण भी विधिवत कानून बनाकर किया जाने लगा। 1835 में जो कानून पारित हुआ उसके तहत यदि रैयत नील की खेती से इनकार करे तो निलहे साहबों के द्वारा उन पर आपराधिक मुकद्मा चलाया जा सकता था, यही नहीं 1837 में जब अंग्रेजों को भारत में जमीन खरीद कर स्थायी तौर पर उसका स्वामित्व धारण किए रहने की छूट मिल गई तो तमाम निलहे साहबों ने बिहार में जीरत व्यवस्था को बड़ी चतुराई और क्रूरता के साथ लागू किया, अंग्रेज अपनी सारी संपदा बेच कर भी भारत में जमीन खरीदने और खेती करने आने लगे। यहां उन्हें करों में भारी छूट दी गई। 1769 में जैसे कच्चे रेशम की पैदावार को बढ़ावा देने संबंधी निर्देश जारी किया गया था और रेशमी वस्त्रों के उत्पादन को हतोत्साहित करने की बात कही गई थी उसी तरह इस समय भी पूरी कृषि ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल पैदा करने में लगा दी गई।

बिहार के शहरों, गांवों में एक जैसी दुर्दशा थी, एक जैसा असंतोष था और उसी अनुपात में आक्रोश फूटा भी, कृषि-व्यवसाय, शिल्पौद्योगिकी, व्यापार, दस्तकारी, औपनिवेशिक लूट में सब बरबाद हो चुका था। इसी बिहार में 1831-33 में कोल विद्रोह तो 55-56 में संथालों की बगावत हो चुकी थी। 1845-46 में ही अंग्रेजी सत्ता के खिलाफ लामबंदी शुरू हो चुकी थी, कई राजा और जमींदार अंग्रेजी राज के विरुद्ध असंतोष और जनता के बगावती तेवरों को संगठित करने में लगे थे, कुंवरसिंह की इसमें प्रमुख भूमिका थी। अंग्रेज भी उन दिनों सिख-युद्ध में उलझे हुए थे, इसका लाभ भी विद्रोहियों को मिला और उन लोगों ने नेपाल के राजा से भी सहयोग का आश्वासन ले लिया था, यानी 1857 को राष्ट्रीय फलक पर देखें तो लगेगा कि यह कोई क्षणिक उत्तेजना में अचानक उठ गया कदम नहीं था, जनता अंग्रेजों के अत्याचारों से ऊब चुकी थी और वह छिटपुट विद्रोही गतिविधियों का अंजाम भी जान रही थी, यही कारण था कि इस बार की बगावत को थोड़ा सुनियोजित रूप देने की कोशिशें चल रही थीं।

अपनी क्रांतिकारी चेतना और रणनीति के साथ लोग एक दूसरे के साथ संपर्क स्थापित कर रहे थे, कुंवर सिंह बिहार के बाहर निकले। रीवा, बांदा, मिर्जापुर, कानपुर, लखनऊ, आजमगढ़, बलिया और गाजीपुर तक अलख जगा आए। वह नेपाल के संपर्क में भी थे, पलामू के विद्रोहियों के भी सतत् संपर्क में थे कुंवर सिंह। बिहार के बाहर से भी कई क्रांतिकारी बिहार की गतिविधियों पर नजर रखे हुए थे और अधिकतम संभव क्रांति के बिरवे रोपने के लिए कटिबद्ध थे।

दस्तावेज बताते हैं कि वारिस अली[4] और पीर अली खान[5] क्रांतिकारी चेतना के प्रचार-प्रसार एवं क्रांति की जमीन तैयार करने के अभियान के तहत ही बिहार भेजे गए थे, पीर अली को पटना में क्रांति के नेतृत्व का श्रेय जाता है, ये मूल रूप से लखनऊ के रहने वाले थे, पटना सिटी में आ बसे थे। बहावी आंदोलन से जुड़ कर ये अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह को अंजाम देने में लगे रहे। इन्हें डॉक्टर लायल की हत्या के आरोप में फांसी दे दी गई। उस समय विलियम टेलर, जो पटना डिवीजन के कमिश्नर थे, उन्होंने अपनी पुस्तक ''आवर क्राइसिस आर श्री मन्थ्स ऐट पटना ड्यूरिंग इंसरक्शन'' में पीर अली के साहस, शौर्य की जमकर तारीफ की है। उन्होंने यह संदेह भी व्यक्त किया है कि लखनऊ का निवासी होने के वाबजूद पीर अली ने स्वयं को पटना में इसीलिए स्थापित किया होगा ताकि यहां षड्यंत्र रच सके। कुल 36 लोग पटना में गिरफ्तार किए गए जिसमें 16 लोगों को फांसी की सजा दी गई, पीर अली के साथ रमजान, पीरबख्श, शेख घसीदा, गुलाम अब्बास, जुम्मन, हाजीजान, नंदलाल, छोटू यादव, सागर अली, वहीद अकी एवं मुहम्मद अख्तर को भी फांसी दे दी गई। इतिहासकार कयामुद्दीन अहमद[6] लिखते हैं कि पीरअली स्थानीय बहावी नेता फरहत हुसैन के भी संपर्क में थे। उन्होंने यह भी बताया है कि पटने में विद्रोही दो गुटों में काम कर रहे थे-एक में पीर अली, यूसुफ अली, इमालुद्दीन और दूसरे मे अली करीम, वारिस अली हालांकि अब धीरे-धीरे इन दोनों गुटों में भी एक साथ काम करने की योजना बन रही थी। पीर अली के घर की तलाशी के क्रम में कई महत्वपूर्ण कागजात मिले जिनसे यह जानकारी मिली कि कानपुर और अवध के विद्रोहियों से पीर अली के तार गहरे जुड़े हुए थे, अवध के ही एक और विद्रोही नेता मुहम्मद हुसैन ने मोतिहारी, मुजफ्फरपुर और छपरा जैसी जगहों पर विद्रोह के सूत्रपात में सूत्रधार की भूमिका निभाई।

दानापुर में फौज ने बगावत कर दी, वहां से तीन रेजिमेंटों ने कुंवर सिंह से हाथ मिलाने के लिए जगदीशपुर की ओर कूच किया तो रास्ते में आरा पड़ा। यहां उन्होंने चुन-चुनकर अंग्रेजों का सफाया किया, इसके बाद तो बिहार में विद्रोह फैलता गया। मुजफ्फरपुर विद्रोह का एक अन्य महत्वूपर्ण केंद्र था जिसके इर्द-गिर्द पर्याप्त गतिविधियां संचालित होती रही। 1856 में ही मुजफ्फरपुर जेल में पानी पीने वाले एक बर्तन लोटे को लेकर कैदियों और अंग्रेज अधिकारियों के बीच ठन गई। इसी को लोटा विद्रोह भी कहा गया है, हुआ यह था कि 1856 में जेल में कैदियों के लिए पीतल के लोटे की जगह मिट्टी के बर्तनों को संस्तुत किया गया इस आशंका के साथ कि पीतल के लोटे का अंग्रेज अफसरों के विरुद्ध हथियार की तरह भी इस्तेमाल हो सकता है[7]। इस बेवकूफाना संस्तुति का असर आरा जेल में बंद कैदियों तक पर पड़ा, उन्होंने इसका विरोध किया, उन पर गोलियां चलानी पड़ी लेकिन मुजफ्फरपुर में जब जनता सड़कों पर आ गई तो फिर इसे वापस लेना पड़ा।

चंपारण के सुगौली में भी विद्रोह की अग्नि जल चुकी थी। 1816 में ही नेपाल के साथ युद्ध के दौरान यह छावनी स्थापित हुई थी। यह एक प्रमुख छावनी थी, लेकिन मेजर हांस और उनकी पत्नी की हत्या के बाद वहां के हालात बेकाबू होते गए। वहां के न्यायाधीश ने पटना के कमिश्नर टेकर से भी गुहार लगाई। टेलर ने अन्ततोगत्वा अपने अधिकारियों से वह जगह छोड़ने के लिए कह दिया। कलक्टर जैसे ही मुजफ्फरपुर से बाहर निकले कि 31 जुलाई 1857 को सेना की एक पूरी टुकड़ी विद्रोह कर बैठी, ट्रेजरी जेल और रेल पर धावे बोले गए[8]। जुलाई 1857 तक तो कंपनी सरकार ने समस्त विद्रोहियों को कब्जे में ले लेने का आदेश जारी कर दिया था परंतु बाद में भी जितने लोग पकड़े गए सबने यही कहा कि अंग्रेजों की सत्ता समाप्त हो चुकी है इससे महत्वपूर्ण बात यह थी कि तमाम विद्रोहियों को कुंवर सिंह पर यकीन था और सब खुले आम कहते थे कि यहां अब कुंवर सिंह का शासन है, तिरहुत के मजिस्ट्रेट द्वारा पटना के कमिश्नर को लिखे पत्रों में इस बाबत उल्लेख आए हैं, सुगौली से निकली बागी फौज ने भी बाबू कुंवर सिंह के ही कंधों से कन्धा मिलाया।

चंपारण और मुजफ्फरपुर में विद्रोह के संदर्भ में निलहे साहबों की भूमिका बहुत ही क्रूरतापूर्ण थी, उनके लिए यह बेहतरीन अवसर की तरह था जब वे अंग्रेजी राज के प्रति अपनी निष्ठा और वफादारी प्रदर्शित कर सकते थे। एक ऐसे समय में जब अंग्रेजों के खिलाफ जनता सड़कों पर थी निलहे साहबों ने अंग्रेजों की भरपूर सहायता की। सारे निलहे तथा अन्य दूसरे अंग्रेज अफसर भी भारी संख्या में मुजफ्फरपुर पहुंचे एवं पूरी ईमानदारी से अपने उस गढ़ की रक्षा की, गिरीवश मिश्र ने अपने एक आलेख में इसी तरह के एक निलहे मिरेंन विहसन का जिक्र किया है जिसने अपनी किताब में उपरोक्त बातों का जिक्र किया है।[9]

दानापुर में भी फौज ने ही बगावत शुरू की थी और यह लहर मुजफ्फरपुर तक गई। दानापुर उस समय की सर्वश्रेष्ठ फौजी छावनी थी, यहीं पर बंगाल आर्मी की ओ॰ टी॰ रेजिमेण्ट थीं, कुछ तोपची भी थे। इन्हीं के बूते जनील लायर ने संथाली विद्रोह

को अत्यंत सफलता पूर्वक कुचल दिया था। सुगौली के घुड़सवार सेना की विद्रोही चेतना ने चंपारण और सारण को भी अपनी जद में ले लिया, दानापुर, जगदीशपुर, आरा, रामगढ़ से होती हुई बगावत की आग हजारीबाग, रांची और संभलपुर तक जा पहुंची। विद्रोहियों ने भोजपुर, बिहार तथा औरंगाबाद जैसी जगहों पर अपनी सैन्य क्षमता बढ़ाने के लिहाज से व्यापक पैमाने पर नई भर्तियां की एवं कुछ पुराने सैनिकों को भी फिर से सैन्य गतिविधियों में शामिल किया। अंग्रेजों की पिट्ठू रियासतों के बीच संपर्क या आवाजाही रोक देने के लिहाज से पिथौराघाट और रामगढ़ के बीच सड़कों और नहरों को छिन्न-भिन्न कर दिया गया था।

रांची में हुई विद्रोही नेताओं की बैठक में हालांकि उनकी आपसी फूट सतह पर आ गई लेकिन वे तमाम लोग ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ अपनी एकजुटता बनाए रहे। हिन्दुस्तानी, रामगढ़िया और भागलपुरी जैसे तीन गुट अस्तित्व में आए। हिन्दुस्तानी गुट के नेता माधव सिंह थे। इस गुट में बिहारी सिपाहियों की संख्या अधिक थी और शायद इसी कारण वे कुंवर सिंह के साथ संयुक्त रूप से अपना अभियान चलाना चाह रहे थे। रामगढ़िया गुट के नेता विश्वनाथ साही थे तथा इनके गुट में मुंगेर गया तथा शाहाबाद क्षेत्रों के बागी शामिल थे। भागलपुरी गुट जयमंगल पाण्डेय के नेतृत्व तले संगठित था ऐसा लगता है कि इस गुट में ब्राह्मणों की संख्या अधिक थी। लेकिन उनकी संरचना और समझ जो भी रही हो उनका उद्देश्य एक ही था।

उधर भागलपुर में पांचवी दूर्रेग्युलर कैवेलरी का विद्रोह अंग्रेजों पर काफी भारी साबित हुआ। इस टुकड़ी में विशेष योजना के तहत गांव-देहातों से भर्तियां की गई थीं ताकि उन तक अंग्रेज विरोधी भावना की पहुंच नहीं हुई होगी लेकिन उनका यह आकलन झूठा साबित हुआ। फिर उधर जलपाइगुड़ी और पूर्णिया का विद्रोह एक दूसरे से प्रेरणा और पूर्णता पा रहा था। भागलपुर में मैक्डानल्ड और यूल पर हमला अंग्रेजों के विरुद्ध बागियाना तेवरों की ही उपज था, गया में जीवनधन सिंह, हैदरअली खान इत्यादि के नेतृत्व में पूरा प्रक्षेत्र आंदोलित हो उठा था, मुंगेर की बागी चेतना अपने आप में अंग्रेजी सरकार के लिए समस्या बनी हुई थी। बिहार के बागी और बगावतें महत्वपूर्ण इसलिए रही कि जाने-अनजाने ये विशेष भौगोलिक स्थिति का लाभ ले रहे थे, बिहार का महत्व इसलिए था कि राजधानी कलकता से शेष भारत या दिल्ली का संपर्क मार्ग यही था। सड़क मार्ग के लिहाज से जी॰ टी॰ रोड और जल मार्ग के लिहाज से गंगा नदी दोनों का मार्ग बिहार से ही गुजरता था। यदि सारे बिहार में विद्रोह फैल जाता तो भारत के कई हिस्से राजधानी कलकता से कट जाते।

फिर यह भी देखें कि यह विशेष भौगोलिक स्थिति का ही लाभ रहा कि नाना साहब के नेपाल चले जाने के बाद कुंवर सिंह[10] बहुत आसानी से उनकी टुकड़ियों का नेतृत्व करने तराई में भी उतर गये थे। विशिष्ट भौगोलिक स्थिति का ही लाभ यह भी था कि मुजफ्फरपुर में जब विद्रोही बहुत कामयाब नहीं हो पा रहे थे और उनका प्रतिरोध कुचला जा रहा था तो वे उसे फिर से संगठित करने के लिए नेपाल चले गए। नेपाल के राजा के साथ कुंवर सिंह बहुत दिनों से संपर्क में थे।

19 सितंबर 1858 को 'समाचार सुधा वर्षण' की खबर उसी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति को बयान कर रही है जिसमें यह कहा गया है कि स्टीमर से पार जाते विद्रोहियों में से दो को पकड़ लिया गया है बाकी लोग गोरखपुर पहुंच गए होंगे, उनके नेता भवानी सिंह जो विद्रोह के लिए ताकत बटोर रहे हैं, गोरखपुर के जंगलों में ही कहीं हैं। यह पटना से भेजा गया पत्र बताया गया है। अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के अतिरिक्त 1857 बिहार में कुछ अन्य कारणों से महत्वपूर्ण रहा, एक तो यह कि कोई कहीं भी लड़ रहा था वह कुंवर सिंह के संपर्क में जरूर था, या नहीं तो कुंवर सिंह के पराक्रम से प्रेरणा ले रहा था। कुंवर सिंह ही एकमात्र ऐसे नेता रहे बिहार से, जिन्होंने समझ लिया था कि इस विद्रोह की असली पटकथा कहां लिखी जानी है, शायद तभी उन्होंने बिहार से बाहर जाकर देश-विदेश की साम्राज्यवाद विरोधी चेतना से संपर्क-सबंध स्थापित किया और बिहार में विद्रोही गतिविधियों को व्यापक परिप्रेक्ष्य दिया, इतिहासकार पी॰ के॰ शुक्ला[11] इस महत्वपूर्ण तथ्य को उजागर और व्याख्यायित करते हैं कि भू-स्वामी कुलीन वर्ग का तुष्टीकरण विद्रोह के बाद अंग्रेजी शासन की खास पहचान बन गया, 1857 के बाद बिहार में निलहे काफी शक्तिशाली हो गए, उन्होंने अंग्रेजों का विद्रोह के समय साथ दिया था। अब अंग्रेजी सत्ता उन पर भरोसा कर सकती थी, निलहे साहबों को अपने-अपने क्षेत्रों में मानद मजिस्ट्रेट बना दिया गया, डुमरी, पंडौल, देवरिया, जितवारपुर के बागान मालिक मजिस्ट्रेट के रूप में नियुक्त कर दिए गए। निलहे साहबों के पास नकदी की कोई कमी नहीं थी और वे जमींदारों को अधिक लगान देकर जमीनें अपने लिए ले सकते थे, जमींदार भी स्वाभाविक है पट्टा लिखने में उन्हीं को तरजीह देंगे जो पैसा अधिक दे रहा था। फिर जब 1837 में यहां स्थायी तौर पर जमीन खरीद कर रहने और खेती करने की छूट मिल गई तो अंग्रेजों ने भारी पैमाने पी यही के लूट से यहीं की जमीनें खरीदीं। इस तरह बिहार में नील उत्पाद क्षेत्रों

में कंपनी निलहे साहबों एवं स्थानीय जमींदारों एवं रियासतों के राजाओं का जो गठजोड़ बना वह त्रासद तो है ही रोचक भी है। हथुआ के महाराज ने कोल और संथाल विद्रोह को कुचलने में अंग्रेजों की मदद की थी। बनैली के राजा भी सरकार के प्रति निष्ठावान रहे। दरभंगा महाराज महेश्वर सिंह भी अंग्रेजों के प्रति वफादार रहे, राजेन्द्र प्रताप शाही ने भी निष्ठा के ही एवज में शाहाबाद में 20,000 रु॰ आय की जागीरें बख्शीश स्वरूप हासिल की थीं।

यह कुछ सफल कूटनीतिक चालें थी, जिनके आधार पर अंग्रेज 1817 की जन क्रांति के जाल से बच सके, लेकिन जनता अपने राजाओं के साथ नहीं थी, जनता उन्हीं राजाओं के साथ थी जो उसकी आवाज, उसकी व्यथा के लिए अंग्रेजों से लड़ सकता था, जैसे कुंवर सिंह का स्थान इतिहास के दस्तावेजों से अधिक जनता की स्मृतियों में है। जनता गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, अकाल झेल रही थी। उत्पीड़न की चरम सीमा सह रही थी तो बगावत भी तो उसे ही करनी थी। हालांकि उसका खामियाजा बिहार बाद तक भुगतता रहा, यहां विकास एवं जनकल्याणकारी कार्यों की घोर उपेक्षा की जाने लगी, प्रशासनिक केन्द्र एवं आथिक गतिविधियां लगभग शून्य कर दी गई।

संदर्भ सूची

1. एन॰ ए॰ सिद्दीकी, लैण्ड रेवेन्यू ऐडमिनिस्ट्रेशन अण्डर दी मुगल्स (1700-1750) पृ॰-13 ।
2. आर॰ सी॰ दत्ता, इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खण्ड एक।
3. प्रभात कुमार शुक्ला, इंडिगो एण्ड दी राज, दिल्ली, 1993, पृ॰ 42 ।
4. पार्लियामेंटरी पेपर्स, वॉल्यूम-44, 1857, पार्ट-1, पेपर सं॰-363 पृ॰-3-4
5. दि इंग्लिश मैन एण्ड मिलिटरी क्रानिकल, तिथि-15 जुलाई, 1857।
6. कयामुद्दीन अहमद, बहावी मूवमेंट, पृ॰-220 ।
7. काये एवं मैलसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन म्यूटिनी, वॉल्यूम-1 पृ॰-144 ।
8. बंगाल डिस्ट्रिक गजेटियर, मुजफ्फरपुर, पृ॰-25
9. गिरीश मिश्र, 1857 की आर्थिक पृष्ठभूमि, नयापथ, 1857 विशेषांक, पृ॰-67
10. रितम्भरा देवी, इण्डियन म्यूटिनी; 1857 इन बिहार, दिल्ली, 1989 पृ॰-146 ।
11. प्रभात कुमार शुक्ला, इण्डिगो एण्ड दी राज, पृ॰-162 ।

सिंधु क्षेत्र के बाहर के पशुचारण तथा कृषक समुदाय

डॉ. सुरज नन्दन प्रसाद

मानव इतिहास में मनुष्य ने हजारों वर्षों तक आखेटक और खाद्य संग्राहक का जीवन व्यतीत किया। लोग हजारों वर्षों तक आखेटक तथा खाद्य संग्राहक का जीवन व्यतीत करने के पश्चात गांवों में बसने लगे और कृषक तथा पशुपालक का जीवन व्यतीत करने लगे। व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने तथा पशुओं के पालतू बनाने के क्रम में मनुष्य गेहूं, जौ, भेड़ तथा बकरी इत्यादि के संपर्क में आया, जिनके पूर्वज तथा प्रजातियां काफी विस्तृत किंतु व्यतिक्रमीत अवस्था में एशिया के ऊपरी क्षेत्रों में तुर्की तथा अफगानिस्तान में फैले थे। इसके अवशेष सबसे पहले दक्षिण एशिया के मेहरगढ़ में (6000 ई.पू.) पाये गये हैं। ऐसी कोई निश्चित अवधि का पता दक्षिण एशिया में नहीं चला है, जिससे यह माना जाय कि इस समय में आखेटक तथा खाद्य संग्राहक की जीवन शैली छोड़कर लोग कृषि तथा पशुपालन करने लगे थे। विभिन्न क्षेत्रों में नवपाषाण युग विभिन्न प्रकार से विभिन्न स्तरों पर एक विशेष प्रकार के पत्थर और मृद्भांड की तकनीक तथा अलग-अलग तरह के पशुओं के साथ आया। नवपाषाणीय अर्थव्यवस्था स्थानीय पशुओं को पालतू बनाने को उत्सुक नहीं थी। नवपाषाण संस्कृतियाँ जो जेहलम घाटी, गारो तथा उत्तरी चांचर पहाड़ियों में पायी गयी हैं, वे एक अलग तरह की विचित्रता को दर्शाती हैं, जिससे यह लगता है कि इनका शिल्प कलात्मक संबंध इस महाद्वीप के बाहर स्थित संस्कृतियों से रहा है। दूसरी तरफ, उड़ीसा में हमें उत्तर-पूर्व तथा दक्कन पठारी संस्कृतियों का सम्मिश्रण मिलता है। कुछ संस्कृतियों के बारे में हमें सिर्फ तिथिविहीन तथ्यों पर निर्भर रहना पड़ता है और कुछ में हम जैविक तथा जंतुसमूह संबंध के प्रमाण भी उपलब्ध नहीं पाते हैं। कच्छ मैदानी क्षेत्रों की तरह ही विंध्य पठार की बेलन घाटी तथा गंगा के मैदानी क्षेत्रों में इलाहाबाद का इलाका काफी महत्वपूर्ण है। यहाँ हमें पुरापाषाण युग, मध्यपाषाण युग तथा प्रारंभिक नवपाषाण युग के घटनास्थल एक क्रम में मिले हैं। यहाँ से हमें चावल के अवशेष तथा कूबड़वाले पशुओं के पालतू होने का संकेत भी मिला है।

ताम्रपाषाणिक युग

हमें ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों का एक सिलसिला हड़प्पा सभ्यता के पश्चात् मिला है, जो 2,000 ई.पू. की हैं और जो भौगोलिक रूप से उदयपुर के उत्तर-पूर्व में स्थित बनास तथा बेचान दोआब से होते हुये मालवा और पश्चिम महाराष्ट्र में भीमा घाटी तक गयी हैं। कुछ मुख्य स्थानों-दंगवाड़ा तथा उज्जैन के नजदीक कायथा और प्रवारा के पास दायमाबाद का स्तरित शैल विज्ञान पद्धति द्वारा अध्ययन करने पर यह पता चला है कि कायथा संस्कृति के बाद बनास, फिर मालवा और तब जोरवे संस्कृति का विकास हुआ है।

प्रारंभिक लौहावस्था

व्यवस्थित ग्रामीण जीवन शैली के उदय ने जिस तरह विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूप लिए, वैसे ही लोहे के प्रयोग ने विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न तरीकों से लोगों की जीवन शैली को प्रभावित किया। लोहे के प्रयोग की प्राचीनता को जानने के लिए दक्षिणी एशिया के छह प्रमुख क्षेत्रों से एक सर्वेक्षण किया गया, जिससे यह पता चला कि आर्यों के आने और लोहे के प्रयोग से कोई संबंध नहीं है। जिन क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया गया है, उनसे यह पता चलता है कि यहाँ पर काफी मात्रा में लौह-अयस्क (जो आसानी से पिघलाया जा सकता था) पाया गया है। मालवा क्षेत्र में रेडियो कार्बन पद्धति से पता चला है कि करीब 1100 ई. पू. लोहे का प्रयोग शुरू हो गया था। यह बात इस आधार पर कही गयी है कि मालवा में ताम्रपाषाणिक युग के पश्चात्

लौहावस्था आयी थी। प्राप्त साक्ष्य से ज्ञात होता है कि दोनों अवस्थाओं में एक निरंतर संबंध है। मालवा में ताम्रपाषाणिक युग का अंत करीब 1300 ई.पू. का है। प्रथम लोहे के प्रयोग का एक निश्चित स्थान या क्षेत्र खोजना कठिन है, क्योंकि बहुत कम ही रेडियो कार्बन तिथि उपलब्ध हैं। निश्चित रूप से यह बात कही जा सकती है कि किसी एक क्षेत्र-विशेष में लोहे का प्रयोग नहीं हुआ होगा, अपितु कुछ शताब्दियों के अंदर ही बहुत सारे समुदायों ने लोहे का प्रयोग शुरू कर दिया होगा। गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र में यह स्पष्ट है कि लोहे के अनेक प्रयोग मिलते हैं। इन स्थलों पर जनसंख्या का दबाव उत्तरी हड़प्पा की तुलना से ज्यादा था। मगध के राजतंत्रों तथा कोशल और उत्तरी गणराज्यों का उदय ऊपरी लौहावस्था के परिपेक्ष्य में देखा जाता है। 1963 में डी.डी. कौशांबी ने इस बात की घोषणा की थी कि इतने बड़े पैमाने पर जंगलों का काटा जाना तथा कृषि व्यवस्था का गंगा घाटी में अपनाया जाना बिना लोहे के प्रयोग का संभव नहीं हो सकता।

भौगोलिक विस्तार

उत्तर-पश्चिम सीमांत

दो खंडों में यह क्षेत्र बंटा हुआ है। पेशावर तथा तक्षशिला के बीच का क्षेत्र, जिसमें पेशावर घाटी तथा पोतवार के पठार सम्मिलित हैं, और स्वात तथा चित्राल के बीच का क्षेत्र। कोटदीजी से संबंधित जानकारी सरायखोला का नवपाषाणिक स्तर देता है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि यह सारा क्षेत्र तत्कालीन हड़प्पा से व्यापारिक स्तर पर जुड़ा था। अनेक पुरातात्विक स्थान स्वात-छित्रल क्षेत्र में मिले हैं जो यह दर्शाते हैं कि यहाँ के लोग विभिन्न प्रकार की धातु, पत्थर तथा अन्य चीजों का इस्तेमाल करते थे, जिनमें शंख, मूंगा तथा हाथी दांत संभवत: इस क्षेत्र में सिंधु घाटी से आया था। घनीगई का पत्थरनुमा स्थान जो करीब-करीब 3000 ई.पू. का है, स्वात-छित्रल की आधारशिला के बारे में बताता है। "आद्य ऐतिहासिक कब्रिस्तान" 2000 ई.पू. का इस क्षेत्र से प्राप्त है। ऐसे कब्रिस्तानों का प्रमाण तथा संबंधित बस्तियों को "गांधार कब्र संस्कृति" के नाम से जाना जाता है और ये कब्रिस्तान नम्यतापूर्ण तथा कलश स्वरूप (फलेक्सड तथा अर्न) दफन से तथा ताम्रपाषाणिक युग से संबंधित हैं। कई स्थानों पर कब्रिस्तानों तथा संबंधित बस्तियों का अध्ययन किया गया है, जिनमें मुख्य हैं-अलीग्राम, बीरकोट घुण्दई, लेबनर, खेराटी, लालबटाई, तिमारगढ़, बालाम्बात, कालको-दीरेय तथा जरीफ करुणा जो चित्रल स्वात, दिर, बनर इत्यादि घाटियों में स्थित हैं।

कश्मीर

तीस से अधिक नवपाषाणिक स्थल कश्मीर में पाये गये हैं, जिनमें से ज्यादा बारामूला, अनंतनाग तथा श्रीनगर खंड क्षेत्रों में पाये गये हैं। इसका इतने बड़े क्षेत्रों में फैला होना इस बात की ओर इंगित करता है कि यहाँ की संस्कृति मैदानी क्षेत्रों में पायी गयी संस्कृतियों से भिन्न नहीं है। गुफकराल में कुंडलीनुमा तांबे की बालों की चिमटी तथा बुर्जहोम में कोटदीजी की तरह गोलाकार बर्तन पर "सिंहनुमा देवी" का चित्रण, कश्मीर और सिंधु सभ्यता के बीच आपसी आदान-प्रदान का प्रमाण है। यह गुफकराल का एकरमिक युग यह बताता है कि इस समय तक छोटे तथा बड़े-बड़े रहने वाले कमरों का निर्माण हो चुका था। छिछला तथा बड़े कमरों का निर्माण पहले के युगों में भी पाया गया है। दो कमरों वाला मकान बाद के युगों में भी मिलता है। चटायीनुमा आधार वाले हाथ से बने हुये भूरे रंग के बर्तन कश्मीर के नवपाषाणिक युग की एक विशेष कृति है। गुफकराल तथा बुर्जहोम में इस प्रकार के बर्तन पाये गये हैं। दो हजार ई.पू. के मध्य तक कश्मीर का नवपाषाणिक युग महापाषाणिक युग में परिवर्तित हो गया था।

लद्दाख तथा अल्मोड़ा

यहाँ से पाये गये स्रोत अनिश्चित हैं, क्योंकि अवशेषों की संख्या कम है तथा उनकी तिथियों में काफी विषमता है। फिर भी इन्हें पूर्णत: नकारा नहीं जा सकता। ये आंशिक स्तर पर कराकोरम के दोनों भागों के बीच के संबंध को बताते हैं। उत्तर-पश्चिमी सीमांत तथा कश्मीर के बीच संबंध के संदर्भ में हम हिमालय के प्रागैतिहासिक काल का अध्ययन कर सकते हैं। हम लद्दाख की क्यारी में पाये गये हस्त निर्मित लाल बर्तनों की तुलना बुर्जहोम के द्वितीय नवपाषाणिक युग के बर्तनों से कर सकते हैं। चार घर तथा भेड़ बकरी आदि पालतू जानवर तीन क्रमिक स्तरों में पाये गये हैं। 1000 ई.पू. इसकी तिथि है।

उसी भौगोलिक संरचना में स्थित शैक (क्यारी से 10 किलोमीटर की दूरी पर) से छठी शताब्दी ई.पू. की एक रेडियो कार्बन तिथि पायी गयी है।

उत्तर-पूर्व राजस्थान

जोधपुरा का बड़ा-सा टीला सहीबी नदी के तट पर मिला है, जो ज्ञानेश्वर-जोधपुरा संस्कृति का पहला साक्ष्य है। तीसरी-चौथी शताब्दी ई.पू. का यह टीला लगता है। निदानकारी बर्तन-पहियों से बना, गुलाबी तथा कत्थई रंगों से उत्कीर्ण चित्रित तथा अन्य विभिन्न आकारों में–ज्ञानेश्वर में पाया गया है जो दिल्ली-जयपुर रेलवे लाइन के छोटे अरावली पहाड़ों में मिला है। काफी मात्रा में तांबे के औजारों विशेषकर तीरों के ज्ञानेश्वर से मिलने के बाद इस संस्कृति पर ध्यान गया, जो यहाँ पर उत्खनन् में पायी गयी थीं। ज्ञानेश्वर का पुनः खनन पुरातत्वविदों ने किया और वहाँ काफी संख्या में इस तरह के साक्ष्य (करीब 83 की संख्या में) पाये गये जो उत्तर-पूर्व राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों-सिकर, जयपुर तथा चुरू जिलों में स्थित है। तांबे के खनन् तथा संबंधित कार्यों के कारण उत्तर पूर्व राजस्थान का महत्व है। ज्ञानेश्वर, जो 3 या 4 एकड़ से बड़ा क्षेत्र नहीं है, वहाँ से लगभग 2000 तांबा निर्मित साक्ष्य मिले हैं और जब ऐसे-ऐसे 83 घटनास्थल हों तो वहाँ पर तांबे के इस्तेमाल का अनुमान लगाया जा सकता है।

दक्षिण-पूर्व राजस्थान

पुरातत्वविदों ने दक्षिण पूर्व राजस्थान के तीन ताम्रपाषाणयुगीन क्षेत्रों–अहर, गिलुन्द तथा बलथल–का अध्ययन किया है, जो वहाँ की बनास, बेरॉच तथा उसकी सहयोगी नदियों द्वारा जल प्राप्त करते थे। नब्बे से अधिक अहर या बनास संस्कृति के स्थलों की संख्या है, जो उदयपुर, चित्तौड़गढ़, भीलवाड़ा अजमेर, जयपुर तथा टोंक जिलों में और मध्यप्रदेश के मंदसौर जिले में पायी गयी हैं। समान रूप से संस्कृतियों की गति दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व गिलुंद राजस्थान की ओर तथा बेरॉच एवं बनास की ओर उन्मुख थी। नदियों के किनारे अहर स्थल स्थित थे, जिनका आकार एक-दो एकड़ से लेकर दस एकड़ तक का था और दो भिन्न स्थलों के बीच की दूरी पांच से दस मील की थी। अहर संस्कृति की बड़ी विशेषता है-यहाँ के लोग तांबे की धातु-विद्या से परिचित थे। अहर में उपस्थित खनिज उरेहित मनका, लैपिस-लाजुली तथा रंगपुर जैसे आकर्षक लाल बर्तन इस बात को दर्शाते हैं कि इनका संबंध गुजरात स्थित हड़प्पा संस्कृति से रहा होगा। इस संस्कृति का विस्तार, मालवा की तरफ और दक्कन तक (जैसे अहर में महाराष्ट्र का जोरवे बर्तन) भी था। बहुत पहले अहर और गिलुंद की संस्कृतियों का उत्खनन (अहर 1953-54 और गिलंद 1959-60) हुआ था, किंतु हाल में उत्खनित बलथल (1994-98) ज्यादा साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

लोकतांत्रिक समाजवाद

डॉ. उमेश प्रसाद सिंह

राजनीति विज्ञान-विभाग, रामेश्वर महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर

लोकतांत्रिक समाजवाद आधुनिक समाजवाद की मुख्य विचारधाराओं में सर्वाधिक सफल है। जब इसकी व्याख्या अनेक ढंगों से की जा रही थी उस समय लोकतांत्रिक समाजवाद का प्रयोग मुख्यत: यूरोपीय संसदीय समाजवाद की संस्थाओं, नीतियों और सिद्धांतों को खत्म करने के लिए किया गया है। एशिया और यूरोप के देशों में व्यवहारत: लोकतांत्रिक समाजवाद के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। इस सिद्धांत की स्पष्ट परिभाषा यह मानी जा सकती है–''लोकतंत्रीय समाजवाद ऐसा राजनीतिक सिद्धांत है, जो समानता और स्वतंत्रता में विश्वास रखता है, अपने आदर्शों के अनुरूप समाज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मशीनरी को एक जागरूक तथा निर्देशित व्यवस्था देना चाहता है।''

साम्यवाद की तरह लोकतंत्र समाजवादी यूरोप की औद्योगिक क्रांति द्वारा उत्पन्न की गयी अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विद्रोह में आविर्भूत हुआ, जो एक ओर तकनीकी आविष्कारों का परिणाम था और दूसरी ओर जनसंख्या में वृद्धि का यह सिद्धान्त एक राजनीतिक सिद्धांत के रूप में आर्थिक क्रांति का परिणाम था, जो 19वीं सदी में अमेरिका में प्रारंभ हुई। लोकतंत्रीय समाजवाद का सिद्धांत अपनी ऐतिहासिक उत्पत्ति की दृष्टि से समाजवाद के सिद्धांत का ऋणी है जिसने उद्योगपति समाज के अन्यायपूर्ण व्यवहारों की कड़ी आलोचना की। इसके अन्तर्गत Trade Union नेता, फ्रांस के Utopian Thinker और Carl Marx भी आ जाते हैं।

इसके बाद यह सिद्धांत यूरोपीय देशों में लोकतंत्र के उदय का भी ऋृणी है। 19वीं सदी के अन्तिम भाग में समाजवाद, जो आर्थिक और राजनीतिक विचारकों का सिद्धांत था, वह जनता के राजनीतिक दलों का सिद्धांत बन गया। सन् 1900 ई. में लोकतांत्रिक समाजवादी दल जर्मनी, आस्ट्रिया, फ्रांस आदि देशों में बन गया। और इसके अतिरिक्त स्वतंत्र मजदूर वर्गों की पार्टियाँ भी बन गयीं।

लेकिन लोकतांत्रिक समाजवाद के सिद्धांत ने विशुद्ध लोकतंत्रीय समाजवाद का जन्म नहीं होने दिया। लेकिन रूस की राज्य क्रांति के बाद स्वत: लोकतंत्रीय समाजवाद का विकास होने लगा। सिद्धांत के स्तर पर समाजवादियों और साम्यवादियों के बीच खुले मतभेद का परिणाम है– लोकतंत्रीय समाजवाद का उदय। 1923 ई. में सर्वप्रथम एक स्वतंत्र और विशिष्ट राजनीतिक दर्शन के रूप में लोकतंत्रीय समाजवाद सामने आया।

1919 में समाजवादियों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, जिसमें समाजवादी दलों के आधार पर मार्क्सवाद को महत्वहीन बताया गया और यह कहा गया कि, ''समाजवाद से सम्बन्धित कोई भी मान्यता-प्राप्त समाज तब तक स्थापित नहीं हो सकता, जब तक वह लोकतंत्र की विजय तथा स्वतंत्रता के सिद्धांतों पर आधारित न हो।''

सिद्धांत और व्यवहार में लोकतंत्रीय समाजवाद का उदय 1930 के आर्थिक संकट के बाद एक निर्विवाद सत्य बन गया। इस सिद्धांत का मूलभूत चिन्तन क्रमबद्ध ढंग से लिखित नहीं है लेकिन इसका विश्वास है कि राजनीतिक कार्यों के लिए परिभाषित सिद्धांत आवश्यक हैं।

लोकतंत्रीय समाजवाद मनुष्य के महत्त्व पर बल देता है और कहता है कि सामूहिक कार्यों के द्वारा ही मनुष्य के अधिकार और उसके अवसरों की रक्षा तथा वृद्धि हो सकती है। समानता और स्वतंत्रता के जीवन-मूल्यों का महत्त्व व्यक्ति के संदर्भ में ही है इसलिए लोकतांत्रिक समाजवादी कहते हैं कि राजनीतिक क्रियाओं का विकास व्यक्ति के संदर्भ में ही हो सकता है।

प्रत्येक मनुष्य के पास योग्यताओं और शक्तियों के विभिन्न रूप होते हैं, लेकिन ये भिन्नताएँ महत्वहीन हैं जबकि सामान्य मानवता की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है। एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण गलत है। लोकतंत्रीय समाजवाद हर तरह के शोषण और अत्याचार का विरोध करता है।

यह भी स्पष्ट है कि मनुष्य की स्वतंत्रता और समानता में विश्वास और इन सिद्धांतों को समाज में लागू किया जाना, सभी लोकतंत्रीय समाजवादी मानते हैं। Oslo की घोषणा में कहा गया– "To us 6oth freedom and equality are precious and essential to human happiness. They are twin pillars upon which the ideal of human brotherhood rests."

लोकतंत्रीय समाजवादियों के अनुसार, स्वतंत्रता बिना समानता के नहीं रह सकती। और समानता के बिना स्वतंत्रता एक मजाक है। 1960 में Social Democratice Party ने कहा था कि समानता और स्वतंत्रता एक-दूसरे पर निर्भर हैं। यदि स्वतंत्रता केवल कुछ लोगों की सुविधा बने तो यह शक्तिशाली व्यक्ति की स्वतंत्रता और दुर्बल के लिए शोषण होगा। जब तक सभी व्यक्ति समान रूप से स्वतंत्रता का उपयोग न करें, तब तक वह सबको सुलभ नहीं हो सकती।

अब यह देखना आवश्यक है कि समानता और स्वतंत्रता से समाजवादियों का अभिप्राय क्या है? समानता से उनका अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ समान व्यवहार हो। स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के अनुसार समान अवसर मिलना चाहिए तथा उसे अपने ढंग से जीने की स्वतंत्रता हो।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सबको समान नैतिक परिस्थितियाँ मिले बल्कि यह है कि परिस्थितियों का अन्तर संकीर्ण रूप से सीमाबद्ध हो। लोकतंत्रीय समाजवादी कहते हैं कि शैक्षणिक सुविधा समान रूप से दी जाए। जब तक ऐसी समाज-व्यवस्था बन सकती है, जिसमें सबकी सामाजिक और आर्थिक प्रगति हो। इस प्रकार समानता का सिद्धांत समाज के किसी वर्ग को अन्याय और पक्षपात की दृष्टि से नहीं देखता है। लोकतांत्रिक समाजवादियों का दूसरा मुख्य उद्देश्य है प्रत्येक व्यक्ति को उच्च से उच्चतर स्तर की स्वतंत्रता देना, लेकिन स्वतंत्रता का अर्थ स्वछन्दता का लाइसेन्स नहीं है। इसका अर्थ किसी को मारने, उसका शोषण करने और उसे उसकी स्वतंत्रता से वंचित करने की स्वतंत्रता नहीं है। इसका अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन को अपने ढंग से जीने और उसके उत्तरदायित्व वहन करने की स्वतंत्रता इस सीमा तक होगी, जिससे दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता को भी समान स्थान दिया जा सके।

सरकार का काम है व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा उस समय तक करना जब तक दूसरे की स्वतंत्रता का अपरहण नहीं हो या उसकी कीमत पर नहीं हो। यहीं पर लोकतंत्रवादी साम्यवादियों से असहमत होते हैं। सरकार को राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिए। राजनीतिक स्वतंत्रता के अन्तर्गत कुछ अधिकार आते हैं–ऐसी सरकार को स्वतंत्र रूप से चुनना, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से भाषण की स्वतंत्रता। साथ ही विरोधी दल को सुसंगठित रूप देना जो सरकार की आलोचना करते हुए उसके विकल्प भी बन सके। इसलिए उन्होंने रूस में स्टॉलिन की सरकार, हिटलर की सरकार का विरोध किया है तथा पुर्तगाल और दक्षिणी अफ्रीका की राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना की। सरकार का काम सिर्फ राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा करना नहीं है वरन् उसकी सीमाओं को विस्तृत करना भी है।

लोकतांत्रिक समाजवादियों का कहना है कि आर्थिक स्वतंत्रता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थविहीन है। गरीबी सरकार के चुनाव को सीमित कर देती है और आर्थिक उन्नति इसे बढ़ा देती है। अन्तिम रूप से यह सरकार का ही उत्तरदायित्व है कि समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति उन्नत हो।

इसके अतिरिक्त लोकतंत्रीय समाजवाद देश के सजग और निर्देशित वर्ग से सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक मशीनरी के नियंत्रण में विश्वास करता है। यदि समानता और स्वतंत्रता की दिशा में समाज को ले जाना है तो अर्थ-व्यवस्था का नियंत्रण उद्योगों में लोक-स्वामित्व, कर-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था और समान शिक्षा-व्यवस्था के द्वारा सरकार का अधिक-से-अधिक हस्तक्षेप अनिवार्य है। इसलिए लोकतांत्रिक समाजवादी वैज्ञानिक पद्धति के सभी स्रोतों को अपनाने के लिए तैयार है जिससे वे उसके आदर्श व्यवहार रूप में परिणत हो सके। लेकिन चूँकि वास्तविकतावादी हैं इसलिए वे विभिन्न प्रकार की सामाजिक क्रियाओं में कुछ विशेष को चुन लेते हैं। सभी सीमाओं के बावजूद वे साधनों को लक्ष्य से अलग नहीं होने देना चाहते हैं। साधनों और पद्धति के विषय में वे जनता के सहयोग और निवार्चकों की मांग को महत्त्व देते हैं।

लोकतांत्रिक समाजवाद नौकरशाही प्रणाली के विरुद्ध है और यह सर्वसत्तावादी राज्य व्यवस्था के भी विपरीत है। यह शक्ति और उत्तरदायित्व की मांग करता है। यह विकेन्द्रीकरण को लोकतंत्र का आवश्यक आहार समझता है। लेकिन इसके अनुसार

विकेन्द्रीकरण को समन्वय की पद्धति से जुड़ा होना चाहिए। यह विकेन्द्रीकरण प्रशासन के साथ-साथ आर्थिक क्षेत्र में भी होना चाहिए। लोकतंत्रीय समाजवादी यह कहता है कि समाज की अर्थ-व्यवस्था में सभी मानवीय और भौतिक साधनों का पूर्ण उपयोग होना चाहिए, जिससे धन की अधिकतम उत्पत्ति हो और मानव-कल्याण में उपलब्धि हो। इसलिए वे राष्ट्रीय उद्योगों के नियंत्रण में मजूदरों के सहयोग को अत्यावश्यक मानते हैं।

लोकतंत्रीय समाजवाद यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन के विकास के लिए कुछ अधिकार प्राप्त हैं, साथ ही काम करने का उत्तरदायित्व भी। सभी मानवीय सामाजिक अधिकार विकासवादी तथा कार्यात्मक Functional है और वे सामाजिक आज्ञाकारिता से जुड़े रहते हैं।

लोकतांत्रिक समाजवाद सामाजिक और आर्थिक क्रांति ही नहीं वरन् सांस्कृतिक आंदोलन भी है। यह संस्कृति को सामाजिक धर्मशास्त्र मानता है। सभी संस्कृतियों को आपस में जोड़कर और उन्हें डालकर वह सांस्कृतिक विकास लाना चाहता है।

लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन होने के कारण विश्व-स्वतंत्रता, शांति और विकास का आदर्श है। एक ऐसा विश्व-समाज, जो स्वतंत्रता एवं समानता के आदर्शों पर निर्भर हो, मौलिक मानवीय अधिकारों और मानवीय उन्नति पर निर्भर हो, उनकी स्थापना चाहता है। लोकतांत्रिक समाजवाद आर्थिक एवं सामाजिक अन्तर समाप्त कर जन-आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये राज्य को अधिकार देता है। इसमें नागरिकों की सहभागिता, उचित उत्पादन के साथ उचित वितरण-व्यवस्था तथा शिक्षा में वृद्धि को महत्व दिया जाता है। यह शोषण-मुक्त समानता पर आधारित समाज की कामना करता है। लोकतांत्रिक समाजवाद समाज में सहयोग एवं सद्भावना का पोषक है। यह मानता है कि व्यक्ति-स्वतंत्रता अनिवार्य है परन्तु स्वच्छंदता नहीं होनी चाहिए। अधिकार एवं कर्तव्य दोनों का पालन करना मनुष्य का उत्तरदायित्व है।

पंचायती राज एवं अफसरतंत्र

डॉ. पूनम कुमारी

व्याख्याता, राजनीतिविज्ञान-विभाग, राजेन्द्र महाविद्यालय, छपरा (बिहार)

स्वाधीनता पश्चात् निचले स्तर पर लोकतंत्र स्थापित करने का प्रश्न बहुत जोरों पर था। संविधान सभा में इस विषय पर काफी विचार-विमर्श हुआ। इसके पश्चात् इसे राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व के अनुच्छेद 40 में समाहित किया गया जिसमें यह निर्दिष्ट किया गया कि राज्य ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए अग्रसर होगा तथा उनको ऐसी शक्तियाँ और प्राधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने के योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो। राज्य अपने-अपने ढंग से पंचायती राज को लागू करते रहे। केन्द्र सरकार पंचायती राज की स्थिति जानने के लिए समय-समय पर समितियाँ बनाती रही, जिनमें बलवंत राय मेहता समिति, अशोक मेहता समिति एवं सिंघवी समिति प्रमुख हैं।

पंचायती राज में ग्रामीण समाज में परिवर्त्तन लाने की भूमिका के बारे में काफी आशाएँ बँधी थी परंतु वैसी सफलता इसे प्राप्त नहीं हुई। पंचायत संबंधी बलवंत राय मेहता समिति तथा अशोक मेहता समिति की सिफारिशों को लागू करने के बाद भी देश में विकासात्मक काम की अनेक खामियाँ पंचायती राज प्रणाली को प्रभावित करती रही है। पंचायत के चुनाव कराने में काफी विलम्ब, पंचायतों को बार-बार निलम्बित, अधिक्रमित एवं विघटित किया गया। कार्यात्मक और वित्तीय स्वायत्तता की कमी रही। सीमान्त और कमजोर वर्गों का प्रतिनिधित्व काफी कम रहा। यदा-कदा प्रतिबंधित सरकारी अनुदान दिया गया। पंचायतों के काम में बाधा पहुँची तथा उन्हें स्थानीय स्तर पर काम करने की स्वतंत्रता नहीं मिली जैसा कि संविधान के अनुच्छेद–40 में परिकल्पना की गई थी।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने ब्रिटिशकालीन प्रशासनिक ढाँचे में ज्यादा आधारभूत परिवर्त्तन नहीं किया। सरकार द्वारा प्रायोजित सामुदायिक विकास कार्यक्रम ने ग्रामीण विकास के लिए नयी प्रशासनिक इकाईयों की स्थापना की आवश्यकता महसूस की जिसके फलस्वरूप सामुदायिक विकास प्रखण्डों की स्थापना की गई। इस खण्ड का मुख्य प्रशासक प्रखण्ड विकास पदाधिकारी को बनाया गया है, जिसे प्रखण्ड-स्तर पर विकास-कार्यों की जिम्मेदारी सौंपी गई परन्तु विभिन्न अध्ययनों से ज्ञात होता है कि प्रखण्ड विकास पदाधिकारी पद ने प्रखण्ड-स्तर पर सक्रिय जन सहयोग प्राप्त करने की अपेक्षा प्रशासनिक शक्तियों में उपयोग करके जन-सहयोग की समस्याओं को और अधिक जटिल बना दिया।

आर्थिक नीतियों को तो उदार बनाया गया लेकिन अफसरशाही को उदार एवं उद्यमी बनाने की कोई गंभीर कोशिश नहीं की गयी इसका नतीजा कामचोरी एवं भ्रष्टाचार हमारे सामने है। हमारी गिनती दुनिया के पिछड़े देशों में होती है। देश की इस बदहाली के लिए नौकरशाही का वह ढांचा जिम्मेदार है जिसे पाने के बाद भी हमने बदला नहीं। ब्रिटिश पद्धति पर आधारित इस अफसरशाही ढांचे में अफसरों की शान सबसे ऊपर है। अपने साम्राज्य को बनाये रखने के लिए अंग्रेजों ने अफसरशाही को जो ताकत दी थी उस ताकत के सहारे अफसरों ने सारे अधिकर हड़प लिए।

पंचायती राज निकायों के अधिकांश कर्मचारी राज्य सरकारों के विभागों के नियमित संवर्ग से लिए जाते हैं। उनमें पंचायती राज की नई व्यवस्था में लोगों की स्वैच्छिक भागीदारी प्रदान करने के लिए अपेक्षित कार्यकुशलता और मनोवृत्ति का आभाव है। पंचायती राज संस्थाओं के स्थानांतरित नौकरशाही विकास-कार्यों को शुरू करने के लिए आमतौर पर उपयुक्त नहीं। उन्हें केवल शासन और व्यवस्था की समस्याओं से निपटने का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके अलावा वे जनता के निर्वाचित

प्रतिनिधियों से आदेश लेने में कतराते हैं। इसके परिणामस्वरूप जन-प्रतिनिधि और नौकरशाही के बीच लगातार खींचातान रहती है, जिससे समुचित विकास नहीं हो पाता।

प्रशासनिक और राजनीतिक दाव पेच के वातावरण में विकास प्रशासन दम तोड़ रहा है। प्रखण्ड-स्तर पर क्रियान्वित विकास कार्यक्रमों में रिश्वतखोरी फैल गयी है। सरपंच, प्रधान और विकास पदाधिकारी विकास योजनाओं की रकम का बहुत बड़ा भाग हड़प जाते हैं। सरकारी कर्मचारी विकास-कार्यक्रमों को निजी स्वार्थसिद्धि का साधन समझते हैं।

भारत में विकास प्रशासन इन समस्याओं में उलझ गया है कि जनता के समक्ष अपनी तस्वीर बिगाड़ बैठा है। इसकी आधारभूत इकाई पंचायती विकास में रुकावट की वस्तु बनकर रह गयी हैं। प्रशासन समाज के कमजोर वर्गों को लाभ पहुँचाने में असफल रहा है। भारतीय विकास प्रशासन में लगी नौकरशाही में अनेक दोष हैं जिससे विकास-कार्यक्रमों से संबंधित फल की प्राप्ति नहीं हो सकी है। प्रखंड विकास पदाधिकारी नौकरशाही प्रवृत्तियों से ग्रस्त हैं। उच्चाधिकारियों में अनुत्तरदायित्व एवं लालफीताशाही आदि दुर्गुणों के चलते भारतीय प्रशासन सफलता की वांछित रफ्तार नहीं पकड़ सका है।

भारत के लिए आर्थिक समृद्धि का प्रतीक गाँव हैं। देश तभी फलेगा-फूलेगा जब उसकी आत्मा के रूप में गाँव की प्रगति हो। गाँव का सर्वांगीण विकास पंचायतों के माध्यम से ही सम्भव है। विकासशील देशों में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्त्तन लाने का बहुत कुछ दायित्व नौकरशाही के कन्धों पर होता है इसलिए नौकरशाही को विकास के यंत्र के रूप में बदलने की आवश्यकता है। इसको प्रभावी बनाने के लिए कई सुझाव हैं।

राज्य स्तरीय नौकरशाही को प्रधानत: विकास-संबंधी नवीन कार्यों का भार वहन करना पड़ता है। अत: गुणात्मक एवं संख्यात्मक दृष्टि से उन्हें पर्याप्त शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता है जिससे वे विकास-कार्यों का सम्पादन करने का वांछित यंत्र सिद्ध हो सके।

विकास-कार्यो में जन-सहभागिता बढ़ाने वाली संस्थाओं के सुझावों को अधिक मान्यता मिलनी चाहिए तथा पंचायत को प्रशासनिक यंत्र के रूप में विकसित करना चाहिए, न कि राजनीतिक संस्था के रूप में। शिक्षा, कृषि, कुटीर उद्योग, स्वास्थ्य, आदि क्षेत्रों में स्वयंसेवी संस्थाओं के सहयोग को स्वीकार किया जाना चाहिए।

अधिकारियों को पंचायतों के मित्र, दार्शनिक, और पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करना चाहिए। पंचायती राज संस्थाओं के प्रति राज्य सरकारों तथा जिला अधिकारियों का उदासीन होना उनके लिए घातक सिद्ध होगा। राज्य सरकार उनके तकनीकी अभिकरणों तथा जिला अधिकारियों को पंचायती राज संस्थाओं को मार्ग-निर्देशन कर प्रोत्साहन देता रहे।

उन्हें जनता को अधिकतम सुविधा देने का मौका देने वाले शिक्षकों का कार्य करना है। इसके साथ ही उन्हें अहंकार व उच्च वर्गों की खोखली धारणाओं को त्याग देना चाहिये।

प्रशासन को जटिल प्रक्रिया के घेरे को तोड़कर उद्देश्यपरक बनाना होगा। तभी हमारी विकास योजनाओं के केन्द्र-बिन्दु, गरीबों और पिछड़ों, का सामाजिक और आर्थिक उत्थान हो सकेगा। प्रशासन को उस दिशा में उन्मुख बनाने के लिए आवश्यक है कि प्रक्रिया को उद्देश्य न मानकर उपलब्धि के मूल्यांकन को आधार बनाया जाए, प्रशासन को उपलब्धि की जिम्मेदारी दी जाए लक्ष्य और उपलब्धि को प्रचारित किया जाए तथा लाभार्थी को सहभागी बनने का मौका दिया जाए।

73 वें संविधान संशोधन अधिनियम ने मजबूत तथा सशक्त पंचायती राज संस्थाओं की नींव रखी है जो ग्रामीण विकास और सामाजिक न्याय सहित आर्थिक विकास के कार्यक्रमों में लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करने के प्रभावी तंत्र के रूप में काम करने लगी है। पंचायती राज के नये प्रतिमान की सफलता इस बात पर निर्भर है कि इन्हें प्रभावी तरीके से चलाने में नौकरशाही की भूमिका कितनी सहयोगी एवं सार्थक है।

देश में सूचना का अधिकार, कानून का लागू होना इस विषय में एक क्रांतिकारी कदम है। इससे न केवल भ्रष्टाचार रुकेगा बल्कि आम जनता को जानकारी भी मिल सकेगी। आशा है, इससे हमारे लोकतंत्र को और मजबूती मिलेगी। लेकिन यह सही मायनों में तभी लाभदायक सिद्ध होगा जब इसके माध्यम से व्यवस्था में सहभागिता बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त हो।

संदर्भ सूची

1. संविधान 73वाँ संशोधन अधिनियम 1992
2. बिहार पंचायती राज अधिनियम, 1993
3. बिहार पंचायती राज अधिनियम, 2006
4. बी. एल फड़िया, भारत में लोक प्रशासन, साहित्य भवन, आगरा।
5. चेतकर झा, भारतीय स्थानीय स्वशासन, नोवेल्टी एण्ड कम्पनी, पटना।
6. उमेश प्रसाद सिंह, पंचायती राज-व्यवस्था में पंचायत समिति की भूमिका, राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

अलगाव की अवधारणा - एरिक फ्रॉम, राबर्ट ए निस्बेट तथा हरबर्ट मारक्यूज के चिंतन के विशेष संदर्भ में

अशोक राम

व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग, चतरा महाविद्यालय, चतरा, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग

सी. पी. शर्मा

आचार्य, स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान विभाग, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग

अलगाव की अवधारणा का मूल पराभौतिक शास्त्रों में मिलता है जो धीरे-धीरे पश्चिमी चिंतन में प्रगतिशील धर्मनिरपेक्षता में दृष्टिगोचर हफआ। सबसे पहले हम इस संकल्पना को दर्शन के इतिहासकार प्लोटिनस तथा उनके समकालीन चिंतकों के कृतियों में पाते हैं, जो परम सता से सीमित विविधता के बीच शोभा यात्रा की उत्पति के सिद्धांत के रूप में वर्णित है। ये नवप्लेटोवादी चिंतक तत्कालीन ईसाई धार्मिक परम्पराओं के कुछ सिद्धांतों का विरोध करते हैं। बाद में हेलेनेस्टिक युग में ईसाई और नवप्लोटोवादी विचारों का समावेश होता गया। अलगाववाद इस प्रारम्भिक दौर में धार्मिक दृष्टिकोणों से विरक्ति का द्योतक है। जैसे-जैसे समाज का स्वरूप बदलता गया, आत्मविरक्ति की संकल्पना में भी बदलाव आया।[1] मैसजॉस के अनफसार अलगाव मफख्यत: ऐतिहासिक संकल्पना है उनके अनुसार अगर व्यक्ति विच्छिन्न है, तो जरूर किसी चीज से और किसी कारण से होगा। यह घटना और उस परिस्थिति की प्रतिक्रिया है जिसमें मानव अलगाव महसूस करता है। इस प्रकार यह ऐतिहासिक संरचना की सम्पुष्टि करता है।[2]

वर्तमान समय में अलगाव की अवधारणा पुनर्जागरण काल की उपज है जिसने मध्यकालीन मूल्यों की तंद्रा को तोड़ कर मानवीय अस्मिता और गरिमा को प्रतिस्थापित किया और औद्योगिक क्रांति के कारण नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ। यूँ तो अलगाव की संकल्पना तरूण मार्क्स की एक महत्वपूर्ण कृति ''इकॉनॉमिक एण्ड फिलोसॉफिकल मैनुस्क्रिप्टस ऑफ 1844'' में मिलती है, जिसमें मार्क्स ने हीगल के आत्मीय विरक्ति को "युररबाक के भौतिकवाद से मिलाकर विकसित किया था। मार्क्स ने मानव सभ्यता की विकास यात्रा की व्याख्या करने के क्रम में पूँजीवादी समाज में मजदूरों के दैनिक जीवन में उसके काम करने की वस्तुएँ, सहयोगी समाज तथा प्रकृति से जो विरक्ति उत्पन्न होती है इन सभी के समाधान के लिए मानवीय ढंग से गुहार लगाई है। यह कृति बहुत समय तक प्रकाश में नहीं आई थी। बीसवीं शताब्दी के पहले और दूसरे दशकों में सर्वप्रथम हंगरी के मार्क्सवादी विचारक जार्ज ल्यूकाच ने पूँजीवादी समाज में परायेपन और जडवस्तुकरण पर एक लेखमाला लिखी थी। ल्यूकाच ने अलगाव की संकल्पना अपनी प्रेरणा और सूझ-बूझ में विकसित किया था। बाद में जब मार्क्स की अज्ञात पाण्डुलिपियाँ प्रकाशित हो गई और उनकी विस्तृत चर्चा होने लगी और इस प्रकार अलगाव की संकल्पना सामाजिक विज्ञानों का एक महत्वपूर्ण बिन्दू हो गया।

वर्तमान राजनीति चिंतकों में ऐरिक फ्रॉम, रॉबेट ए. निस्बेट और हरर्बट मारक्यूज ने इस विषय पर गंभीर चिंतन किया है। ऐरिक फ्रॉम पश्चिमी तकनीकी सभ्यता का एक विश्लेषक है जो कभी मानववादी मार्क्सवाद और कभी नवफ्रायडवादी विचारक के रूप में सामने आते हैं।

एरिक फ्रॉम मानते हैं कि समकालीन समाज में आधुनिकता ही सामाजिक और राजनीतिक विसंगति का मूल कारण है। आधुनिकता में व्यक्ति अपने आप को असहाय, अकेला और विलग पाता है। फ्रॉम विश्वास करते हैं कि आधुनिक समाज में राज्य ही अलगाव का मुख्य कारण है।[3] यह अलगाव आदमी को इतना असहाय बना देता है कि उत्पादन के साधन बना देने के क्रम में उसके चरित्र को नीरस, उबाऊ तथा अमानवीय बना देता है। पूँजीवाद मनुष्य के मस्तिष्क को ऐसा स्वरूप प्रदान करता है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही खो जाता है। यह व्यक्ति को उपभोक्ताजन्य दृष्टि प्रदान करता है जिससे उसका काम उबाऊ तथा जटिल हो जाता है। इस प्रकार उसमें मनोवसाद तथा अलगाव का भाव विकसित होता है। वह सोचने लगता है कि वह एक वस्तु की तरह है, जिसे बाजार में खरीदा एवं बेचा जा सकता है। वह अपने चारो तरफ शक्तिशाली व्यवस्था से विद्रोह करने में असमर्थ पाता है। वे इस बात पर जोर नहीं देते हैं कि यह संक्रान्ति एक सभ्य समाज को प्रभावित कर सकता है।

एरिक फ्रॉम ने प्रत्येक व्यक्ति को उसका साध्य माना है। कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की धनलिप्सा, अमानवीय सत्ता या शोषण का यंत्र नहीं है। अलगाव का भाव पैदा करने की जगह समाज को चाहिए कि वह रचनात्मकता, वैयक्तिकता, विवेक तथा सौहार्दपूर्ण जीवन का विकास करे।[4] इस प्रकार फॉम सामुदायिक समाजवाद की वकालत करते हैं। वे चाहते हैं कि आर्थिक स्तर पर एक ऐसी व्यवस्था हो जिसमें केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीयकरण का सामंजस्य हो, राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर समाज में व्यावसायिक आधार पर छोटे-छोटे समूहों में विभाजन हो, इस समूह के लोग धार्मिक अवसरों पर एक साथ समय बितायें तथा सामान्य कलात्मक क्रियाकलापों में समान रूप से भाग लें। इस प्रकार फॉम एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करते हैं, जो सभ्यता के अमानवीय कारकों पर प्रहार करता है तथा सामान्य समाज में आधुनिक मानव की अलगाव की समस्या का समाधान करता है।

फ्रॉम सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत के प्रतिपादन करने की अपेक्षा श्रेणी समाजवादी चिंतन की तरु लौटना चाहते हैं। वे लाभ के उत्पादन की अपेक्षा आवश्यकता की उत्पादकता पर जोर देने वाले अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन पर जोर देते हैं। वे उद्योगों में मजदूरों की सहभागिता की वकालत करते हैं। यह अलगाव की समस्या का आर्थिक समाधान है। राजनीतिक स्तर पर वे सरकार के विकेन्द्रीकरण तथा नगर सम्मेलन की पुनर्स्थापना की वकालत करते हैं।

फ्रॉम का औद्योगिक समाज का विश्लेषण कई सन्दर्भों में अपर्याप्त है। सर्वप्रथम, वे यह स्पष्ट नहीं कर पाते हैं कि वह अपने आप को सरलता से कैसे परिवर्तन करें ताकि प्रबंधन को बल मिले। वे यह भी नहीं बताते हैं कि पश्चिम के विकसित देशों में मजदूर वर्गों के ऊपर किये जाने वाले एकाधिकारवादी आदेशों को कैसे तितर-बितर करें। दूसरा, वे यह स्पष्ट नहीं करते हैं कि उत्पादन के तरीकों में क्या परिवर्तन किया जाए ताकि व्यक्ति की क्षमता में परिवर्तन आये। अंतत:, वे इस बात पर भी जोर नहीं देते हैं कि सामाजिक विश्लेषण किस दिशा में जा रहा है। खासकर तब जब मनुष्य अनिश्चितता एवं असुरक्षा के साथ जीना सीख लिया है। इस संदर्भ में मीहान ने ठीक ही कहा है कि ''फ्रॉम के पास विश्वास है, कार्यक्रम है पर कोई तर्क नहीं है'' [5]

प्रमुख अमेरिकी समाजशास्त्री रार्बट निस्बेट ने समाज से मनुष्य के अलगाव की समस्या पर जोर दिया है। उसके अनुसार अलगाव मस्तिष्क की वह अवस्था है जो उसे सामाजिक स्तर पर दुरान्त, एकान्त, दुर्बोध, वास्तविक इच्छा से परे असहजता, परजीविता आदि की तरु ले जाता है।[6] निस्बेट फ्रॉम के विपरीत अलगाव का मूल, समाज के पूँजीवादी संरचना की जगह आधुनिक सम्प्रभु राजनीतिक समाज में ढूँढते है। निस्बेट के अनुसार आधुनिकीकरण शक्तिशाली सम्प्रभु, केन्द्रीय सत्ता के द्वारा राज्य और व्यक्ति के बीच विभिन्न हस्तक्षेपी समूहों के प्रतिस्थापना का कारण माना जाता है। समाज के सभी प्राथमिक समूह जिससे प्रारम्भिक दौर में सभी व्यक्ति सुरक्षित महसुस करते थे आज मृतप्राय हो गये हैं। आज राज्य व्यक्ति से इतना दूर हो गया है कि व्यक्ति के निजी अनुभवों को वह महसूस नहीं करता है। निस्बेट समाज में छोटे संगठनों को उत्साहित करना चाहते हैं, परस्पर मैत्रीभाव, आदर एवं उत्तरदायित्व का विकास करना चाहते हैं ताकि मनुष्य अपने नैसर्गिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके तथा सामाजिकता का विकास कर सुरक्षित एवं खुशी महसूस कर सके। असुरक्षा तथा चिंता की समस्या समकालीन साहित्य का मूल केन्द्र है। निस्बेट मानते हैं कि आधुनिक मानव नीरस हो गया है।

निस्बेट एकमात्र विचारक हैं जो छोटी सी छोटी चीजों में आचारशास्त्रीय महत्व ढूँढते हैं। वे देखते हैं कि मनुष्य सतत् मानसिक संघर्ष की अवस्था में जीता है जो अपनी जाति, वर्ग तथा समूह में अपनी पहचान बनाना चाहता है। वे पाते हैं कि मनुष्य इस शाश्वत प्रश्न का कि ''मैं कौन हूँ मैं क्या हूँ'' का उत्तर ढूँढ़ने में उलझ जाते हैं।[7] निस्बेट मानते हैं कि समूह इस वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में अपने मूल अवस्था से तथा समाज से अलग हो गया है। जिसके कारण उसका जीवन दुखी हो गया। इस प्रकार का अलगावपूर्ण समूह सर्वाधिकारवादी सत्ताओं को सहज आकर्षित करता है, क्योंकि वह व्यवस्था उन लोगों को एक नया कार्य स्थिति तथा उत्तरदायित्व प्रदान करता है।निस्वेट समकालीन समाज की समालोचना के सन्दर्भ में अलगाव की समस्या का समाधान सामाजिक बहुलवादी स्वायतता के रूप में प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण तथा रूढ़िवाद की अपेक्षा अर्थपूर्ण सामाजिक अवस्था के निर्माण में ढूँढते हैं।

मारक्यूज ने नयी पीढ़ी तथा पश्चिमी नव-वामपंथी आंदोलन को काफी प्रभावित किया है। उन्होने अलगाव की समस्या पर गहन चिंतन किया है। मारक्यूज समाज की पुनर्व्याख्या करने के लिए मार्क्स के द्वन्द्ववाद की पद्धति को स्वीकार करते हैं, परन्तु गहरे अर्थ में मार्क्स से विभेद रखते हैं। मारक्यूज हीगलवादी आदर्शवाद के द्वन्द्ववाद के समर्थक हैं और वकालत करते हैं कि मार्क्स के सर्वहारा के अधिनायकवाद की जगह प्रबुद्धों के अधिनायकवाद की स्थापना होनी चाहिए।

मारक्यूज उत्तर-औद्योगिक युग में औद्योगीकरण के भौतिकवादी लाभ का आशापूर्ण दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। उनका विचार है कि जब विपन्नता पर विजय पा लिया जाएगा, तब समाज परिपक्व अवस्था में आ जायेगा। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य को यथाशीघ्र एक अदमनकारी सम्पन्न सभ्यता का निर्माण करना चाहिए जिसमें व्यक्ति अपनी रचनात्मकता एवं स्वाभाविक संवेगों की पूर्ति कर सके तथा मानव और प्रकृति के बीच सामंजस्य कराने वाली एक उच्च सभ्यता का निर्माण हो सके।

इस तरह की सभ्यता के निर्माण में लाभ के लिए पूँजीवादी इच्छा मुख्य बाधा है। मारक्यूज इसे अतिरिक्त दमन कहते हैं जो कुछ लोगों के द्वारा समाज में उत्पादन की वस्तुओं पर वर्चस्वता हासिल करने की लालसा से पैदा होता है। मारक्यूज मानते हैं कि इस प्रकार का अतिरिक्त दमन विपन्नता को हटाने तथा मनुष्य को स्वतंत्र कर देने के बाद ही हटाया जा सकता है।[8]

मारक्यूज के अनुसार पूँजीवाद तथा साम्यवाद दोनों ने ही मानव व्यक्तित्व का विनाश किया है। सोवियत यूनियन में स्थापित मार्क्सवाद ने प्रोटेस्टेंट नैतिकता का दमन किया है, विपन्नत को आधार मानकर सामाजिक प्रक्रिया का विश्लेषण किया है और इस प्रकार सिद्ध किया है कि यह एक नये दमन को जन्म दिया है। मारक्यूज विश्वास करते हैं कि तकनीकी विकास वर्चस्वता तथा समायोजन की व्यवस्था पर अपना प्रभाव बढ़ाया है। आधुनिक औद्योगिक समाज मूलत: सर्वाधिकारवादी व्यवस्था है क्योंकि उत्पादन के साधन सामाजिक आवश्यकताओं की क्षमता एवं प्रवृतियों का ही निर्धारण नहीं करते हैं बल्कि व्यक्तिगत आवश्यकताओं और प्रेरणा का निर्धारण भी करते हैं।

मारक्यूज ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ''वन डाइमेन्शनल मैन'' में दिखलाया है कि कैसे मानव समूह हो पथभ्रष्ट तथा कल्पना लोक में बहकाया जाता है। वास्तविकता में जो वे सहजतापूर्वक जीते हैं, वह एक लोकतांत्रित परतंत्रता है। मारक्यूज तर्क देते हैं कि औद्योगिक समाज मनुष्य के प्रतिरोध करने की इच्छाशक्ति को नष्ट करता है, सामाजिक अन्तर्द्वन्द्व को मिटा देता है तथा पूँजीपति वर्ग तथा श्रमिक वर्ग के आंदोलन को घरेलू जीवन का अंग बना देता है। श्रमिकवर्ग व्यवस्था का अंग बनकर तथा बढ़ती उत्पादकता की माँग पर राजी होकर व्यवस्था का संरक्षण करना चाहते हैं। डेनियल बेल तथा लिपसेट के विपरीत मारक्यूज दमन के किसी भी प्रयोग के नये समाधान का तिरस्कार करते हैं। वे व्यवस्था के नये यंत्र या निवेशित लाभ में कुशलता से काम में लाने से नैसर्गिक दास हो गये हैं।

मारक्यूज के दृष्टिकोण से प्रजातांत्रिक व्यवस्था सर्वाधिकारवादी व्यवस्था से अधिक हानिकारक होता है। सर्वाधिकारवादी व्यवस्था शक्ति पर टिकी होती है, जबकि प्रजातांत्रिक व्यवस्था मनुष्य की अस्वभाविक मानसिक अवस्था पर टिकी होती है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था बोलने की स्वतंत्रता ही देता है परन्तु वर्चस्वतावादी मालिकों में किसी एक को चुनने की स्वतंत्रता ही देता है। यह एक नियंत्रित प्रक्रिया में स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा की व्यवस्था का समर्थन करता है। वह वस्तुओं के स्वतंत्र चयन प्रक्रिया प्रदान करता है, जो अलगाव का प्रतीक है। सभी मनुष्य व्यवस्था, सत्तासीन अभिजनवर्ग तथा धनी वर्ग से नियंत्रित होते हैं। उनको

ऐसा विश्वास दिलाया जाता है कि उनका गुलामी ही स्वतंत्रता है। यह नियंत्रण मानव समूह को इस तरह से प्रभावित करता है कि वह एक-आयामी चिंतन की परिधि में ही अभिभूत हो जाता है। संचार के साधन की सतत् सर्वदा प्रतिक्रिया से व्यक्ति जीवन के काल्पनिक स्वरूप को शाश्वत जीवन की पद्धति मान लेते हैं। इस प्रकार आधुनिक मानव एक-आयामी मानव हो गया है। वह मानव जीवन के तत्कालीन चिंतन तथा स्वरूप की वर्चस्वता को स्वीकार कर लेता है और जीवन की दुखद परिस्थिति के प्रति सुधारवादी जागरूकता के प्रति उदासीन हो जाता है।

मारक्यूज का विश्वास है कि अदमनकारी सभ्यता की स्थापना संभव है, यह एक ऐसा शाश्वत स्वतंत्र समाज होगा जिसमें व्यक्ति के आत्मीय चिंतन-मनन के द्वारा प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित होगा। हिंसा और दमनकारी कार्य समाप्त होंगे, मानवता सभ्यता के उत्तुंग शिखर पर विराजमान होगी, जहाँ श्रम अभिनय के रूप में होगा तथा उत्पादन उसका प्रदर्शन होगा, शारीरिक सुख विवेक से आच्छादित होगा और सारा समाज अपनी आवश्यकता की पूर्ति करते हुए मूल्यों की प्रतिस्थापना करेगा।[9] इस स्वच्छ स्वतंत्र नैसर्गिक समाज की प्रतिस्थापना के लिए मारक्यूज सशक्त उदात्त समाज की स्थापना तथा क्रांति की संस्तुति किया है जो इसके वस्तुनिष्ठ सत्य को प्रतिस्थापित कर सके। इस प्रकार के क्रांति का आह्वान करने वाले अभिकरण में बहिष्कृत व्यक्ति तथा वाह्य समाज, दूसरी जाति तथा संस्कृति से अत्याचार पीड़ित तथा शोषित लोग, बेरोजगार तथा भूमिहीन व्यक्ति तथा विकसित औद्योगिक समाज में सरकारी नौकरशाही के विरूद्ध संघर्ष कर रहे लोग शामिल होंगे। [10]

मारक्यूज छात्र आंदोलन, उसकी कार्यशैली, उसके मूल्य तथा भाषा आदि से अत्यंत प्रभावित हैं। ये उदारवादी बुर्जुआ समाज के मूल्यों को नहीं मानते हैं। यद्यपि इस प्रकार के छात्र आंदोलन अपने आप में क्रांतिकारी नहीं है फिर भी मारक्यूज यह मानते हैं कि वे क्रांतिकारी आंदोलन के अग्रदूत हैं या क्रांति के पहले का शांतिदूत हैं। इस प्रकार के छात्र आंदोलन युवाओं में क्रांतिकारी मानसिकता के निर्माण तथा उपयोगी कार्यशैली का विकास करते हैं जो समाज के विरूद्ध क्रांति के लिए नेतृत्व का निर्माण करती है।

मारक्यूज वर्तमान समाज में एक आयामी मनुष्य के मूल्यों के महत्व को मिटाने के लिए एक नयी चिंतनधारा के विकास पर जोर देते हैं। जबतक ऐसा करने में आधुनिक मानव सफल नहीं हो जाता है वह समकालीन वर्चस्वतावादी मूल्यों के सामने घुटने टेकता रहेगा।

इस प्रकार सामाजिक वैज्ञानिकों को अत्यधिक केन्द्रित राज्य संरचना तथा औद्योगिक समाज में विच्छिन्न मनुष्य को केन्द्र में रखना होगा। उन्हें विश्व में प्रचलित जटिल राजनीतिक, आर्थिक संरचना तथा वृहत स्तर पर औद्योगीकरण के संदर्भ में मनुष्य की कार्यप्रणाली का अध्ययन करना होगा। मार्क्स के अलगाववाद की अवधारणा तकनीकी समाज के संदर्भ में सम्पूर्ण मानव जाति के लिए समकालीन समय में भी प्रासंगिक है। वर्तमान समय में अलगाव मानव जाति के एक बड़े समूह के लिए नियति जैसा हो गया है। आज कौशलपूर्ण मानव को छोड़कर सभी अवसाद से ग्रस्त हो गये हैं। इसका कार्यकलाप किसी निश्चित व्यक्तिगत गुण जैसे कौशलता, विश्वसनीयता आदि पर आधारित हो गया है। [11]

मैथिल्ड नील ने स्पष्ट किया है कि वर्तमान तकनीकी समाज में अलगाव की समस्या वर्तमान समय की महत्वपूर्ण समस्या हो गयी है। तकनीकी विकास मनुष्य के अत्यधिक रचनात्मकता की संभावना को बनाये हुऐ है क्योंकि यह समस्त विश्व में मनुष्य के सुंदर जीवन स्तर की आशा को बनाये हुए हैं तथा अनुपयोगी कठिन परिश्रम से मुक्ति दिलाने का वादा करता है। दूसरी ओर यह स्वयं साध्य बन गया है। तकनीकी विकास व्यक्तिगत विकास एवं रचनात्मकता के युग में प्रवेश करने के बदले उपभोक्ता को साम्यवादी धारणा का प्रतिस्थापन कर एक सुन्दर जीवन की कल्पना करता है। इस प्रकार तकनीकी विकास ने मानव अलगाव की भयावहता को अत्यधिक उग्र रूप से स्पष्ट किया है। मैथिल्ड नील का मानना है कि यांत्रिकी तथा तकनीक के पास मानव दासता की स्वभाविक प्रवृति होती है। ये दोनों अमानवीय पूँजीवाद की तरह मानवता के भयानक शत्रु हो गये हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि मानव जीवन में अलगाव की समस्या मनुष्य की सामाजिक प्रवृति, सामाजिक मूल्य तथा सामाजिक जीवन के सामने एक चुनौती के रूप में खड़ा है। मार्क्स ने जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था को इसका मुख्य उतरदायी कारण मानकर साम्यवादी व्यवस्था को अपनाने का आह्वान किया है। समकालीन चिंतकों ने अलगाव की समस्या के अन्य उत्तरदायी

कारणों को प्रकाश में लाने का प्रयास किये हैं। इस संदर्भ में एरिक फ्रॉम आधुनिकता और आधुनिक पूँजीवादी समाज, निस्वेट ने आधुनिकीकृत शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता तथा हरबर्ट मारक्यूज ने पूँजीवादी व्यवस्था तथा मार्क्सवादी व्यवस्था दोनों को प्रमुख कारण बताया है।

मैथिल्ड नील ने तकनीकी विकास को वर्तमान अलगाव की समस्या का मुख्य कारण माना है। इन विचारकों ने अपने-अपने ढंग से इस समस्या का समाधान ढूँढा है परन्तु इनके द्वारा बताये गये समाधान अंतिम नहीं है। ये इस समस्या के समाधान के लिए सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन तथा समाजिक प्रक्रिया में सुधार पर जोर देते हैं, ये इनका महत्वपूर्ण योगदान है। मनुष्य में समाजिक प्राणी होने के नाते समाजिक प्रवृति एवं सामाजिक मूल्य निहित होता है।

यह समाजिक समरसता में जीता है। कोई भी सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति के इस सामाजिक समरसता की प्राकृतिक अवस्था को छेड़ता है तो उसमें अलगाव का भाव उत्पन्न होता है। हमें इस अवस्था के स्थायित्व के लिए सजग रहने की आवश्यकता है। संक्षेप में, अलगाव की समस्या का हल मनुष्य के सामाजिक समरसता की प्राकृतिक अवस्था के प्रतिस्थापन में निहित है।

संदर्भ सूची

1. एडोर्नो, थियोडोर डब्ल्यू :- एन्ल्युटंग इन डाइ मुस्कसोजोईलिज, फैंकफर्ट एम मैन (जर्मनी) शुह्रकैम्प, 1962
2. मेसजॉस :- मार्क्स: थ्योरी ऑफ एलिएनेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1962
3. फ्रॉम, ऐरिक :- एस्केप फ्रॉम फ्रीडम राइनहार्ट विन्स्टन, 1941
4. फ्रॉम, एरिक :- द सैन सोसाइटी-राइनहार्ट विन्स्टन, 1962
5. मीहान, यूजीन ए. :- कन्टम्परॉरी पौलिटीकल थाउट-ए क्रिटिकल स्टडी, होमबुड इलीनोइस, 1967
6. निस्बेट, रॉबर्ट ए. :- कम्यूनिटी एण्ड पॉवर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1962
7. निस्बेट, रॉबर्ट ए. :- क्वेस्ट फॉर कम्युनिटी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1953
8. वर्मा, एस.पी. :- मार्डन पॉलिटीकल थ्योरी, विकास पब्लिकेशन्स, दिल्ली 1975
9. मार्क्यूज, हर्बट :- एरोस एण्ड सिविलाइजेशन-ए फिलोसॉफिकल इन्क्वायरी इनटू फ्रायड, बेकन प्रेस, 1995
10. मीहान, यूजीन जे. :- कन्टम्परॉरी पौलिटीकल थाउट-ए क्रिटिकल स्टडी, होमबुड इलीनेाइस, 1967
11. फ्रॉम, एरिक :- मार्क्स कन्सेप्ट ऑफ मैन, सोशलिस्ट ह्युमैनिज्म
12. मैथिल्ड नील :- द फेनोमेना ऑफ टेक्नोलॉजी-लिबरेशन ऑफ एलिऐनेशन ऑफ मैन, सोशलिस्ट ह्युमैनिज्म।

1929 की आर्थिक मंदी का प्रभाव भारत पर

डॉ. रविन्द्र प्रसाद सिंह

प्राचार्य, शुकदेव मुखलाल कॉलेज, हाजीपुर

1929 के विश्व आर्थिक संकट ने भारत की अर्थव्यवस्था को भारी आघात पहुंचाया। कृषि-संकट तो और भी पहले 1927-1928 में ही शुरू हो गया था, जिसने कृषि-उपज की बिक्री को प्रभावित किया था और कृषि मालों की कीमतों में जबर्दस्त गिरावट पैदा की थी—उदाहरणार्थ गेहूं के दाम में 50 प्रतिशत की और जूट में 50 से 65 प्रतिशत की गिरावट आयी। इसके साथ ही औपनिवेशिक अधिकारी लगान की दरों को भी दुहराकर उन्हें काफी बढ़ा रहे थे। परिणामस्वरूप कृषिजीवियों की वास्तविक आय काफी गिर गयी थी। प्रतिकूल बाजार से होने वाली क्षति को पूरा करने के लिए जमींदार जिस तरह लगान का नगद लगान लेने लगे, अधिकाधिक असामी काश्तकार और छोटी काश्तों के मालिक कंगाल होते जा रहे थे। किसानों की अधिकाधिक जमीन जमींदारों, साहूकारों और धनी किसानों के कब्जे में आती जा रही थी। कृषकों पर ऋणभार की कुल रकम नौ अरब रुपये तक बढ़ गयी थी।

गांव पर इन आघातों के अलावा, संकट नगरों को भी बुरी तरह प्रभावित कर रहा था। फैक्ट्रियां और छोटे औद्योगिक प्रतिष्ठान बंद किये जा रहे थे। एक तरफ जब कीमतें बढ़ रही थीं, तब यौक्तिकीकरण के बहाने मजदूरों की व्यापक बर्खास्तगी के परिणामस्वरूप मजदूर वर्ग तथा नौकरीपेशा लोगों की स्थिति और बिगड़ती जा रही थी।

ब्रिटिश पूंजीवादी वर्ग ने इस आर्थिक संकट से अपने उपनिवेशों और सर्वप्रथम भारत की कीमत पर उबरने की कोशिश की। उस समय भारतीय निर्यात मालों और विदेशों, सर्वोपरि ब्रिटेन से आयातित मालों की कीमतों के बीच अंतर काफी बढ़ता जा रहा था।

भारत का सारा अर्थतंत्र आर्थिक संकट की चपेट में आ गया। निर्यात से उसकी आय कम हो गई लेकिन औपनिवेशिक प्रशासन के व्यय, विदेशी कंपनियों के लाभांश, जहाज वगैरह के भाड़े आदि की बाबत विदेश को भारत का देना कम न पड़ा। परिणाम हुआ कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी भारत का सोना ढो ढोकर ब्रिटेन ले गए। 1 सितंबर 1931 और 11 अगस्त 1934 के बीच भारत से 204.45 करोड़ रुपये का सोना विदेश गया।

पराधीन भारत के दुर्बल अर्थतंत्र से दूसरे साम्राज्यों ने भी फायदा उठाने की कोशिश की। जापान, जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका के माल की भारत में बाढ़ आ गई। धीरे-धीरे उनका माल भारत में ज्यादा आने लगा। फलतः भारत के कारखानों का उत्पादन कम होने लगा। किंतु उनके माल के साथ, खासकर जापान के माल के साथ प्रतियोगिता में ब्रिटेन का माल भी मार खा रहा था। अतः ब्रिटिश शासकों ने गैर-ब्रिटिश माल पर भारी शुल्क बैठा दिया। 1930 में उन्होंने सारे आयात पर 15 प्रतिशत शुल्क लगाया लेकिन गैर-ब्रिटिश माल पर 5 प्रतिशत अतिरिक्त शुल्क बढ़ाकर 1932 में 50 प्रतिशत और 1933 में 75 प्रतिशत कर दिया गया। अवश्य ही 1930 में सारे आयात पर 15 प्रतिशत शुल्क जहां बजट की आय बढ़ाने के लिए जरूरी हो गया था, वहां वह ब्रिटिश शासकों द्वारा भारत के राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग को कुछ सहूलियत देकर संतुष्ट करने का और उसे जन आंदोलन के रास्ते से रोकने का प्रयास भी था।

भारत में अपने पोषण को बढ़ाने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यों ने इसी आर्थिक संकट के समय नए-नए तरीके निकाले। 1932 में वे भारतीय बुर्जुआ वर्ग के बड़े विरोध के बावजूद भारत को साम्राज्यीय पूर्वाधिकार व्यवस्था (इंपीरियल प्रिफरेंस) के अर्थात् साम्राज्य के देशों के माल पर कम शुल्क लगाने की व्यवस्था के अंतर्गत ले आए। इसके चलते भारत में ब्रिटिश माल का आयात

1931-32 और 1934-35 के बीच 35 करोड़ बढ़ गया। यह व्यवस्था भारत के बाजार पर ब्रिटेन के बड़े-बड़े पूंजीपतियों का इजारेदाराना अधिकार बनाए रखने का उपाय थी।

विदेशी माल के आयात पर शुल्क के कारण भारतीय बुर्जुआ वर्ग से भी ज्यादा फायदा स्वयं उठाने के लिए ब्रिटेन के इजारेदार बुर्जुआ वर्ग ने खुद अपने कारखानों की शाखाएं भारत में खोली जिनसे भारतीय उद्योगों को धक्का लगा। फाइनेंशियल टाइम्स के अनुसार भारत में लगी ब्रिटिश पूंजी 1930 में 58.30 करोड़ पौंड थी। ब्रिटिश व्यापारियों के संगठन 'फेडरेशन ऑफ चैंबर्स ऑफ कामर्स ऑफ इंडिया ऐंड सीलोन' के अनुसार भारत में लगी ब्रिटिश पूंजी 1931 में 100 करोड़ पौंड हो गई। अपनी पूंजी, मैनेजिंग एजेंसियों, बैंकों, व्यापारी संस्थाओं आदि के जरिए इजारेदार ब्रिटिश पूंजीपतियों ने बहुत से भारतीय कारखानों, खानों, बागानों, बीमा कंपनियों वगैरह पर कब्जा कर रखा था। अपने मुनाफे के तौर पर वे बहुत बड़ी धनराशि इस देश से ले जाते थे। संकट के समय उन्होंने अपना नियंत्रण और मुनाफा पहले की तरह बनाए रखने और बढ़ाने की कोशिश की। इसका परिणाम भारत के श्रमजीवियों के लिए तबाही और सारे भारतीय अर्थतंत्र की बर्बादी हुआ।

मंदी की वजह से 82 हजार चटकल मजदूर काम से निकाल दिए गए थे और जो बाकी रह गए थे उनके काम के घंटे सप्ताह में 60 से घटकर 40 कर दिए गए थे अर्थात् जो मजदूर निकाले न गए थे, उनकी आय एक तिहाई कम हो गई थी। यही हालत अन्य उद्योगों में भी हुई।

आर्थिक संकट के इस जमाने में कारखानों और उद्योगों के मालिक मजदूरों के वेतन में कटौती कर अपना मुनाफा पहले जैसा बनाए रखने की कोशिश कर रहे थे। मुंबई प्रदेश की 159 कपड़ा मिलों का हिसाब दिखाता है कि 1926 और 1934 के बीच मजदूरों के वेतन की सबसे ज्यादा कटौती इस प्रदेश में हुई थी। जुलाई 1936 की तुलना में उनका वेतन दिसंबर 1933 में प्राय: 17 प्रतिशत और अप्रैल 1934 में 21 प्रतिशत कम हो गया था। शोलापुर में 1934 तक लगभग 17 प्रतिशत वेतन कम हो गया था। अहमदाबाद में 82 में से 54 कपड़ा मिलों ने वेतन में कटौती करने के इरादे से तालाबंदी (लाकआउट) की घोषणा कर दी थी, लेकिन मजदूरों ने इतना जबर्दस्त विरोध किया कि कटौती न की जा सकी।

इस आर्थिक संकट के दौरान भारत में एक नये उद्योग का विकास बड़ी तेजी से हुआ। यह उद्योग था चीनी या शक्कर के कल-कारखानों का।

जिस समय आर्थिक संकट की मार से भारत के दूसरे सारे उद्योग बंद हो रहे थे, उनका उत्पादन बंद हो रहा था, उस वक्त सिर्फ तीन साल में नई 98 मिलें खुलीं और उत्पादन लगभग 4.20 लाख टन बढ़ा। यह भी महत्वपूर्ण बात है कि इन नई चीनी मिलों में से अधिकांश भारतीय पूंजीपतियों बिड़ला, डालमिया, सिंघानिया, थापड़, नारंग वगैरह की थीं। भारत के एक बड़े उद्योगपति वालचंद हीराचंद्र ने 1934 में बड़ा संतोष जाहिर करते हुए लिखा कि 95 प्रतिशत नई चीनी मिलों के मालिक और प्रबंधक भारतीय हैं और इस उद्योग में 20 करोड़ रुपये लगाए गए हैं। सुनिश्चित तौर पर ब्रिटिश शासकों ने राष्ट्रीय आंदोलन की तीसरी उत्ताल तरंग के दौरान यह रियासत भारत के राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग को दी थी। जनवरी 1932 को भारत में चीनी आयात पर उन्होंने शुल्क लगा दिया था। इससे चीनी मिलों में पूंजी लगाना आवश्यक हो गया। भारतीय पूंजीपतियों ने इससे पूरा लाभ उठाया। प्रश्न है कि क्या ब्रिटिश शासकों ने यह कदम उठाकर ब्रिटिश पूंजीपतियों को नुकसान पहुंचाया था? कतई नहीं। नुकसान पहुंचाया गया था डच पूंजीपतियों को। उस वक्त भारत के बाजार पर डचों के उपनिवेश जावा की चीनी छाई हुई थी। आयात शुल्क बैठा देने से हालैंड के इन पूंजीपतियों को नुकसान पहुंचा। ब्रिटिश पूंजीपति अनेक दृष्टियों से लाभ में रहे। तब तक भारत की प्राय: सभी चीनी मिलें ब्रिटिश पूंजीपतियों की थीं। जावा की चीनी पर शुल्क लग जाने से सीधा लाभ उन्हें हुआ। फिर जब नई मिलें खुली तो ब्रिटेन के कारखानेदारों ने करोड़ों रुपए का मुनाफा कमाया। 1930-31 में भारत में 13.69 लाख रुपए की मशीनें आई थीं लेकिन 1933-34 में आई लगभग 33.64 लाख रुपए की। चीनी मिलों में भारतीय बुर्जुआ वर्ग की पूंजी का लगना ब्रिटिश पूंजी के लिए अन्य दृष्टि से लाभदायक था। अगर यही पूंजी मशीन बनाने के कारखाने में लगती तो वह उनके लिए बहुत नुकसानदेह होती। चीनी मिलों की इस वृद्धि ने भारत की क्रांतिकारी शक्तियों की संख्या बढ़ाने में मदद की। इन मिलों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या 1933-34 में एक लाख हो गई। अवश्य ही इन मजदूरों का चरित्र अन्य औद्योगिक मजदूरों से भिन्न था। सीजन के समय ये मजदूर रहते लेकिन बाकी समय किसान बन जाते।

कुछ सुविधओं के बावजूद भारत के राष्ट्रीय बुर्जुवा वर्ग को आर्थिक संकट के कारण अनेक मुसीबतें झेलनी पड़ीं। कितनों का दिवाला पिट गया, कितनों के कारखाने बंद हो गए और कितनों का मुनाफा कम हो गया। 1929 में अनेक कपड़ा मिलों

के मालिक करीमभाई का दिवाला निकल गया जिससे खासकर मुम्बई प्रदेश में बड़ी हलचल मची। इसी तरह और भी कितने मिल मालिकों का दिवाला पिटा जिससे लाखों शेयर होल्डर बर्बाद हो गए। सिर्फ इंदौर मिल्स कंपनी के दिवालिया हो जाने से शेयरहोल्डरों का 52 लाख रुपया मारा गया। कपड़ा मिलों का, जिनमें भारतीय पूंजी की प्रधनता थी, लाभांश 1928 में 10. 4 प्रतिशत था; 1933 में वह घटकर 6.7 प्रतिशत हो गया। यही हालत अन्य उद्योगों की हुई। बड़ी-बड़ी ब्रिटिश कोयला कंपनियों के साथ प्रतियोगिता और रेल के ज्यादा भाड़े के कारण भारतीयों की 535 कोयला खानों में से 243 खानें बंद हो गईं। इन सब कारणों से राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग और ब्रिटिश साम्राजियों के बीच विरोध बढ़ गया।

अन्य पूंजीवादी देशों की तरह भारत में भी आर्थिक संकट के दौरान पूंजी और उत्पादन का संकेन्द्रण बढ़ा। बड़े पूंजीपति बहुत से छोटे पूंजीपतियों को निगल गए और पहले से ज्यादा बड़े बन गए। इसका एक उदाहरण टिस्को (टाटा आयरन एण्ड स्टील कंपनी) है। 1927 में इस कंपनी के हाथ में भारत के लोहे-इस्पात के माल बाजार का 30 प्रतिशत था; 1934 में वह बढ़कर 72 प्रतिशत हो गया। अर्थात् भारत के बाजार पर उसकी इजारेदारी कायम हो गई। सीमेन्ट उद्योग में 1930 में 'सीमेन्ट मार्केटिंग कंपनी आफ इंडिया' नामक कार्टल (उत्पादक संघ) बना जिसने तत्कालीन प्राय: सब सीमेन्ट के कारखानों के लिए (1934 में इनकी संख्या 10 थी; एक नया कारखाना बन रहा था) उत्पादन की मात्रा निर्धारित कर दी थी। इन कार्टेल से संबंधित कारखानों को 60 प्रतिशत से ज्यादा उत्पादन क्षमता के प्रयोग की अनुमति न थी। वे सब मिलकर 10 लाख टन सीमेन्ट बना सकते थे लेकिन उनका उत्पादन 1930 में सिर्फ 5,59,000 टन और 1932 में 5,82,000 टन था। उत्पादन और पूंजी के इस सकेन्द्रण ने बड़े राष्ट्रीय पूंजीपतियों और छोटे राष्ट्रीय पूंजीपतियों के बीच विरोध भी बढ़ाया। संक्षेप में, आर्थिक संकट से सारी भारतीय जनता और ब्रिटिश साम्राजियों के बीच, ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग और भारत के राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के बीच, भारतीय पूंजीपतियों और मजदूर वर्ग के बीच, बड़े राष्ट्रीय पूंजीपतियों और राष्ट्रीय पेटी बुर्जुआ के बीच तथा किसानों और जमींदारों के बीच विरोध बढ़ गए, किंतु इन सबमें निर्णायक विरोध था सारी भारतीय जनता और ब्रिटिश साम्राजियों के बीच का विरोध जिसने भारत के राष्ट्रीय आंदोलन की तीसरी उत्ताल तरंग को जन्म दिया।

संदर्भ

1. ई. वर्गा : बीसवीं सदी का पूंजीवाद, पृ. 38।
2. रजनी पाम दत्त : दि इंटरनेशनल, (लारेंस ऐंड विशार्ट, लंदन 1964), पृ. 189।
3. जार्न ईटन : पालिटिकल इकोनामी (लारेंस ऐंड विशार्ट, लंदन 1949), पृ. 196-97।
4. जान ईटन: पालिटिकल इकोनामी, पृ. 200।
5. रजनी पाम दत्त : फासिज्म ऐंड वर्ल्ड रिवोल्यूशन, पृ. 59।
6. दि इंडियन सुगर इंडस्ट्री ऐनुएल (बंबई 1938), पृ. 25।
7. कम्युनिट्सचैलेंस इंपीरियलिज्म फ्रॉम दि डाक (नेशनल बुक एजेंसी कलकत्ता, 1967), मुजफ्फर अहमद की भूमिका, पृ. 7।
8. अजय घोष : भगत सिंह ऐंड हिज कामरेड्स, (बंबई 1946), पृ. 3-5।
9. रजनी पाम दत्त : इंडिया टुडे, पृ. 360-61।
10. नलिनी कुमार भद्र : आदिवासीदेर विचित्र कथा, (कलकत्ता 1958), पृ. 126-28।
11. टाइम्स ऑफ इंडिया, 22 अक्टूबर, 1930।
12. घनश्यामदास बिड़ला : डायरी के कुछ पन्ने, (सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली 1940), पृ. 6।
13. इंद्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ. 274।
14. ए. आर. देसाई : इंडियन फ्यूडल स्टेट्स एंड दि नेशनल लिबरेशन स्ट्रगल; रजनी पाम दत्त : इंडिया टुडे, पृ. 445।

आर्थिक मंदी के दौर में दुनिया

डॉ. उपेन्द्र प्रसाद सिंह
रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, जमुनी लाल कॉलेज, हाजीपुर

जिन्हें 1929 की विश्व आर्थिक मंदी की याद नहीं-वे वर्तमान आर्थिक मंदी को बहुत हल्के से ले रहे हैं। उम्मीद करते हैं कि यह संकट जल्दी ही दूर हो जायेगा। 1929 की विश्व आर्थिक मंदी भी अक्टूबर महीने में ही शुरू हुई थी जिसका प्रभाव 1939 तक बना रहा था। 1939 में दूसरे विश्व युद्ध की शुरुआत हुई थी। दूसरे विश्व युद्ध का एक कारण इतिहासकार और राजनीतिज्ञ इस आर्थिक मंदी को मानते हैं। इस मंदी के बारे में कई तरह की किंवदंतियां प्रचलित हुई थीं जिसे आज भी लोग याद करते हैं। बोरा भर कर नोट लोग बाजार ले जाते थे और झोला भर कर सामान लाते थे। कहा जाता है कि इस महामंदी के कारण सरकारी कर्मचारियों को महंगाई भत्ता देने का प्रचलन शुरू हुई था जिसकी निरंतरता आज तक बनी हुई है। ऐसा कहा जाता है कि इस मंदी ने घूसखोरी को जन्म दिया। निम्न स्तर के कर्मचारियों का पेट मंहगाई की वजह से नहीं भर पाता था। वे जिसका काम करते थे-उससे काम के बदले कुछ पैसा मांगते थे और यही जरूरत भविष्य की घूसखोरी के रूप में तब्दील हो गयी।

मैंने यह भी सुना था कि एक धनी बाप ने अपनी सम्पत्ति अपने दो बेटों को ट्रस्ट कर दी थी। एक अपने हिस्से को बैंक में रखकर सूद कमा रहा था तो दूसरा शराब पीकर सारी संपत्ति गर्क कर दिया था लेकिन उसने अपनी पी हुई बोतलों को जमा किया था जिसकी कीमत आर्थिक मंदी के दौर में उतनी से ज्यादा हो गई थी जितनी उसके भाई ने बैंक में सूद से कमाई थी। मार्क्स कहते थे-इतिहास अपने को दोहराता है लेकिन हमेशा एक ऊंचाई पर। लगता है 1929 की अक्टूबर की महामंदी 2008 में एक ऊंचाई पर अपने को दोहरा रही है। आज की वैश्विक आर्थिक मंदी बेलगाम होती जा रही है। इस पर काबू पाने के लिए जितने उपाय दुनिया भर में हो रहा है, इसका कोई असर नहीं दिख रहा है। वित्तमंत्री पी. चिदम्बरम का यह बयान कि घबराने की जरूरत नहीं और मंदी को बेअसर करने के लिए उनकी कोशिशों का भी कोई असर भारत में होता नजर नहीं आ रहा है।

रिजर्व बैंक ने अब तक सीआरआर में ढाई प्रतिशत की कटौती की है, ताकि बैंकों के पास अतिरिक्त धन आये और बाजार में पैसे की कोई किल्लत नहीं रहे। रिजर्व बैंक ने बैंकों को एक लाख करोड़ रुपये अतिरिक्त दिये हैं। इसके अलावा सरकार ने बैंकों को अलग से 25 हजार करोड़ रुपये की सहायता दी है। लेकिन इन सारे प्रयासों का नतीजा ढाक के तीन पात जैसा है। शेयर बाजार में गिरावट थमने का नाम नहीं ले रही है।

मंदी के मारे उद्योग कर्मचारियों को छंटनी का सामना करना पड़ रहा है, ताकि थोड़ी राहत महसूस कर सके। बैंकों से कारपोरेट हाउस से कर्ज कम कर दिए गये हैं या बंद हैं। कोई भी बिना पैसे का और घाटे में तो चल नहीं सकता। छंटनी की ताजा घटना जेट एयरलाइंस में हुई है, जहां एक दिन में 1900 कर्मचारी हटा दिए गये। एक और नीति विमान कंपनी किंगफिशर ने भी इसी तरह की कटौती का संकेत दिया है। मंदी का असर तो होना ही था। इसका असर मूलतः तीनों रूपों में सामने दिख रहा है-गठजोड़, विलय, बिक्री और बंदी। बंदी की शुरुआत अमेरिका के लेहमैन ब्रदर्स से शुरू हुई। बिक्री और विलय का आरंभ भी आर्थिक रूप से समृद्ध समझे जाने वाले अमेरिका से ही हुआ है। छंटनी का भी पहला श्रेय अमेरिका को ही जाता है। पर यह आर्थिक मंदी का दौर है और विश्वग्राम की अवधारणा अमल में आ गयी है, इसलिए भारत या दूसरे देशों पर भी इसका असर अपरिहार्य है।

सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) क्षेत्र तो मंदी की इस मार से सबसे अधिक तबाह है। उनकी कुल राजस्व आय का बड़ा हिस्सा विदेशों से ही आता है। इसलिए उन पर ज्यादा असर पड़ा है। यही वजह है कि आईटी क्षेत्र की पांच बड़ी कंपनियां सत्यम कम्प्यूटर, विप्रो और एचपी में ही तकरीबन 30 हजार लोगों की नौकरी पर तलवार लटकी हुई हैं। कुछ कंपनियों ने तो अपने कर्मचारियों को इस बात के संकेत भी दे दिये हैं। इस्पात क्षेत्र को देखें तो मंदी के कारण उनके उत्पाद नहीं बिक रहे। बाजार में इस्पात की कीमतें गिरने लगी हैं। शेयर बाजार में उनके मार्केट कैपिटलाइजेशन का जो नुकसान हुआ है, उसका असर अलग है। इन सबका असर देश की अर्थव्यवस्था पर इस कदर पड़ने वाला है कि दहाई अंक में आर्थिक वृद्धि का अनुमान लगाने वाले ही इसे अब सात-आठ प्रतिशत पर रहने की बात कह रहे हैं।

वर्तमान आर्थिक मंदी के कारणों पर अभी बहस नहीं हो रही है। अभी तो इस संकट से दुनिया कैसे उबरे उस पर शासक और अर्थशास्त्री विचार कर रहे हैं और उपाय कर रहे हैं। यह महामंदी यदि जारी रहती है तो इसके आर्थिक और राजनीतिक परिणाम क्या होंगे-इसे 1929 के आर्थिक और राजनीतिक परिणमों से समझा जा सकता है।

इतिहास में हम पढ़ते हैं कि 1929 की महामंदी के आर्थिक परिणाम बड़े भयंकर थे। सभी पूंजीवादी देशों में बेकारों की एक अच्छी खासी फौज तैयार हो गई। दुख की बात यह थी कि इस फौज में निरंतर वृद्धि होती गई। उत्पादन के बढ़ जाने से तथा क्रय-शक्ति के कम हो जाने से वस्तुओं के लिए मांग न रही, फलतः कारखाने बंद होने लगे। इसने बेरोजगारी समस्या को और न जटिल बना दिया। अब दरिद्रता और अभाव के दारुण दुख ने लाखों परिवारों को ग्रस लिया। इस संकट का दुष्परिणाम पूंजीपति वर्ग को भी देखना पड़ा। उसके मुनाफे लगभग समाप्त हो गये। परंतु मध्यम वर्ग के उन व्यक्तियों को भी भारी कष्ट उठाना पड़ा जिन्होंने अपने श्रम के उपार्जित कमाई का धन विभिन्न औद्योगिक कंपनियों के हिस्सों में लगा रखा था। इस प्रकार कोई ऐसा वर्ग शेष नहीं बचा था जिस पर इस संकट का प्रभाव न पड़ा हो।

इस संकट के चिन्ह सर्वप्रथम जर्मनी में दिखाई पड़े। जो घटना इस संकट का तत्कालीन कारण बनी वह थी-आस्ट्रियन बैंक क्रेडिट-आन्स्टेट का दिवालिया घोषित हो जाना। इसकी प्रतिक्रिया समूचे मध्य यूरोप में हुई। आस्ट्रिया की सरकार ने स्थिति को सुधारने के लिए बहुत से प्रयत्न किये, किंतु उनमें से किसी को सफलता नहीं मिली। फलतः जर्मनी के रीश बैंक की भी हालत डांवाडोल होने लगी। जर्मन पूंजीपतियों ने बैंकों से अपना धन निकाल कर स्थिति को और भी खराब बना दिया। इसके परिणामस्वरूप जर्मनी के ही एक प्रमुख बैंक डैर्मस्टेटर का 13 जुलाई को दिवाला निकल गया। ऐसा लगता था कि समूचा जर्मन राष्ट्र दिवालियेपन के सन्निकट था। इसी स्थिति में अमेरिकी राष्ट्रपति हूवर ने अपना प्रस्ताव रखा जिसमें यह कहा गया कि एक वर्ष के लिए सारे भुगतान स्थगित कर दिये जायें। बड़ी कठिनाई से फ्रांस को इस प्रस्ताव को मानने के लिए राजी किया जा सका।

हूवर प्रस्ताव से जर्मनी की हालत में तो अल्पकाल के लिए सुधार हो गया, परंतु ब्रिटेन की स्थिति अत्यंत सोचनीय बनी रही। यह सही है कि ब्रिटेन की अर्थिक अवस्था मध्य यूरोप के देशों की अपेक्षा कहीं अधिक सुदृढ़ थी, किंतु साथ ही, यह भी सही है कि एक बड़े साम्राज्य के स्वामी होने के कारण उसका धन संसार के विभिन्न देशों में लगा हुआ था। हूवर प्रस्ताव से क्षतिपूर्ति और युद्ध-ऋणों की समस्या एक साल के लिए टल गई थी, किंतु ब्रिटेन को जिसकी टांक लगभग सभी देशों में फंसी हुई थी सर्वत्र घाटे का सामना करना पड़ रहा था। इसलिए सितम्बर, 1931 में ब्रिटेन को स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा। ब्रिटिश पौंड के इस पतन का प्रभाव अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर पड़ा क्योंकि बहुत से देशों की मुद्राएं पौंड के ऊपर आधारित थीं। ब्रिटेन का अनुकरण करके न्यूजीलैंड, स्कैंडीनेवियन देशों और थोड़े दिन बाद दक्षिणी अफ्रीकी ने भी स्वर्णमान को त्याग दिया। 1931 के बाद इस प्रकार यूरोप के सभी देशों की आर्थिक व्यवस्थाएं विघटित हो गई। सोवियत संघ को छोड़कर सभी यूरोपीय देशों का उत्पादन बराबर नीचे गिरता गया। 1921 की अपेक्षा 1930 में वह घटकर 92 प्रतिशत रहा गया था, 1939 में वह 80 प्रतिशत पर आ गया था और 1932 में वह कुल 72 प्रतिशत पर था। इसी अनुपात में बेरोजगारी भी बढ़ती गई।

आर्थिक संकट वास्तव में दो विश्व-युद्धों के बीच की अत्यंत महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक था। उसके प्रभाव बड़े व्यापक पैमाने पर दिखाई पड़े थे अतः उसके परिणाम भी कुछ कम महत्व नहीं रखते। इन परिणामों को निम्न प्रकार गिनाया जा सकता है।

दृष्टिकोण

1. **आर्थिक परिणाम:**-इस संकट के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की पद्धति का पराभव हो गया और उसके स्थान पर आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्‌भव हुआ। इस संकट ने पूंजीवादी व्यवस्था को एक प्रकार से मरणासन्न-सा बना दिया था, किंतु मरता हुआ पूंजीवाद भी अपने मुनाफों के लिए बेचैन था। अपने मुनाफे को सुरक्षित रखने के लिए उसने व्यापारिक क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धांत को तिलांजलि दे दी। अब बाहर से आने वाले माल के लिए चुंगी की ऊंची-ऊंची दीवारें सभी जगह खड़ी की जाने लगीं। इसका फल यह निकला कि विदेशी व्यापार का तो लगभग अंत हो गया और देशी बाजार वस्तुओं से भर गया। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इससे संकट की तीव्रता और भी अधिक बढ़ी।
2. **शस्त्रास्त्रों के लिए दौड़:**-इस संकट का दूसरा परिणाम यह निकला कि विभिन्न राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिए शस्त्रों के उत्पादन को प्रधानता देने लगे। आर्थिक क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की नीति त्याग दी गई थी। अब प्रत्येक राज्य अपने कष्टों के लिए एक दूसरे को उत्तरदायी ठहराता था। फलत: सभी देशों में एक दूसरे के लिए संदेह और अविश्वास की भावनाएं पाई जाने लगीं अत: संकट का निवारण करने के लिए वे युद्ध की तैयारियां करने लगे। इस संबंध में स्मरणीय बात यह है कि अपने सरकारी प्रकाशनों में राष्ट्रसंघ और अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ ने शस्त्रास्त्रों के बढ़ते हुए उत्पादन के प्रति चिंता प्रकट की थी।
3. **लोकतंत्री शासकों की क्षीणता:**-इस संकट ने जनता के प्रत्येक वर्ग में असंतोष को जन्म दिया था। अत: प्रजातांत्रिक देशों में जनता ने चुनावों में सत्तारूढ़ दलों के विरुद्ध वोट दिया। इस संकट के कारण लोगों की प्रजातंत्र के प्रति आस्था भी कम हो गई क्योंकि इस समय तक यह आम मान्यता थी कि प्रजातंत्र और पूंजीवाद का एक-दूसरे से घनिष्ठ संबंध है और ये दोनों ही राष्ट्रीय उन्नति के लिए परमावश्यक हैं। परंतु इस संकट ने इन दोनों के प्रति जनता के विश्वास की जड़ें हिला दी। फलत: मध्यम वर्ग और छोटे दुकानदारों में फासिज्म और नाजीवाद के प्रति सहानुभूति की भावनाएं अंकुरित हुई और इसी के परिणामस्वरूप अंततोगत्वा जर्मनी में हिटलर का और यूरोप तथा अमेरिका के विभिन्न देशों में फासिस्ट अथवा अर्ध-फासिस्ट शासनतंत्रों का उत्कर्ष हुआ। यहां स्मरणीय बात यह है कि सत्ता करने के लिए पूर्व हिटलर ने आर्थिक संकट के दलदल से देश को निकाल कर पुनर्निर्माण के सब्जबागों को दिखलाया था। उसने तत्कालीन सरकार की इसलिए भर्त्सना की थी कि उसने जनता के इस कष्ट का निवारण करने की ओर कोई कदम नहीं उठाया था। इस प्रकार संकट को हल करने में देश की सरकार की असफलता का पूरा लाभ उठाकर उसने एक तानाशाही सरकार की स्थापना की। स्पष्टत: यदि यह संकट न होता तो जर्मनी में हिटलर की शक्ति कायम होना लगभग असंभव सी बात थी।
4. **राज्य के नियंत्रण में वृद्धि:**-संकट के पूर्व सभी प्रजातांत्रिक देशों में अहस्तक्षेप की नीति व्यवहार में लाई जाती थी। परंतु संकट काल में इस नीति का परित्याग कर राज्य को ऐसे बहुत से कानून बनाने पड़े जिससे श्रमिकों और गरीब जनता के हितों का संरक्षण हो सके। संकट से बचने के लिए जनता के सभी वर्गों को राज्य के आश्रय की आवश्यकता महसूस होने लगी। इसी काल में संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने परंपरागत उदारवाद को तिलांजलि देकर न्यू डील की नीति का प्रतिपादन किया। इंग्लैण्ड ने भी इस मामले में संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति का अनुकरण किया। इस प्रकार इस नई समस्या का सामना करने के लिए सभी देशों में राज्य की नियंत्रण शक्ति में वृद्धि हुई।
5. **जापान में सैनिकवाद का उत्कर्ष:**-संकट के परिणामस्वरूप जापान में सैनिक दल की प्रभुता कायम हुई। इतिहासकार टायनबी ने लिखा है कि इस मंदी से जापान की जनता इतनी तंग हो गई थी कि उसने व्यापारिक विस्तार के स्थान पर सैनिक विजय की नीति का समर्थन करना प्रारंभ कर दिया। जापान के पूंजीपति वर्ग को कच्चे माल की आवश्यकता थी और पक्के माल को बेचने के लिए बाजार की जरूरत थी। शांतिपूर्ण तरीके से मंदी के युग में न तो कहीं से कच्चा माल मिल सकता था और न पक्का माल बेचा ही जा सकता था। ऐसी स्थिति में जापान को मंचूरिया को शक्ति के द्वारा जीतने में कोई संकोच नहीं हुआ। ऐसा करने में उसने राष्ट्रसंघ के विरोध की लेशमात्र भी चिंता नहीं की। वस्तुत: यह राष्ट्रसंघ की पहली पराजय थी।
6. **इटली का ईथोपिया पर आक्रमण:**-1935 में ईथोपिया पर इटालियन आक्रमण भी आर्थिक मंदी का परिणाम था। इटली में फासिज्म का उदय 1922-23 में उस समय हुआ था जबकि संसार प्रथम युद्धोतर मंदी के युग से गुजर रहा

था। मुसोलिनी ने सत्ता प्राप्त करने के पूर्व जनता के कष्टों को दूर करने की प्रतिज्ञा की थी। परंतु शक्ति के आने के बाद भी जनता के दुख-दर्दों को दूर करने में वह पूर्णतया असफल रहा। इसलिए इन समस्याओं की तरफ से लोगों के ध्यान को हटाने के लिए उसने आक्रमणकारी युद्धों की नीति का समारम्भ किया। इस प्रकार आर्थिक मंदी और ईथोपिया का युद्ध एक दूसरे के साथ स्पष्ट रूप से जुड़े हुए थे।

7. **साम्यवाद का प्रसार:**-इस संकट का मूल कारण पूंजीवादी उत्पादन की पद्धति थी फलत: उसके दुष्परिणाम केवल उन्हीं देशों में दिखाई पड़े जहां पूंजीवादी व्यवस्था पाई जाती थी। परंतु समाजवादी सोवियत संघ इस संकट से सर्वथा मुक्त रहा। जब पूंजीवादी देशों में उत्पादन गिर रहा था, उस समय सोवियत संघ ने औद्योगिक क्षेत्र में जबर्दस्त प्रगति की थी। पूंजीवादी देशों में बेरोजगारी का बोलबाला था, किंतु सोवियत संघ में बेरोजगारी ढूंढ़ने से भी नहीं मिलती थी। इस प्रकार जीवन का अनुभव यह बताता था कि पूंजीवाद की अपेक्षा समाजवादी व्यवस्था निश्चयात्मक रूप से अच्छी है। इस पृष्ठभूमि में साम्यवादी विचारों की ओर जनसाधरण का आकृष्ट होना नितांत स्वाभाविक था। फलत: विभिन्न देशों में कम्युनिस्ट और समाजवादी पार्टियों ने काफी उन्नति की।

साम्यवादी विचारधारा के इस बढ़ते हुए प्रभाव से पूंजीपति वर्ग आशंकित हो गया। अत: उसको रोकने के लिए उन सभी शक्तियों को प्रोत्साहन दिया जो सोवियत संघ और साम्यवाद की विरोधी थीं। जर्मनी और इटली में हिटलर और मुसोलिनी को प्रसन्न रखने के लिए ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों ने जो नीति अपनाई उसको इसी पृष्ठभूमि में देखा गया। जापान ने जब मंचूरिया पर आक्रमण किया तो उस समय भी ब्रिटेन की सरकार की सहानुभूति जापान के साथ ही थी क्योंकि ब्रिटिश विदेश मंत्री सर जॉन साइमन इस आक्रमण को रूस के विरुद्ध अभियान मानता था। इन देशों की इसी तुष्टीकरण की नीति ने द्वितीय महायुद्ध के लिए मार्ग प्रशस्त किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 1939 में संसार को जिस दूसरे महायुद्ध का सामना करना पड़ा उसको लाने में इस आर्थिक संकट की महत्वपूर्ण भूमिका थी। संकट ने राष्ट्रों के बीच भय और संदेह का वातावरण पैदा किया था। इतिहास साक्षी है कि इस प्रकार का वातावरण अंतर्राष्ट्रीय तनाव और युद्ध के लिए अत्यंत उपयुक्त होता है।

संदर्भ

1. अंतर्राष्ट्रीय संबंध, ले. हरगोविन्द पंत, राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर
2. The Twenty Years Crisis (1919-1939)
3. World Politics - 1918-1936, Palme Dutta,Adhar Pra
4. अंतर्राष्ट्रीय संबंध, ले. दिनेश चन्द्र चर्तुवेदी।
5. भारत मुक्ति संग्राम, ले. अयोधया सिंह, मैकमिलन।

नारियों के आर्थिक सशक्तिकरण में स्वसहायता समूह की भूमिका का विश्लेशणात्मक अध्ययन

डॉ० मीरा सिंह

व्याख्याता, समाजशास्त्र विभाग, पंडित तारणी झा इन्टर महिला, महाविद्यालय बाँका (बिहार)

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से सरकार ने नारियों के विकास के लिए कई नीतिगत पहल की है। शुरू में नारियों के कल्याण से जुड़ी नीतियों पर जोर दिया गया तो अब नारियों के सशक्तिकरण और विकास पर जोर दिया जा रहा है। नौवीं पंचवर्षीय योजना में प्रावधान किया गया कि संबंधित मंत्रालयों के कायक्रमों में ऐसे क्षेत्रों का पता लगाया जाए जहां योजना बनाने की प्रक्रिया से लेकर इसकी निगरानी और कार्यान्वयन तक नारियों की भागीदारी सुनिश्चित की जा सके।

आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, और कर्नाटक में स्व-सहायता समूहों ने नारियों के विकास और सशक्तिकरण की दिशा में उल्लेखनीय काम किया है।

अक्टूबर 1998 में विश्व बैंक की सहायता से एक प्रायोगिक परियोजना स्वशक्ति बनाई गई। इसे परियोजना के रूप में मंजूरी दी गई थी। इसका उद्देश्य नारियों में सामाजिक परिवर्तन कर उनके जीवन-स्तर को सुधारना है।

अब तक 17000 से अधिक नारियों के समूह बनाए गए हैं। समूह के सदस्यों को एक व्यवस्थित तरीके से बचत के तौर-तरीके बताए जाते हैं। इन समूहों के सदस्यों ने अपनी बचत बैंको के खातों से विभिन्न जरूरतों के लिए ऋण लिए हैं और इस व्यवस्था से बैंक ऋणों की वसूली का रिकॉर्ड भी अच्छा रहा है।

स्व सहायता: सफलता का मूलमंत्र

महाराष्ट्र में शोलापुर की 10,000 नारी बीड़ी मजदूर अपने घरों की मालकिन बनने जा रही हैं। इनमें से एक फातिमाबाई इसे अपने सपने को साकार होना मानती हैं। स्वागत नगर की शांतुबाई, पानीबाई गर्व से कहती हैं कि हमारे लिए तो यह एक महल है। दातानगर की एक और लाभार्थी अपने इस मकान को स्वर्ग से सुंदर बताती है।

फिलहाल जिन बुरे हालात में वे रह रही थीं, उसे देखते हुए तो एक कमरे और रसोई का यह मकान निश्चित रूप से उनके लिए किसी शानदार महल से कम नहीं है। बीड़ी मजदूर अपने परिवारों के साथ 8 फुट लम्बी और 6 फुट चौड़ी अंधेरी झुग्गियों में रहती हैं, जिनमें न तो बिजली है और न ही पानी। दयनीय हालात में रहने वाले इन मजदूरों को मेहनत से कमाई गई अपनी आमदनी का एक बड़ा हिस्सा किराए पर खर्च करना पड़ता है। उनकी तकलीफें और भी बढ़ गई हैं क्योंकि उनके पुरूष सदस्य बेरोजगार हैं।

एक नारी बीड़ी मजदूर दिन में लगभग 1200 बीड़ी बनाती है और उसे 1500 रूपये महीने की आमदनी हो जाती है। पिछले 10 सालों से अपने परिवारों का पेट पालने वाले इन व्यस्त नारी मजदूरों के लिए बड़े ही फख्र की बात है कि उन्होंने रहन-सहन की स्थितियों को बेहतर बनाने के लिए संघर्ष छेड़ने का समय निकाल लिया। इसका श्रेय विधायक श्री नरसैया आदम को जाता है। उन्होंने इन मजदूरों को गोदूताई परूलेकर नारी बीड़ी कामगार सहकारी गृह निर्माण संस्था मर्यादित (लिमिटेड) में एकजुट किया। इस सहकारी आवास समिति की कोशिशें रंग लाई और 1998 में 10,000 सस्ते मकानों के निर्माण का सिलसिला शुरू हुआ। शीघ्र ही केंद्र और राज्य सरकारों ने जमीन और सब्सिडी का बंदोबस्त किया।

पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप

इस परियोजना की एक विशेषता यह है कि शोलापुर के एक निवासी श्री फंडे की एक निजी निर्माण कंपनी ने 10,000 सस्ते मकान बनाने का जिम्मा लिया। चार साल की छोटी सी अवधि में शोलापुर के इस शहर में दक्षिण छोर पर खुम्बारी में 450 एकड़ जमीन पर निर्माण का काम शुरू हुआ। औसतन 70,000 लोगों के लिए समूहों के रूप में मकानों को व्यवस्थित करने का ले आउट तैयार किया गया। 25 समूहों में हरेक समूह में 100-100 मकान हैं।

हर एक मकान के लिए 51.36 वर्ग मीटर जमीन दी गई है, जिसमें से आधी जगह खुली छोड़ी गई है। हरेक मकान में एक कमरा और एक रसोई, बाथरूम और शौचालय हैं। मकान तक पहुंचने के लिए 3 मीटर चौड़ी सड़क बनाई गई है। खास बात तो यह है कि इसके डिजाइन में लाभार्थियों के सुझावों को ध्यान में रखा गया है। पहले छत गुम्बदनुमा बनाई जा रही थी, लेकिन लाभार्थियों के सुझाव पर इसे समतल बनाया गया ताकि भविष्य में और भी निर्माण किया जा सके। इसी तरह रसोई में सोने के लिए एक परछत्ती बनाई गई है। 8,700 मकान तैयार हो चुके हैं और शेष 1,300 मकान तैयार किए जा रहे हैं।

आधारभूत सुविधाएँ:-

इन आवासीय परिसर में सुविधाओं तथा सेवा केंद्रों और खेल के मैदान के अलावा व्यापारिक और संस्थागत क्षेत्रों की भी व्यवस्था की गई है। इसमें 150 बिस्तरों का एक अस्पताल बनाया जाएगा, जिसके लिए आधुनिक उपकरण आदि खरीदने के वास्ते श्रम मंत्रालय एक करोड़ रूपये देगा।

रोजगार गारंटी योजना के तहत शोलापुर जिला परिषद ने खुंबारी से नीलानगर तक प्रमुख पहुंच सड़क बनाई है। अक्कलकोट से कोटगी रोड तक एक और सड़क निर्माणाधीन है।

महाराष्ट्र जीवन प्राधिकरण द्वारा पीने के पानी की एक योजना मंजूर कर ली गई है जिसके तहत उठे हुए 2 जलाशय पम्प और हरेक घर में लगाई गई 250 -250 लीटर की दो टंकियों को भरने के लिए वितरण व्यवस्था शामिल है। जल निकासी के काम के लिए राज्य सरकार से 8 करोड़ रूपये का अनुदान मांगा गया है। महाराष्ट्र राज्य बिजली बोर्ड ने बुनियादी बिजली सप्लाई ढांचे के लिए 3.75 करोड़ रूपये दिए हैं जिससे एक सब-स्टेशन ट्रांसफार्मर 33 केवी, 11 केवी की लाइनें और 380 स्ट्रीट लाइन लगाई जाएंगी।

सरकार द्वारा सहायता

केंद्र और महाराष्ट्र सरकार द्वारा 50:50 के आधार पर 25.50 करोड़ रूपये प्रदान किए गए है जिससे से हरेक मकान के लिए प्रत्येक सरकार द्वारा रूपये की सब्सिडी दी जाएगी और शेष 20 हजार रूपये लाभार्थियों को चुकाने होंगे।

इस परियोजना के दौरे पर गए श्रम और रोजगार मंत्री श्री शीशराम ओला ने बीड़ी मजदूरों के लिए मकानों के निर्माण के वास्ते केंद्रीय सब्सिडी को 20 हजार रूपये से बढ़ाकर 40 हजार रूपये करने की घोषणा की । इससे शोलापुर के बाकी बचे बीड़ी मजदूरों को अपना घर हासिल करने में मदद मिलेगी। क्योंकि इन मजदूरों को विभिन्न उपायों से मौजूदा योजना के तहत मकान नहीं दिए जा सके थे। शोलापुर में लगभग 75 हजार बीड़ी मजदूर हैं जिनमें से 60 हजार पंजीकृत हैं।

मकानों के लिए आमदनी की पात्रता को 3500 रूपये मासिक से बढ़ाकर 6500 रूपये कर दिया गया है। इस फैसले और सब्सिडी में वृद्धि को देखते हुए उम्मीद की जाती है कि देश के अन्य स्थानों पर भी ऐसी परियोजनाएं शुरू हो सकेंगी।

शोलापुर की कम लागत वाली आवास परियोजना को एशिया में अपने किस्म की सबसे बड़ी योजना बताई जा रही है। यह सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की भागीदारी का एक शानदार उदाहरण हैं। बिल्कुल गरीब औरतों के सामूहिक प्रयास के परिणामस्वरूप ही यह योजना साकार रूप ले सकी है। इस आंदोलन के प्रेरक श्री नरसैया आदम बड़े गर्व के साथ कहते हैं यह उनका ताजमहल है।

सामाजिक अधिकारिता में वृद्धि

नारियों पर इस परियोजना का काफी अच्छा प्रभाव पड़ा है। अत्यंत गरीब नारियों का जीवन -स्तर स्व सहायता समूहों के फलस्वरूप काफी सुधरा है। उनका आत्मविश्वास भी बढा है। अब उन्हें बैंकों में आने -जाने और विभिन्न अधिकारियों से बातचीत करने में झिझक नहीं होती। ये नारियों घर से बाहर निकलने लगी है। वे बैठकों में भाग लेती है इस परियोजना के

परिणामस्वरूप पहले कभी श्रमिक रही नरियां अब छोटे पैमाने की उद्यमी बन गई हैं स्व-सहायता समूह की नारियों ने नारी प्रसाधन गृहों से लेकर छोटे अस्पतालों और स्कूलों जैसी कई सामुदायिक संपत्तिगतयों का भी सृजन किया है।

इस परियोजना से नारियाँ व्यावहारकुशल बनी है। कौशल विकास से वे आजकल की अन्य आधुनिक संस्थाओं जैसे-सरकारी संगठनों लाइन एजेंसियों बैंक आदि से सम्पर्क करने में सक्षम हुई है परियोजना को लागू करने वाली एजेसियों की सक्रिय भूमिका के माध्यम से लाभार्थियों, गैर सरकारी संगठनों, बैंकों और लाइन एजेंसियों के बीच बेहतर समन्वय स्थापित किया जा रहा है।

परियोजना बनाते समय उन जिलों और क्षेत्रों पर ज्यादा बल दिया गया जिनमें गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन करने वाले लोगों और अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों की संख्या अधिक है। इसलिए यह कार्यक्रम ग्रामीण क्षेत्रों में अत्यन्त निर्धन नारियों तक अपनी पहुंच बना सका है।

नारी उत्थान से ही ग्रामीण विकास संभव

स्वतंत्र भारत पिछले 45 वर्षों से ग्रामीण विकास के क्षेत्र में अलग-अलग तजुर्बे करता रहा है। इस प्रक्रिया में राष्ट्रीय और राज्य स्तर के राजनीतिक नेतृत्व में अनेक संस्थाएँ गठित हुई और उनके तौर-तरीके तय कर प्रशासन ने उन्हें कार्यान्वित किया। लेकिन 1992 इस दिशा में एक उल्लेखनीय वर्ष रहा जिसमें 73वें संविधान के जरिये स्थानीय स्वायत इकाइयों को संवैधानिक दर्जा दिया गया। अब देश ग्रामीण प्रशासन को अधिकार और कानूनी तौर पर प्रतिबद्ध है।

पंचायती राज को संस्थागत रूप देने का उद्देश्य विकास प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी को बढ़ावा देना था। लेकिन इसे केंद्रीकृत नीति अथवा प्रशासनिक व्यवस्था के जरिए लाया नहीं जा सका। इस दिशा में सर्वाधिक क्रांतिकारी योगदान 33 प्रतिशत सीटें नारियों के लिए आरक्षित करना था। इनमें पंचायत अध्यक्षा, उपाध्यक्षा भी शामिल हैं।

विवशता

चुनी गई नारी प्रतिनिधि महसूस करती है कि वे अपने क्षेत्र की आकांक्षाओं को पूरा करने में सक्षम नहीं है क्योंकि उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उनके पास पर्याप्त धन नहीं हैं। परिणामस्वरूप वे आत्मनिर्भर होने की बजाय पराश्रित महसूस करती है। केरल, मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और कर्नाटक जैसे राज्यों ने विकेन्द्रीकरण के लिए गंभीर प्रयास किए हैं लेकिन शेष राज्यों में ऐसा नहीं हो पाया है। चुनी हुई नारी प्रतिनिधियों ने समक्ष लिया है कि स्व-सहायता सर्वोत्तम सहायता है। उन्होने पंचायत बैठकों तथा ग्राम सभाओं में विकास के विषयों को जोर-शोर से उठाना शुरू कर दिया है। वे अपने गाँवों की समस्याओं को कम करने के लिए खंड जिला अधिकारियों के साथ बैठकें करती है।

अनेक चुनी हुई नारी प्रतिनिधियों ने गैर सरकारी संगठनों और स्वयंसेवी संस्थाओं से संपर्क स्थापित किया है जो इन चुने हुए प्रतिनिधि को ऐसे मजबूत समूहों के रूप में एकजुट होने के लिए प्रेरित करती है जिनका एक दृढ़ संकल्प हो। संचार माध्यमों ने भी बड़े पैमाने पर इनकी सहायता की है।

अधिकाधिक प्रयास

ग्रामीण विकास विभाग की रिपोर्ट में कहा गया है कि नारियों द्वारा संचालित ग्राम-सभाओं में लोगों ने अधिक संख्या में भाग लिया है। नारी सदस्यों ने एकजुट होकर शरारती तत्वों पर लगाम कसी है। इस काम में गांव की सभी नारियों ने उन्हें सहयोग दिया है।

स्वयं सहायता समूह आंदोलन ने चुनी हुई नारी प्रतिनिधियों को उनकी असली ताकत महसूस कराने में आदर्श भूमिका निभाई है। उदाहरण के तौर पर आंध्र प्रदेश के स्वयं सहायता समूहों ने ऋण सोसायटियां चलाकर छोटे-छोटे ऋणों के जरिए केवल परिवार की आमदनी में इजाफा किया है बल्कि सामाजिक हितों को भी बढ़ावा दिया है।

प्रशिक्षण

नारी सदस्यों का विचार है कि पंचायती राज संस्थाओं को दी जाने वाली राशि उन्हें सौंपे गए 29 विषयों को देखते हूए बहुत हीं कम है। उनके गांव में उनकी जानकारी अथवा सहमति के बिना काम होते रहते हैं। उन्हें सरकार की योजनाओं के बारे में जानकारी नहीं होती और न हीं उन्हें यह मालूम होता है कि वे कैसे उन योजनाओं से अपने लोगों को लाभ पहुंचा सकती है। वहीं इसके विपरीत भारत की स्वशक्ति और स्वयं सिद्धा जैसी योजनाओं के तहत अधिकार प्राप्त नारियों ने आयोजन,

प्रलेखन बजट तैयार करने आदि के बारे में सघन प्रशिक्षण प्राप्त किया है। ऐसी नारियों ने व्यक्तिगत उद्यम शक्ति का प्रदर्शन किया है। आज नारियों ने आंगनबाड़ी या डे केयर सेंटर तैयार किये हैं। और यहां तक कि उत्पादों की बिक्री के लिए दुकानें तक खोली हैं। उन्होंने आमदनी के वैकल्पिक जरियों के अलावा परिवार के स्वास्थ्य और शिक्षा स्तर सुधारने के लिए अपनी बचतों का इस्तेमाल किया है।

आज जब संसद में नारी आरक्षण विधेयक के बारे में चर्चा होती है तो पंचायती राज में नारियों के लिए आरक्षण के निष्कर्षों पर ध्यान दने की आवश्यकता महसूस होती है। वास्तविकता यह है कि देश के ग्रामीण इलाकों में एक शांति-क्रांति जन्म ले रही है । इसके लिए बस पोषक वातावरण की जरूरत है जो केवल कानून बनाकर सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। प्रशासनिक व्यवस्था और राजनीतिक मन:स्थिति को भी इसके अनुकूल बनाने की जरूरत है लेकिन इनमें से किसी की भी प्रतीक्षा किये बिना नाारियाँ जागरूकता कार्यक्रमों, दक्षता और दक्षता निर्माण के जरिए सभी सामाजिक आर्थिक बाधाओं से लोहा ले सकती है। इस प्रक्रिया में सबसे पहले जानकारी और जागरूकता पैदा की जाए इसके बाद आर्थिक रूप से सुदृढ़ और सामाजिक रूप से सशक्त गठन किया जाए। इसके लिए मार्ग निर्देशक भावना होगी- ''सभी के लिए एक और एक के लिए सभी।''

सन्दर्भ ग्रंथ सूची:

1. Dalits Voice Vo1-7 No. -18 August 1 15 1998
2. Madhu Kishwan "Equity of Opportunities Vs. Equity of Result (Improving women's Reservation Bill) Economic and Political weekly vol. 35 No. 47,18 November 2000
3. Durkheim, Emile, (1902 - 1903] 1961, Moral education , New york, Free press
4. Goode, william J., 1963.
   World Revolution and Family patterns. New york, Free press
5. Davis. K., 1981,
   Human Society: Subject Publication, New Delhi
6. Kaparia K.S, 1966:- Marriage and Family in India
   Oxford University Press, Mumbai
7. Gore M.S.A, 1965:- The Traditional Indian Family

कन्या भ्रूण हत्या : समीक्षात्मक अध्ययन

सतीश कुमार

एम. ए. (सोसियोलॉजी) रिसर्च स्कॉलर, बी. एन. मंडल वि.वि. मधेपुरा

भारतीय सत्ताधारी वर्ग को आज आबादी सम्बन्धी जो दो प्रमुख समस्याएं सबसे ज्यादा चिंतित कर रही हैं वे हैं : उनके अनुसार भारत की बढ़ती आबादी, जिसे वे 'जनसंख्या विस्फोट' की संज्ञा देते हैं और दूसरी समस्या है कन्या भ्रूण हत्या की, जो पुरुष-स्त्री, अनुपात को आबादी में असंतुलित कर रहा है। समस्या को जिस तरह से सत्ताधारी वर्ग द्वारा पेश किया जा रहा है उसकी दिशा है सामान्य भारतीय जनता को इसके लिए दोषी करार दे देना। यह प्रमाणित कर देना है कि गरीब इस कारण है; क्योंकि उसने ज्यादा बच्चे पैदा कर दिए हैं और कन्या भ्रूण हत्या कर आम आदमी समाज में स्त्री-पुरुष अनुपात को इस तरह बिगाड़ रहा है, असंतुलित कर रहा है कि भविष्य में कन्याओं की संख्या में आई कमी शादी-ब्याह से लेकर प्रजनन तक की समस्याओं को खड़ा कर देगा। सरकार कानून बना कर कन्या भ्रूण हत्या को प्रतिबंधित करने के प्रयास में लगी है। कन्या भ्रूण हत्या की समस्या और बढ़ती आबादी की समस्या मूलत: एक दूसरे से इस कदर अन्योनाश्रित ढंग से जुड़ी हैं कि किसी एक पर विचार करना और खास कर सरकार द्वारा चलाई जा रही आर्थिक विकास नीति से अलग करके, इनके कारणों का विश्लेषण हमेशा गलत नतीजे की तरफ ले जायेगा और सरकारी तंत्र तथा भारत का शासक वर्ग इसी गलत तरीके के आधर पर किए गए विश्लेषणों को तमाम-प्रचार माध्यमों और अरबों रुपये सार्वजनिक कोष से खर्च करके लोगों पर थोप रहा है। विचारने का विषय यह है कि किस तरह 'आबादी के विस्फोट' का मिथक कन्या भ्रूण हत्या को प्रोत्साहित कर रहा है।

आज भी भारतीय शासक वर्ग राजनीतिक रूप से उस भ्रष्ट पादरी मालथस के, जो कभी भी अर्थशास्त्री था ही नहीं, मगर जिसने 1798 में फ्रांस की क्रांति और उदारवादी विचारों के खिलाफ अपने जनसंख्या के सिद्धान्तों को लाया तब इंग्लैण्ड के कुलीनतंत्र ने आनन्द विभोर होकर उसका स्वागत किया, क्योंकि वह प्रमाणित कर रहा था कि जनता की गरीबी सरकार की गलत विकास नीति के कारण नहीं, बल्कि इस कारण है कि उसने ज्यादा बच्चे पैदा कर दिए हैं। इस प्रकार मालथस ने जब जनसंख्या के प्रश्न को एक विशुद्ध राजनीतिक हथियारों के रूप में इंग्लैण्ड के कुलीनतंत्र के हाथों में सौंपा, तब ईस्ट इंडिया कम्पनी उस पर ऐसी मेहरबान हुई कि उसने उसे अपने एक कॉलेज में प्रोफेसरशिप देकर एक महान अर्थशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया, जबकि मालथस अर्थशास्त्र का ए.बी.सी. तक से अनभिज्ञ था। यह सारा करिश्मा शिक्षा पर बहुराष्ट्रीय कम्पनी के अधिकारों का कुपरिणाम था जिसने किसी विषय से अनभिज्ञ प्राणी को उस विषय का पुरोधा बना दिया। स्वतंत्र भारत के आर्थिक विकास का इतिहास बताता है कि भारत में जब एक कुलीनतंत्र/उच्च मध्यवर्ग के अस्तित्व में आने के बाद और उसके साथ-साथ विकास जनित लाभों में जनभागीदारी के लिए जब श्रमिक जनता के आन्दोलन सामने आने लगे तब भारत का कुलीन तंत्र मालथस की शरण में आ गया और एक प्रबल मिथक को सामने ला उसका राजनीतिक उपयोग करने लगा, यह प्रमाणित करने लगा कि लोगों की गरीबी का रहस्य सरकार की गलत विकास नीति नहीं, बल्कि लोगों द्वारा ज्यादा बच्चे पैदा कर दिया जाना है । यही

वह स्थिति है जहाँ से भ्रूण हत्या का एक सिलसिला सरकारी तौर पर चलाए जाने का अभियान-सा चला दिया गया। कन्डोम के इस्तेमाल, नसबंदी, कापर ट्यूब, विभिन्न तरह की गर्भ निरोधक गोलियों का प्रचार आदि के द्वारा तो लड़का या लड़की को भ्रूण के रूप में भी अस्तित्व ग्रहण करने से वंचित किया गया और गर्भपात को कानूनी बना दिया गया। इतना ही नहीं, इस भ्रूण हत्या के प्रति एक वर्गीय दृष्टिकोण भी उभड़ कर सामने आया, जो नसाबंदी और बंध्याकरण कराने पर कुछ मौद्रिक लाभों को सरकार द्वारा दिए जाने, नौकरियों में कतिपय सुविधओं की घोषणा के साथ-साथ नसबंदी और बंध्याकरण को नौकरियों में प्रमोशन आदि के शर्तों के रूप में सरकारें ला दी। इस प्रक्रिया में कितनी बच्चियों और कितने बच्चे जन्म लेने से वंचित रह गए-कौन आँक सकता है? इन सारी जन्म पूर्व हत्याओं के पीछे सरकारी प्रचार का आधार एकदम झूठ पर आधरित था। पहले भी और आज भी प्रपंची मालथस कितना गलत था यह इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि कभी भी भारत की आबादी में विकास की दर इसके आर्थिक विकास दर से ज्यादा रही ही नहीं है। आज भी जब सरकार आर्थिक विकास दर को 8 से 10 प्रतिशत होने का दावा कर रही है तब भारत में जनसंख्या वृद्धि दर मात्र 2.11 प्रतिशत ही है[1]। फिर भी बेरोजगारी में वृद्धि, गरीबी में वृद्धि आदि के लिए जनसंख्या वृद्धि के मालथस के सिद्धान्तों को लाना आबादी के सवाल को एक राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल करने के अलावा और कुछ नहीं है, यह प्रगतिशील वैचारिकता का हनन करने वाला है।

वास्तव में स्त्री-पुरुष अनुपात में आ रहा असंतुलन भारतीय शासक वर्ग को इस कारण चिन्तित नहीं कर रहा है कि अगर पुरुषों की तुलना में, स्त्रियों की संख्या में कमी रहने के कारण पुरुषों के एक खास प्रतिशत को अविवाहित रह जाना पड़ेगा। अभी भी 1991 में बिहार में स्त्री-पुरुष अनुपात 1000 पुरुष पर 927 महिलाएँ थी[2] और 2001 में यह अनुपात 1000 पुरुष पर 933 महिलाओं का हो गया है।[3] आज भी प्रति एक हजार पुरुष पर 927 या 933 महिलाओं की संख्या रहने पर भी शादियाँ या पुरुष कुंआरापन किसी समस्या के रूप में सामने नहीं आया है। बहुत से पुरुष और कई स्त्रियां आजीवन अविवाहित अपनी इच्छा से रह जाती हैं। चूँकि लड़कियों का कुँआरा रह जाना आज भी भारतीय समाज में एक निन्दनीय कार्य माना जाता है मगर अपनी इच्छा से अविवाहित रहने वाले पुरुषों के प्रति उस तरह की निन्दनीय प्रवृत्ति को समाज प्रकट नहीं करता। इस कारण स्त्रियों की तुलना में स्वेच्छापूर्वक अविवाहित रहने वाले पुरुषों की संख्या इस असंतुलन के प्रभाव को समाप्त कर देती है।

काल्पनिक तौर पर अगर इस तथ्य को भी स्वीकार कर लिया जाय कि बालिका भ्रूण हत्या के कारण स्त्रियों की संख्या में भारी कमी हो जाने के बाद इस तरह के कारकों यानि स्वेच्छा पूर्वक अविवाहित रहने वाले पुरुषों के कारण बनने वाला संतुलन अप्रभावी हो जाएगा तब भी समाज इसे बदली स्थिति के अनुकूल अपना हल ढूँढ़ लेगा। क्योंकि भारतीय समाज में भी अन्य समाजों के जैसा ही ऐसी बहुविवाह की प्रणाली रही है जब एक स्त्री के साथ एक से ज्यादा मर्दों की शादियाँ होती थी। आज के इस विकसित सामाजिक परिप्रेक्ष्य में पूर्व की बहुविवाद प्रणाली को एक ज्यादा विकसित तौर-तरीकों के आधार पर समाज अपनाकर शादियों की समस्याओं का निदान निकाल ही लेगा। इसके अलावे, विधवाओं के पुनर्विवाह को ज्यादा-से-ज्यादा मिल रही सामाजिक स्वीकृति के कारण भी इस समस्या की गम्भीरता में कमी आ जाती है। इस प्रकार समस्या को जिस तरह से शासक वर्ग उपस्थित कर रहा है उसकी गम्भीरता उतनी नहीं है। फिर भी, बालिका भ्रूण हत्या की जो समस्या शासक वर्ग को चिन्तित कर रही है वह उसके द्वारा प्रचारित तथ्यों से भिन्न है जिसे वह सामने लाना नहीं चाहता। वास्तव में वर्तमान शासक वर्ग को देश में एक ऐसे श्रम बाजार की जरूरत है जिसमें हमेशा श्रम की मांग की तुलना में श्रम की आपूर्ति ज्यादा बनी रहे ताकि बेरोजगारों की उस भारी फौज में से वे सस्ते दर पर श्रम को खरीद सकें और अपने मुनाफे को बढ़ा सकें। बालिका भ्रूण हत्या के भविष्य के

लाजमी नतीजा का अन्दाज लगाकर वे चिन्तित हैं। वे इस बात से वाकिफ हैं कि विवाह की चाहे जो प्रथा हो एकल या बहु विवाह प्रथा, चाहे स्त्री के एक पति हों या एक से ज्यादा, प्रत्येक स्त्री की प्रजनन शक्ति सीमित है और प्रजनन की आयु भी निश्चित है, प्रसव एक खास समय लेता है आदि। इस कारण कोई भी स्त्री चाहे उसके पतियों की संख्या दो-चार भी क्यों न हो असंख्य बच्चों को जन्म नहीं दे सकती। ऐसी अवस्था में स्त्री का अनुपात मर्द की तुलना में अत्यधिक कम होने पर इसका दूरगामी प्रभाव श्रम बाजार पर पड़नेवाला होगा-यानि श्रम बाजार में श्रम की आपूर्ति में कमी आना और ऐसी हालत में श्रम की कीमत का बढ़ जाना। यही वह तथ्य है जो भारतीय शासक वर्ग को चिन्तित कर रहा है। परिवार नियोजन के कारण ऐसे गम्भीर संकट के सामने आने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि ऐसे संकट का आभास होने पर परिवार नियोजन को त्याग देने और श्रम बाजार में श्रम की बहुलता का विकल्प खुला रहता है, मगर बालिका भ्रूण हत्या के कारण स्त्रियों की संख्या में आयी कमी इस तरह के विकल्पों को समाप्त कर देता है।

यही कारण है कि सरकार दो परस्पर विरोधी नीतियों को जनसंख्या के क्षेत्र में चला रही है। एक तरफ परिवार नियोजन के कार्यक्रमों पर अकूत धन खर्च कर बच्चों के जन्म को बाधित करने को नीतिगत रूप में चला रही है और इसे प्रोत्साहन दे रही है। नहीं कहा जा सकता कि परिवार नियोजन के कार्यक्रमों के कारण स्त्री-पुरुष अनुपात में असंतुलन नहीं आता। परिवार नियोजन के द्वारा तो बच्चे को भ्रूण रूप में भी आकार ग्रहण करने से रोका जा रहा है। किसी महिला को गर्भधारण करने से ही रोक देना या गर्भधारण करने के बाद उसके गर्भ को भ्रूणावस्था में ही समाप्त कर दिया जाना दोनों में कोई खास अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही प्रजनन को बाधित करते हैं। मगर एक क्रिया को पारितोषिक दिया जाता है और दूसरी क्रिया में बालिका भ्रूण हुआ को अपराध मानकर दंडित किया जाता है। गर्भपात को कानूनी रूप से वैध बनाये जाने के नियमों में कहीं भी यह उल्लिखित शायद ही हो कि गर्भपात तभी बैध होता जब पुरुष शिशु को गर्भपात के द्वारा जन्म लेने से बाधित किया जाएगा।

सरकार ने प्रसव पूर्व निदानिक तकनीकें (प्रतिरोध, विनियम एवं अपप्रयोग रोक) अधिनियम, 1994 एवं नियमावली 1996, 2001 एवं 2002 के द्वारा कन्या भ्रूण हत्याओं पर रोक लगाने सम्बन्धी कानूनी प्रावधन बनाया है। इस कानून की विभिन्न धाराओं आदि का मूल्यांकण न भी किया जाय तब भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस कानून के बावजूद भी कन्याभ्रूण हत्या को प्रतिबन्धित किए जाने में कारगर सफलता का अभाव रहा है। शासक वर्ग पुनः अपनी इस त्रुटि को, कानून बन जाने के बाद भी कन्या भ्रूण हत्या पर पूर्ण रोक न लग पाने की स्थिति का एक भद्दा मूल्यांकन कर इसे महज विधि-व्यवस्था का प्रश्न मान रहा है और उन स्थितियों के, जिनके कारण कन्या भ्रूण हत्या हो रही है वस्तुनिष्ठ विश्लेषण से या तो कतरा जाता है, या उसे सामने आने नहीं देता या मनमाना विश्लेषण करता है। आज यह अवश्यक हो गया है कि उन कारकों का पता लगाया जाय जिनके कारण भारतीय समाज में कन्या भ्रूण हत्या के लिए वस्तुनिष्ठ स्थितियों का निर्माण होता है और कानून तथा उसके दमनात्मक तरीके भी उसे रोक पाने में असफल हो रहे हैं। वास्तव में इन वस्तुनिष्ठ कारकों का विश्लेषण इस समस्या को सरकारी विकास नीति के कुपरिणामों के कारण उत्पन्न स्थितियों से जोड़ देता है। महिला एक ऐसा श्रम है जो शादी के बाद एक परिवार से दूसरे परिवार में हस्तांतरित होता है।

यह श्रम किस रूप में दूसरे परिवार में हस्तांतरित होता है-एक उत्पादक श्रम के रूप में जो परिवार की आमदनी में कुछ-न-कुछ इजाफा करेगा या एक उपभोक्ता श्रम के रूप में, जो उत्पादन तो नहीं करेगा मगर उस परिवार के दूसरे सदस्यों, खासकर पुरुष सदस्यों द्वारा उत्पादित माल या वस्तुओं का सिर्फ उपभोग करेगा और आजीवन इसी स्थिति में बना रहेगा। ज्यादा लड़कियाँ शादी के बाद एक उपभोक्ता श्रम के रूप में ही अपने ससुराल के परिवार में हस्तांतरित

होती हैं। नारी की यही स्थिति उसको पुरुष के समतुल्य बराबरी के स्तर पर नहीं आने देती। विचारणीय है कि नारी की इस स्थित के लिए कौन से कारक जिम्मेदार हैं और उनका निदान क्या है?

औपनिवेशिक भारत की स्थिति का विवरण न भी किया जाय और सिर्फ स्वतंत्र भारत के आर्थिक सामाजिक विकास प्रक्रिया पर ही नजर डाली जाय तब पता चलता है कि आजाद भारत को जो सामाजिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य इसके औपनिवेशिक शासको से प्राप्त हुआ, उसमें मजबूत सामंती अवशेष विद्यमान थे और सत्ता में जो वर्ग आया वह राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग था जिसके साथ भारतीय सामंत वर्ग का सहयोग था और विकास नीतियों को प्रभावित करने की भरपूर क्षमता भी भारतीय सामंतवादी अवशेषों को था। चूँकि उत्पादन सम्बन्धों में विद्यमान सामंती अवशेषों को पूर्णत: न समाप्त कर भारतीय शासक वर्ग ने एक हद तक उसके साथ समझौता किया। इस कारण आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में स्त्रियों का स्थान द्वितीयक दर्जे के सदस्य के रूप में रहा-उपभोक्ता श्रम होने के कारण पारिवारिक, सामाजिक आदि मसलों पर लिए जाने वाले निर्णयों में उनकी भागीदारी का न होना, सम्पतित्त सम्बन्धी अधिकारों से वंचित एक ऐसे निरीह प्राणी की भूमिका में उन्हें ला खड़ा किया गया कि उन्हें शिक्षा आदि जैसी सुविधाओं से भी वंचित होना पड़ा। यही कारण है कि उनकी स्थिति मात्र एक उपभोक्ता श्रम के रूप में ही बनी रही। तब शादी-ब्याह के वक्त एक उपभोक्ता श्रम को आजीवन परवरिश करने के लिए एक कीमत की वसूली के रूप में तिलक-दहेज आदि की प्रथा ने मजबूती के साथ स्त्रियों के जीवन को प्रभावित किया।

आज कतिपय कानूनों के द्वारा सरकारी सत्ता से स्त्री सशक्तिकरण के नाम से कई कानून सरकार बना कर महिलाओं को कुछ अधिकार देकर समस्त नारी समस्याओं से निदान पाना चाहती है और बालिका भ्रूण हत्या का मामला हो या नारी उत्पीड़न के अन्य परिदृश्यों का, सरकार इसे एक विधि व्यवस्था के प्रश्न के ही रूप में देखती है और राजसत्ता को प्राप्त दमनात्मक अधिकारों का उपयोग करके समस्या का निदान ढूंढ रही है। सरकारी तंत्र और शासक वर्ग इस तथ्य को नहीं कबूलता कि किसी भी समाज में विद्यमान उत्पादन प्रक्रिया में जो उत्पादन सम्बन्ध बनते हैं उनके आधर पर सामाजिक नियम या शोशल लॉज जन्म लेते हैं, जो किसी व्यक्ति या समाज की इच्छा के अनुरूप नहीं चलते, बल्कि प्राकृतिक नियमों के ही तौर पर स्वतंत्र संचालित होते हैं और उनका प्रकटीकरण व्यक्ति और समाज के जीवन में कई तरह से होता है। बालिका भ्रूण हत्या हो या नारी उत्पीड़न इनकी जड़ में विद्यमान है।

भारतीय समाज में विद्यमान उत्पादन सम्बन्धों के आधर पर बनते सामाजिक नियम और उनका प्रकटीकरण इन्हीं रूपों में हो रहा है, जो किसी दमनात्मक कानून से समाप्त नहीं होंगे, बल्कि उत्पादन सम्बन्धों में मूलगामी बदलावों को लाकर ऐसी वस्तुनिष्ठ स्थिति को पैदा होने के सुयोग का निर्माण करना होगा कि सामाजिक नियमों में गुणात्मक बदलाव आ जाय। यही वह मूलतत्व है जिसे अपनाकर इस समस्या का निदान किया जा सकता है।

संदर्भ

1. सेन्सस रिपोर्ट-2001
2. 1991 जनगणना
3. 2001 जनगणना

विवाह और दहेज प्रथा की अन्तर्ग्रनहित सैद्धान्तिकता

डॉ० ममता मनोरम

अब्सट्रैक्ट: *विवाह और दहेज प्रथा एक वर्गीय अवधारणा के रूप में प्रकट होते आ रहे हैं। इनका स्वरूप और प्रकार चाहे जो भी रहे ये वर्गीय समाज में एक वर्गीय संस्था के रूप में विद्यमान रहते हैं और इसी रूप में हम आज इन्हें देख रहे हैं। सारे प्रयासों और कानूनी उपायों के द्वारा भी इनको इनके इस रूप में वर्तमान रहने से रोकने में असफलता के मूल में इनके प्रति अपनाए गए दृष्टिकोणों का वर्गीय न होना ही है।*

एक सामाजिक संस्था के रूप में आज विवाह और दहेज प्रथाएं अपने जिस स्वरूप में वर्तमान हैं, उनके विकास का एक लम्बा इतिहास रहा है। अगर यह कहा जाय कि समाज के ऐतिहासिक विकास के क्रम में विवाह का स्वरूप और दहेज की प्रथा उस काल विशेष की उत्पादन-पद्धति के अनुरूप ही विकसित होती रही है- तब यह दलील सम्भवत: बहुतों को अवश्विसनीय लगे, मगर सामाजिक विकास के वैज्ञानिक नियमों और अवधरणाओं के परिप्रेक्ष्य में किया गया विश्लेषण, मूल्यांकन या छानबीन हमें इसी सच्चाई पर ले जाते हैं कि भूतकाल में या वर्तमान में विवाह और इससे सम्बद्ध दहेज प्रथा का स्वरूप चाहे जो भी रहा हो, या है, यह एक वर्गीय अवधरणा ही रहा है, और आज भी यह एक वर्गीय अवधरणा ही है। विवाह और दहेज के भूतकालीन स्वरूपों और अवधरणाओं को छोड़ भी दिया जाय और वर्तमान में मौजूद विवाह और दहेज प्रथा का सागोपांग विवेचन किया जाय तब निष्कर्ष यही निकलता है कि आज भी ये संस्थाएं अपने वर्गीय स्वरूप में ही विद्यमान हैं।

चंद अपवादों को छोड़कर आज विवाह प्रथा अपने जिस स्वरूप में विद्यमान है, वह सारे सभ्य मानव समाज में 'एकल विवाह प्रथा' के रूप में वर्तमान है- यानि एक पुरुष का एक नारी के साथ विवाह। सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व की अवधारणा के उद्‌भव और विकास के साथ इस अधिकार को संरक्षण प्रदान करने के लिए निर्मित और विकसित राजनीतिक संस्थाओं ने, जिनमें राज्य अपने पुलिस और फौज तथा न्यायिक कचहरियों के साथ आज सबसे मजबूत संस्था के होने के बल पर जब इस अधिकार को सामाजिक मान्यता प्रदान करा दिया तब विवाह की वे सारी प्रथाएं, जो सम्पत्ति के निजी स्वामित्व की अवधारणा के रास्ते में बाधक थीं, प्राय: विलुप्त हो गईं, जो बच गईं वह 'एकल विवाह प्रथा' ही है। 'एकल विवाह प्रथा' के मोटा-मोटी आज दो ही प्रकार या रूप वर्तमान है, विवाह का तरीका चाहे जो हो, धर्मिक रीति से हो या किसी कानूनी प्रावधन के तहत। इसका पहला या सबसे ज्यादा मान्य प्रकार या स्वरूप है कि माता-पिता या अन्य कोई अभिभावक अपने लड़के या लड़की के लिए विवाह तय करते हैं, जिसे 'बातचीत द्वारा (या निगोसियेटेड) तय शादी' कहा जाता है। इसका एक दूसरा पाकर होता है कि शादी करने वाले लड़के और लड़की आपस में स्वयं बातचीत करके शादी करते हैं, जिसे सामान्यत: 'प्रेम विवाह' कहा जाता है। इन दोनों प्रकारों में शादी का स्वरूप चाहे (निगोसियेटेड मैरेज) 'बातचीत द्वारा तय शादी' का हो या 'प्रेम विवाह' का शादी का चरित्र हमेशा वर्गीय ही रहता है।

बातचीत के द्वारा जब एक सम्पन्न पिता या अभिभावक अपने जवान पुत्र के लिए, जो उसकी सम्पत्ति का वारिस होगा, जब अपने ही आर्थिक वर्ग की एक लड़की को अपने बेटे की पत्नी के रूप में चुनता है, तब 'एकल विवाह

प्रथा' के समस्त अन्तर्विरोध सबसे ज्यादे खुलकर सामने आ जाते हैं। यह तरीका एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित करता है जिसमें होने वाले पति के ऊपर एक तरह का जबरन या अवांछित (Hetaerism) लिंग सम्बन्ध और होने वाली पत्नी के ऊपर एक किस्म पर पुरुष दैहिक सम्बन्ध (Adultery) थोपा जाता है।

जिन समाजों में सम्पन्न परिवारों के लड़के और लड़कियों को यह आजादी रहती है कि वे अपने लिए क्रमशः पत्नी और पति का चुनाव अपनी इच्छा से कर ले सकते हैं, वहां कुछ हद तक विवाह प्रेम आधरित होता है। इस कारण पति के लिए हेटेयरिज्म (Hetaerism) अपेक्षाकृत कम रहता है और पत्नी के मामले में एडल्टेरी (Adultery) भी उस तरह का कठोर नियम नहीं रहता। फिर भी, इन दोनों ही हालातों में शादियां जिनके बीच हो रही हैं उनकी वर्ग स्थितियों के आधार पर ही निर्धारित होती हैं, और दोनों ही स्थितियों में शादियाँ 'सुविधा की शादियाँ' हैं। दोनों ही स्थितियों में शादियाँ वर्गीय सुविधा के अनुकूल ही की जाती हैं। इन दोनों ही तरह की शादियों में जब वर्ग सुविधा (Marriage of convenience) ही शादियों का मूल आशय रहता है तब हमेशा ये शादियाँ एक तरह की वेश्यावृत्ति के एक उच्च स्वरूप के रूप में प्रकट होती है। कुछ मामलों में मर्द और औरत दोनों के लिए और कुछ मामलों में सबसे ज्यादा पत्नी के लिए। इसमें औरत के प्रसंग में एक सामान्य वेश्या से फर्क मात्र इतना ही रह जाता है कि वह अपने शरीर का सौदा भिन्न-भिन्न मर्दों के साथ टुकड़ों में या बारी-बारी से न करके एक व्यक्ति के साथ जीवन भर के लिए बिक जाती है। उसका इस तरह आजीवन बिक जाना ही उसे लिंग कार्यकर्त्ताओं (Sex Workers) से अलग करता है। इसी को फ्यूरर ने अपने शब्दों में व्याख्यायित करते हुए कहा है कि : जिस तरह व्याकरण में दो निरर्थक शब्द आपस में मिलकर सार्थक बन जाते हैं, उसी तरह शादी की नैतिकता में दो किस्म की वेश्यावृत्तियां (मर्द के हिस्से का हेटायरिज्म और औरत के हिस्से का कोर्ट सान) मिलकर एक मूल्य या वर्च्यू (Virtrue) का निर्माण कर देती हैं।[1]

वास्तव में पति-पत्नी के प्रेम पर आधारित विवाह मात्र धनहीनों में ही सम्भव है, चाहे उसे कानूनी वैधता हो या न हो। इन धनहीनों में एकल विवाह पद्धति के वे सारे आधार विलुप्त रहते हैं जिन पर धनी वर्ग की 'एकल विवाह पद्धति' आधारित है। यहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति का जिसकी रक्षा के लिए 'एकल विवाह पद्धति' लाई गई, और समाज को पुरुष प्रधान बनाया गया, सर्वथा अभाव है, व्यक्तिगत सम्पत्ति है ही नहीं। इस कारण पुरुष प्रधानता यहाँ समाप्त है, सम्पति रक्षा सम्बन्धी सारे कानूनों की कोई समीचीनता है ही नहीं। इन धनहीन परिवारों में पति-पत्नी के बीच किसी तरह के मौद्रिक सम्बन्धों का सर्वथा अभाव रहता है, ऐसे सम्बन्ध रहते ही नहीं हैं, यह इनका व्यक्तिगत सम्बन्ध एक बिल्कुल भिन्न किस्म का रहता है, पूर्णतः अमौद्रिक।

आधुनिक काल में बड़े पैमाने पर हो रहे औद्योगिकरण ने महिलाओं को भी घर की चारदीवारी से बाहर निकाल कर श्रम बाजार में ला खड़ा कर दिया है। अब महिलाएँ भी परिवार के जीविकोपार्जन में हाथ बंटाने वाली हो गई हैं और धनहीन परिवारों की महिलाओं की अपने पतियों पर जो भी थोड़ी बहुत आर्थिक निर्भरता बची थी वह प्रायः समाप्त हो गई है। अगर 'एकल विवाह पद्धति' का जो थोड़ा अवशेष धनहीन परिवारों में बच रहा है वह है मर्दों द्वारा औरतों पर किया जाना जोर जुल्म जिसे 'एकल विवाह पद्धति' ने स्थापित किया है। इस प्रकार 'एकल विवाह' के सारे बंधनों से धनहीन परिवारों में होने वाली शादियाँ अपने को मुक्त कर ली है, यहाँ पति-पत्नी के बीच का सम्बन्ध विशुद्ध रूप से आपसी प्रेम, सच्चे प्रेम पर आधारित है। जब इसमें व्यवधान आता है तब आसानी से अलगाव हो जाता है।

शादी की इसी ऊपर वर्णीत वर्गीय अवधरणा के गर्भ से जन्मा दहेज एक सामाजिक विकृति का रूप धारण कर चुका है। दहेज के कारणों और निदानों की मीमांसा आज तक वर्गीय अवधारणा से हट कर की जाती और खोजी जाती रही है, यही कारण है कि इसे रोकने के सारे कानून आज तक असफल रहे हैं और यह बढ़ता जा रहा है। वास्तव में समाज शास्त्रियों ने दहेज को जिस तरह से परिभाषित किया है उसका आधार है दहेज को एक सामाजिक परिघटना के रूप में ही विश्लेषित करना। इस कारण सभी ने इसे शादी के समय दिए जाने वाले धन के रूप में ही देखा है।[2]

इन समाजशास्त्रियों ने दहेज के उस आधार पर दृष्टि नहीं डाली है, जो इसका मूल कारण है और जिसके द्वारा दहेज को आर्थिक आधार मिलता आ रहा है और आज भी मिल रहा है। कानूनी प्रावधानों के द्वारा भी इस आर्थिक आधार को समाप्त करने का चूकि प्रयास किया ही नहीं गया इस कारण काननू भी निष्फल ही रहे। देखें, यह आर्थिक आधार क्या है?

वास्तव में विवाह का स्वरूप चाहे जो भी हो, यह बातचीत से तय एरेन्ज्ड शादी हो या प्रेम विवाह इन दोनों ही अवस्थाओं में श्रम का स्थानान्तरण एक परिवार से दूसरे परिवार में होता है। शादी के बाद जब लड़की अपने माता-पिता के घर से हमेशा के लिए अपने पति के घर जाती है तब उसके जीवननिर्वाह के लिए आवश्यक सारे खर्चों का बोझ उसके पति के परिवार के जिम्मे आ जाता है। इस अर्थ में विवाह आर्थिक दायित्व का हस्तानान्तरण भी होता है, शादी तक जिन आर्थिक दायित्वों को लड़की के माता-पिता उठाते आ रहे थे, लड़की की शादी के बाद वे उससे मुक्त हो जाते हैं और वह सारा आर्थिक दायित्व पति या पति के परिवार वालों पर आ जाता है। इस तरह आर्थिक दायित्व के स्थानान्तरण की एक ऐसी प्रक्रिया पूरी हो जाती है, जो स्थाई होती है। यही एक महती प्रश्न सामने आता है कि: जो श्रम या मानव संसाधन स्थानान्तरित होकर एक परिवार से दूसरे परिवार में जाता है उसका चरित्र या स्वभाव क्या है? स्थानान्तरण होकर जाने वाला श्रम या मानव संसाधन दो ही रूपों में स्थानान्तरित होकर जा सकता है या तो 'उभोक्ता श्रम' के रूप में या 'उत्पादक श्रम' के रूप में। श्रम का स्थानान्तरण जब मात्र 'उपभोक्ता श्रम' के रूप में एक परिवार से दूसरे परिवार में होता है तब वह अपने नये परिवेश में भी उत्पादन कुछ नहीं करेगा, सिर्फ उपभोग करेगा, सिवाय इसके कि औरत बच्चे पैदा करेगी। इस प्रकार वह लड़की, जो मात्र 'उपभोक्ता श्रम' के रूप में स्थानान्तरण होकर पति के घर गई वह एक स्थाई किस्म की आर्थिक जिम्मेदारी को परिवार पर थोप देती है।

मगर जब श्रम का स्थानान्तरण 'उत्पादक श्रम' के रूप में होता है तब स्थितियाँ बिल्कुल भिन्न होती हैं। यहाँ स्थानान्तरित होने वाला श्रम या मानव संसाधन अपने नए परिवार, जिसमें शादी के बाद उसका स्थानान्तरण हो जाता है और हमेशा के लिए की आमदनी में योगदान करता है, यह परिवार पर भार नहीं, परिवार की अर्थव्यवस्था में मददगार की भूमिका निभाता है, और वह भी हमेशा के लिए। समाजशास्त्री शादी की इस अवधरणा को आज तक मान्यता नही दे पाए हैं। दहेज का सम्बन्ध श्रम के इसी तरह के स्थानान्तरण से है और जो इसकी वर्गीय चारित्रिक विशेषताएँ हैं।

बड़े औद्योगिक घरानों में जहाँ अकूत सम्पदा जमा है और उनके पारिवारिक खर्चों का बजट लम्बा और लाखों, रुपये प्रति माह का है, किसी एक आदमी का उसमें इजाफा हो जाने से किसी भी तरह का बुनियादी फर्क नहीं पड़ता। द्वितीय, अगर स्थानान्तरण होकर आया श्रम कुछ गुण सम्पन्न है तब उसे 'उत्पादक श्रम' में तब्दील कर देने के अवसर भी उनके पास अकूत हैं। इस तरह ऐसे परिवारों में होने वाली शादियों में मात्र पारिवारिक स्टेटस ही प्रधान भूमिका में रहता है, दहेज शादी के शर्त के रूप में प्राय: नहीं आता। अगर बड़ी या छोटी रकम इस अवसर पर लड़की या लड़के को दी भी जाती है तो वह पूर्णत: ऐच्छिक होती है उसमें शादी की शर्त लगी नहीं रहती। इस तरह बड़े पूँजीपति घरानों में दहेज प्रथा को प्राय: नहीं देखा जाता है।

दूसरी तरफ शादियाँ और दहेज की प्रथा को सम्पत्तिहीन, पूर्ण सर्वहारा, परिवारों में देखा जाय तब एक भिन्न स्थिति दीखती है। इन परिवारों में शादी के बाद जिस श्रम का स्थानान्तरण होता है, यानि जो लड़की अपने माता-पिता के घर से शादी के बाद अपने पति के घर जाती है, वह श्रम 'उपभोक्ता श्रम' होता ही नहीं है। शादी के चंद दिनों या माहों के बाद वह भी पति के परिवार के अन्य सदस्यों की ही भांति मजदूरी करने और अपने श्रम के द्वारा कुछ-न-कुछ कमा कर परिवार की आमदनी में योगदान करने लगती है। इसका श्रम एक ऐसा अकुशल श्रम है, जिसे शहर हो या देहात अकुशल कार्य सम्पादन में काम मिल ही जाता है। इन परिवारों में श्रम का स्थानान्तरण परिवार पर आर्थिक जिम्मेदारी का बोझ बढ़ता नहीं, अपितु कम करता है। दूसरी बात यह है कि 'एकल विवाह प्रणाली' का आधार

(व्यक्तिगत सम्पत्ति : जिसका वर्णन ऊपर किया गया है) चूंकि इन परिवारों में प्राय: लुप्त रहता है इस कारण पति-पत्नी का सम्बन्ध भी विशुद्ध प्रेम पर आधारित रहता है और दोनों, पति और पत्नी, पूर्ण स्वतंत्रता का जीवन जीते हैं। इसमें व्यवधान आने पर आसानी से एक दुसरे से अलग भी हो जाते हैं। इन परिवारों में भी दहेज प्रथा का सर्वथा अभाव दीखता है।

दहेज प्रथा का सबसे विकराल रूप मध्यमवर्गी परिवारों में देखने को मिलता है। ऐसे परिवारों में न तो पूर्ण सर्वहारा की स्थिति है और न इजोरदार पूंजीपति वर्ग जैसी स्थिति है। विकास के क्रम में यह वर्ग अपने को हमेशा उच्च आर्थिक स्थितियों में ले जाने के लिए प्रयासरत् रहता है मगर वर्ग विभाजित समाज में शोषण की जो दुरूह प्रक्रिया चलती है और उन्नत मशीनीकरण के कारण उसकी जटिलता इस वर्ग की आर्थिक स्थिति को कमजोर करती रहती है। इसके पास उपलब्ध थोड़ी बहुत व्यक्तिगत सम्पति 'एकल विवाह' के आधारों से इसे मुक्त नहीं होने देती, सम्पत्ति के पैतृक ढंग के स्थानान्तरण के नियम के कारण, जिसने 'एकल विवाह प्रथा' को जन्म दिया और स्त्रियों के स्थान को परिवार में द्वितीयक दर्जे का बना दिया, यह वर्ग विभिन्न तरह की मान्यताओं को ढोता चलता है। ऐसे परिवारों में श्रम का स्थानान्तरण- यानि शादी के बाद लड़की का माता-पिता के घर से सदा के लिए पति के घर जाना-प्राय: एक उपभोक्ता श्रम के रूप में ही होता है, जो जीवनभर परिवार के मर्दों द्वारा अर्जित आय पर निर्भर रहेगी और कुछ पैदा करेगी तो वह है बच्चा। अपनी मध्यवर्ती सामाजिक आर्थिक स्थिति के कारण न तो यह वर्ग पूँजीपति बन पाता है और न सर्वहारा, मगर व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्धों की मौजूदगी में यह अपनी स्थिति को ऐसा बना लेता है कि स्थानान्तरित श्रम को 'उत्पादक श्रम' बनाने में भी यह सफल नहीं हो पाता। अपनी औरतों को वह अकुशल श्रम को मिलने वाले कार्यों में लगा नहीं सकता और बेरोजगार पैदा करने वाली आर्थिक संरचना में उसे अपनी महिलाओं के लिए मनपसंद काम मिल नही पाता। इस कारण इस वर्ग के परिवारों में शादी के बाद स्थानान्तरित श्रम जब हमेशा उपभोक्ता श्रम ही बना रहेगा तब उस उपभोक्ता श्रम की आर्थिक जिम्मेदारियों को उसके जीवन पर्यन्त उठाने वाला परिवार दहेज की मांग करता है। दहेज का यही वर्गीय स्वरूप है जिसे ध्यान में रखा जाना जरूरी है।

आज एक उल्टी समझ के साथ दहेज को समाप्त करने की चेष्टा की जा रही है। यह समझा जाता है कि माता-पिता या पति के परिवार में सम्पति के उतराधिकार के नियमों को बदल कर अगर लड़कियों को भी लड़कों के समान ही हक दे दिया जाय तब दहेज प्रथा समाप्त हो जाएगी। यह स्थिति दहेज की मांग को बढ़ा देने वाली है। जब शादी के बाद लड़की अपने पति के परिवार की सम्पत्ति में कानूनी हकदार बन जाती है तब लड़के पक्ष की यह समझ बनती है कि शादी के बाद जब कन्या अपने ससुराल की सम्पति का, बिना उसमें कुछ योगदान कि ये उतराधिकार प्राप्त कर लेगी तो कन्या के पिता को उस सम्पत्ति के मूल्य के कुछ हिस्से को देना ही चाहिए। इस अवधारणा के कारण दहेज की रकम की मांग बढ़ जाती है। दूसरी तरफ, जब पिता की सम्पत्ति में कन्या को उत्तराधिकार कानून के द्वारा हक प्रदान कर दिया जाता है तब शादी के वक्त कन्या को एक 'उपभोक्ता श्रम' के रूप में स्वीकार करने वाला लड़के के पिता की यह समझ बनती है कि लड़की के पिता को लड़की के हिस्से के रूप में मौजूद सम्पत्ति का एक भाग दहेज के रूप में तो दे ही देना चाहिए। इन दोनों ही स्थितियों में दहेज की मांग बढ़ जाती है।

वास्तव में विवाह और दहेज, दोनों ही के प्रति एक वर्गीय दृष्टि अपनाने की जरूरत है। 'एकल विवाह पद्धति' का आधार है सम्पति के व्यक्तिगत स्वामित्व की अवधरणा सम्बन्धी कानून, जो वर्गीय समाज का अनिवार्य लक्षण है। जरूरत है इसे समाप्त करने की। आर्थिक-सामाजिक संरचना का गठन इस तरह करने की ताकि प्रत्येक श्रम 'उत्पादक श्रम' बन जाए और उपभोक्ता श्रम नहीं रहे इसके लिए पूर्ण रोजगारी की स्थिति पैदा करनी होगी। पश्चात्य जगत में

जहाँ समाज वर्गीय है फिर भी दहेज प्रथा नहीं है वहाँ शादियों का स्वरूप लड़का के लिए हमेशा 'सुविधा की शादियाँ' है, जो वेश्यावृति के एक उच्च स्वरूप में प्रकट होती है–जहाँ आनन–फानन में तलाक होता रहता है। इस तरह विवाह और दहेज को वर्गीय आधार से हटकर जब तक देखा जाता रहेगा इस बुराई को रोक पाना कठिन है।

संदर्भ

1. पूर्ण विवरण के लिए देखा जा सकता है: चार्ल्स फ्युरर, *फ्री मैन,* पृ. 29, 116, 258, 294.
2. मैक्स रॉडीन, *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज* भो. – 5, पृ. 230 और *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटानिका* आदि में देखा जा सकता है।

प्राकृतिक आपदा और भूकम्प: कारण और समाधान

डॉ. सुमन कुमार

सहायक शिक्षक, नवोदय विद्यालय, अरुणाचल प्रदेश

आपदा शब्द अंग्रेजी के डिजास्टर का हिन्दी अनुवाद है। जिसका अर्थ सहसा बड़े पैमाने पर जान और माल के नुकसान से है। मनुष्य के जीवन में अनेक आपदाएँ आती हैं जो उनके जीवन को बुरी तरह प्रभावित करती है । कोई नहीं जानता कि आपदाएँ कब कहाँ और किस रूप में आकर खड़ी हो जाएगी और समस्त जीवन समुदाय को तहस नहस कर देगी। मनुष्य अपने स्वार्थपूर्ति के लिए प्राकृतिक संसाधनों का दोहन इतना अधिक कर दिया है कि समस्त जीव वनस्पतियों तथा खुद को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। यदि यह क्रम इसी प्रकार बेरोक-टोक चलता रहा तो वह दिन दूर नहीं जब पृथ्वी पर कोई भी जीवधारी सुरक्षित नहीं रहेंगे और अन्य ग्रहों की भाँति पृथ्वी भी जीव विहीन हो जाएगा। आपदाएँ दो प्रकार की होती है-

प्राकृतिक आपदाएँ:- इसके अंतर्गत भूकम्प, भूस्लखन, बाढ़, सुनामी, ज्वालामुखी विस्फोट तथा दावानल (जंगल में आग) आदि आते हैं। अर्थात ऐसी आपदाएँ जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता इसलिए इन्हें दैवी प्रकोप की भी संज्ञा दी जाती है। पर्यावरण के ह्रास के परिणामस्वरूप हमारे समक्ष कई प्राकृतिक आपदाएँ उपस्थित हो जाती है जैसे बाढ़ तथा सूखा वनों के अन्धा-धुन्ध कटाई के कारण वर्षा के जल के बहाव पर नियंत्रण नहीं रह जाता। नदियो में अधिक जल आने से बाढ़ तथा मिट्टी का बड़े पैमाने पर क्षरण होता है तथा उपजाऊ भूमि बंजर भूमि में बदल जाती है। वन बादल को आकर्षित कर वर्षा में सहायक होते हैं। उनके तेजी से कटने के कारण वर्षा में अनियमितता पाई जाने लगी है। इसके कारण प्रति वर्ष पृथ्वी पर कहीं न कही भयंकर सूखा पड़ता है। बाढ़ और सूखा दोनों का प्रभाव कृषि पर पड़ता है जो मानव जीवन का आधार है। वनों के ह्रास से न केवल वनस्पतियों की बहुत सारी जातियाँ नष्ट हो गई है या नष्ट होने के कगार पर पहुँच गयी है । वन जीवों का आवास दिन प्रति दिन संकुचित होता जा रहा है तथा उन्हें विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है। कुछ अन्य प्राकृतिक आपदाएँ चक्रवाती तूफान, भूकम्प, सूखाड़ प्लेग, डेंगू, चिकनगुनिया, मलेरिया जैसी महामारी भी है।

मानवनिर्मित आपदाएँ:- धर्म और जिहाद के नाम पर निहित स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दहशत फैलाने के लिए आंतकी हमलों आदि की घटनाएं जैसी कि 26 नवम्बर 2007 को मुंबई में घटित हुई थी, भी आपदा के अतंर्गत आती है। युद्ध की विभीषिका नाभिकीय विस्फोट और बमबारी आदि भी आपदाएँ हैं। जिनसे सामान्य नागरिक भी प्रभावित होते हैं। आजकल युद्ध के अन्य रूप जैविक युद्ध और रसायन युद्ध भी है जो अत्यंत ही घातक है। जैविक युद्ध के लिए अनुकूल वातावरण में विभिन्न जीवाणु और विषाणुओं के साथ-साथ बिच्छुओं और घातक मच्छरों का संवर्धन कर उन्हें डिब्बा बंद कर शत्रु कैम्पों पर विमान से छोड़ दिया जाता है जो अतंत: पर्याप्त क्षेत्र में फैलकर महामारी का रूप ले लेते हैं। रसायन युद्ध भी कष्टदायक और घातक होते हैं। विषैली गैसों बम और कलस्तर बम को शत्रु कैम्पों पर छोड़ा जाता है। इस संदर्भ में इराक के पूर्व राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन के एक सलाहकार का नाम सर्वविदित है जिन्हें केमिकल अली की संज्ञा दी गई थी।

कुछ आपदाएँ कम्पनियों के संयंत्रो में लापारवाही या दोषपूर्ण रखरखाव के कारण होती है जिन्हें पर्यावरणीय त्रासदी कहा जाता है। इस संदर्भ में भोपाल त्रासदी का उदाहरण उल्लेखनीय है। 3 दिसम्बर 1984 को भोपाल स्थित यूनियन कार्बाइड फैक्टरी से प्रात: काल किसी टैंक से विषैली गैस मिथाइल आयसो सायनाइड का रिसाव शुरू हुआ। सर्दियों के दिन थे फिर भी देखते-देखते हजारों लोग मारे गये और हजारों लोग प्रभावित हुए जिनमें से अधिकांश आज भी पीढ़ी दर पीढ़ी श्वशन तथा अन्य रोग से प्रभावित हैं। इसी प्रकार नाभिकीय विस्फोट के प्रभाव अति विनाशकारी तथा दूरगामी होते हैं। इस शोध लेख का उद्देश्य

मुख्यत: प्राकृतिक आपदा भूकम्प और उसके प्रबंधन का विवेचन करना है।

भूकम्प:- भूकम्प भी इसी प्रकार का भयानक प्राकृतिक आपदा है। यह सही है कि इस पर मानवीय क्रियाओं का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता तथा इसके विषय में कोई भी भविष्यवाणी संभव नहीं है पर इसके आने पर व्यापक क्षति होती है। घर और अन्य आधारभूत संरचना ध्वस्त हो जाती है तथा जान-माल की हानि होती है। लोगों का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है । भूकम्प के संबंध में विद्वानों का मानना है कि धरातल के नीचे चट्टानों के टूटने तथा खिसकने से अथवा ज्वालामुखी प्रक्रिया से या फिर प्लेटों के परस्पर टकराने से या घर्षण से भूकम्प उत्पन्न हो जाता है। इससे भूकम्प केन्द्र के निकट सबसे अधिक बर्बादी होती है परन्तु ज्यो-ज्यों हम केन्द्र से दूर जाते हैं भूकम्प की तीव्रता घटती जाती है तथा बर्बादी भी कम होती है।

दुर्भाग्यवश दिल्ली, हरियाणा, हिमाचल तथा उतराखंड सहित समस्त उतर भारत भूकम्प प्रवृत क्षेत्र है। इस कारण समय-समय पर भूकंप आते रहते हैं। इसके अतिरिक्त एक विवर्तन प्लेट महाराष्ट्र होती हुई गुजरात में भुज तक जाती है। भूकंप की प्रवृति पर्वतजनन क्रिया से भी संबंधित है। हिमाचल अपेक्षाकृत किशोर पर्वतमाला है इस कारण यहाँ पर्वतजन के कारण भूकंपीय प्रवृति बनी हुयी है जबकि सतपुड़ा विन्ध्याचल तथा नीलगिरि आदि व्यस्क पर्वत श्रेणियाँ है और इनमें पर्वतजन न होने के कारण भूकंप की संभावना नहीं के बराबर है। भूकंप के मापन के लिए सर्वाधिक प्रचलित पैमाना रिक्टर स्केलें है इसमें एक अंक से दूसरे अंक में 10 गुने का अंतर होता है। अर्थात छह रिक्टर स्केंले का भूकंप 5 रिक्टर स्केले के भूकम्प से 10 गुणा शाक्तिशाली होगा।

भूकम्प का प्रभाव:-भूकम्प दो तरह से प्रभाव डालते हैं:-

(1) स्थालकृति पर प्रभाव- भूकम्प भू संरचना (earth movement) का आकस्मिक रूप है। भूकम्पों का स्थालकृति पर कोई खास महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता है फिर भी कुछ छोटे प्रभाव पड़ते ही हैं। कहीं चट्टानें ऊपर उठ जाती है तो कहीं नीचे धस जाती है। पहाड़ों की ढाल पर इसके कारण भू-स्खलन (land slide) होते हैं तथा बड़े-बड़े शिलाखण्ड नीचे आ जाते हैं। धरती पर दरारें हो जाती हैं तथा अन्दर से बालू तथा गर्म जल निकलने लगता है जिसके कारण कभी-कभी झीलें बन जाती है। इन परिवर्तनों का स्थालकृति की दृष्टि से केवल स्थानीय महत्व है।

(2) मानव एवं अन्य जीवों पर प्रभाव- मानवीय दृष्टि से भूकम्पों का प्रभाव अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें जान और माल की बहुत क्षति होती है। इसके विनाशकारी और भयानक रूप से मनुष्य सदा परिचित रहा है। सबसे अधिक हानि घने आबादी क्षेत्र में होती है। कुछ ही क्षणों में हजारों मकान टूट कर धाराशायी हो जाते हैं। पूल टूट जाते हैं और रेल की पटरियाँ टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती हैं। हजारों लाखों लोगों की मृत्यु हो जाती है और जो मृत्यु से बच जाते हैं तो कुछ तो अपंग हो जाते हैं और कुछ का शेष जीवन त्रासदीपूर्ण हो जाता है। भूकम्प के कारण क्षणभर में ही लोगों का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है और चारों ओर विनाश का दृश्य उपस्थित हो जाता है समुद्र में भूकम्प के प्रभाव से उँची-उँची लहरे (सुनामी) उठने लगती है तथा इनसे तटीय प्रदेशों में भीषण तबाही होती है। भूकम्प के इस विनाशकारी प्रभाव के कुछ उदाहरण भारतीय संदर्भ में दिए जाए सकते हैं:-

(i) 20 अक्टूबर 1991 में उत्तरकाशी में आए भूकम्प में 770 व्यक्ति मारे गए 5000 घायल हुए रिक्टर पैमाने पर इसकी तीव्रता 6.6 थी। लगभग 2093 गाँव इससे प्रभावित हुए मृतक मवेशियों की संख्या 3100 थी।

(ii) 30 सितम्बर 1993 को महाराष्ट्र के लातूर में आए भूकम्प की तीव्रता 6.4 थी इसमें 9884 लोग मारे गए। मृतक मवेशियों की संख्या 14845 तथा 96 गाँव भूकंप से प्रभावित थे। इसमें कुल संपत्ति का नुकसान 30 करोड़ के लगभग था।

(3) भुज में भूकम्प 26 जनवरी 2001 को आया जब लोग गणतंत्र दिवस की खुशियाँ मना रहे थे। उसी समय 8.47 मिनट 47 सेकण्ड पर भूकम्प आया इसमें भूकम्प केन्द्र की गहराई 25 कि0मी0 थी। इसमें मृतक की संख्या 18250 तथा मृतक मवेशियों की संख्या 20,000 से उपर थी। कुल क्षतिग्रस्त मकानों की संख्या 524929 थी। इससे लगभग 3825 गाँव प्रभावित हुए थे। इसमें कुल संपत्ति का नुकसान लगभग 15000 करोड़ रुपया था जो अब तक हुए किसी भी भूकंप क्षति से अधिक था।

आपदा प्रबंध:- भूकंप एक अत्यंत ही विनाशकारी आपदा है। यद्यपि भूकंप की अवधि कुछ ही क्षणों की होती है परंतु पलक झपकते विनाश का दृश्य उपस्थित हो जाता है। भूकंप का पूर्वानुमान संभव नहीं है यद्यपि विद्वानों ने पृथ्वी पर भूकंप के संभावित क्षेत्र की पहचान कर ली है परन्तु यह देखा गया है कि कभी-कभी भूकम्प उन क्षेत्रो में भी आते है जहाँ इसकी

संभावना नहीं होती। अत: यह आवश्यक है कि भूकम्प संभावित क्षेत्र में भूकम्प जैसी आपदा से बचने के लिए लोग पहले से ही सचेत एवं तैयार रहें ताकि भूकम्प आने पर त्वरित कार्रवाई की जा सके तथा जान माल की हानि कम से कम हो सके। इसे आपदा प्रबंध कहते हैं।

(i) प्रत्येक भूकंप के बाद यह बात सामने आती है कि इस संकट से निपटने के लिए जो तैयारियां की गई थी वह न के बराबर थी। इसके लिए हमें देश के विभिन्न भागों के लिए कार्रवाई योजना तैयार करनी चाहिए। इन योजनाओं के कारगर होने की भी आवश्यक जाँच की जानी चाहिए और बदलते परिप्रेक्ष्य में इनका समय-समय पर मूल्यांकन होना चाहिए।

(ii) पहाड़ों में भूकंप के बाद भू-स्खलन और पूल टूट जाने के कारण आवागमन या मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। खाद्य सामग्री, कपड़े, दवाइयाँ, घायलों को निकालना जैसे आवश्यक कार्यों के लिए वैकल्पिक तकनीकी का पता लगाना होगा।

(iii) भूकंप रोधी निर्माण के लिए आवास एवं नगर विकास निगम तथा निर्माण सामग्री एवं प्रौद्योगिकी संवर्धन परिषद नयी दिल्ली द्वारा कई सिफारिशें की गयी है। भवन निर्माण में इनके उपयोग से भूकंप से हुए नुकसान को काफी कम किया जा सकता है। सुनियोजित अभियान द्वारा इनके प्रयोग के प्रति जागरूकता उत्पन्न किया जाना चाहिए।

(iv) भूकंप के बाद विभिन्न स्वयं सेवी संस्थाओं, राज्यों तथा विदेशों से बड़ी मात्रा में राहत सामग्रियाँ प्राप्त होती है। यह अनुभव किया गया है कि इस प्रकार प्राप्त सामग्रियों का भण्डारण तथा उनके सही वितरण के लिए कोई उचित व्यवस्था नहीं होती और न प्राप्ति और वितरण के बीच कोई समन्वय (Coordination) नहीं होता। ऐसी पद्धति विकसित की जाय जिससे पीड़ित लोगों को सही समय पर पर्याप्त राहत सामग्री मिल सके।

(v) पहाड़ों पर बहुमंजिला भवन के निर्माण को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। प्रतिवलित कंक्रीट भवनों में लंबे स्तंभ (कॉलम) भूकंपों का प्रतिरोध करते हैं।

(vi) भूकंप आने पर प्रभावित क्षेत्र में संकरी-गली होने के कारण मलवे आदि इस प्रकार जमा हो जाते हैं कि राहत कार्य में काफी कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त भू-स्लखन से पुलों के टूट जाने के कारण भी बचाव और राहत कार्य प्रभावित होता है। अत: इस बात की आवश्यकता है कि इस प्रकार के कार्य के लिए वैकल्पिक व्यवस्था की जाय जिससे बचाव दल पहुँचकर मलबे में दबे लोगों को निकाल सकें और उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचा सके तथा उनके लिए भोजन, पेयजल, वस्त्र, दवाइयाँ, आदि की उचित व्यवस्था की जा सके।

(vii) अधिकतर लोग भूकम्प के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं रखते। वे यह नहीं जानते कि भूकम्प प्रभावित क्षेत्र में किस प्रकार के भवन का निर्माण किया जाय या भूकम्प आने पर किस प्रकार की एहतियात बरती जाय। अत: आवश्यकता इस बात की है कि बड़े स्तर पर लोगों को इस विषय में प्रशिक्षित किया जाय। यह इस्तिहार, पोस्टर, पर्चे (Pamplet) समाचार पत्र और पत्र पत्रिकाओं में लेख तथा स्कूली बच्चों को पाठ्य पुस्तक के माध्यम से संभव हो सकता है।

(viii) जागरूकता अभियान स्कूल, पंचायत और गैर-सरकारी संगठन (N.G.O) द्वारा सफलातापूर्वक चलाया जा सकता है।

(ix) भूकम्प प्रभावी क्षेत्र में भवन निर्माण में लोगों का आवश्यक जानकारी देना जरूरी है। जहाँ तक संभव हो सके मकान में ऐसी सामग्रियों का उपयोग किया जाय जो हल्की हो जैसे लकड़ियाँ, बाँस इत्यादि भारी सामग्रियों से बने मकान ईट, पत्थर इत्यादि, हल्के सामग्रियों से बने मकानों की अपेक्षा जल्दी धाराशायी हो जाता है।

(x) मकान का स्वरूप (Layout) भी महत्वपूर्ण होता है। मकान का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो भूकम्प के झटके को सहन कर सके।

(xi) यदि बड़ी और ऊँची इमारतें बनाना जरूरी हो तो उसमें इंजीनियरों की सहायता लेनी चाहिए। आजकल ऐसे तकनीक विकसित हो चुकी हैं जो भूकम्प के झटके को झेलने में सक्षम होते हैं। उनके द्वारा सुझाए गए उपायों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

(xii) भवन निर्माण में दो मकान के बीच पर्याप्त जगह होनी चाहिए साथ हीं भवनों के बीच की सड़क पर्याप्त चौड़ी होनी चाहिए, ताकी भूकम्प होने के बाद राहत और बचाव कार्य अधिक सुगमतापूर्वक किया जा सके।

(xiii) भूकंप के छत निर्माण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्राय भूकंप में छत के गिरने से सबसे अधिक हानि होती है। अत: हल्की सामग्रियों से बनाए गई छत जो दीवारों से अच्छी तरह से जुड़े हों, भूकंप प्रभावी क्षेत्र के लिए अधिक उपयुक्त होता है तथा इसे अपनाया जाना चाहिए। ऐसा देखा गया है कि सही ढंग से बनाए गए RCC (Rein forced

concreate and cement) के छत अधिक उपयुक्त होते हैं तथा भूकंप प्रभावी क्षेत्र में अधिक संतोषजनक ढंग से कार्य करते हैं।

आपदा प्रबंधन भारत में राज्य सरकार का उत्तरदायित्व है। प्रत्येक राज्य ने इस संबंध में अपने नियम बनाए हैं तथा उसी के आधार पर प्रभावित क्षेत्र में राहत और पुनर्वास का कार्य आपदा के दौरान तथा आपदा के बाद सम्पादित करती है। राज्य सराकर द्वारा उठाए गए कदम का उद्देश्य प्रभावित जन समुदाय को तुरंत राहत पहुँचाना है न कि विपदा से होने वाली क्षति की पूर्ति करनी है।

भूकंपीय समस्या के समाधान की दिशा में महत्वपूर्ण कदम इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि दरअसल समस्या भूकंप की नहीं बल्कि असुरक्षित भवनों को लेकर है। अतएव भूकंप की फिक्र करने के बजाय भवन-निर्माण उद्योग की ओर ध्यान देने की जरूरत है। हमें इस बात पर विचार-विमर्श करने की आवश्यकता है कि किस प्रकार भवन निर्माण उद्योग में सुधार किया जाय कि भूकंप की स्थिति में मानवीय क्षय न्यूनतम हो। इस बात को स्वीकार करना भी महत्वपूर्ण है कि भूकंप समस्या एक चुनौतीपूर्ण अभियांत्रिकी समस्या है और इसमें दशकों तक काम एवं अनुसंधान करने की जरूरत है। कम समय में इस समस्या का समाधान संभव नहीं है। लम्बे समय से लोग जिस प्रकार से काम करते आए हैं उन्हें सहज नहीं बदला जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची:-

(i) Parsuram & Unikrishna: India Disasters Report,1998
(ii) Ashutosh Gautam: Earth quake- A Natural Disaster
(iii) Department of Earthquake Engineering Roorkee: Earthquake Problem: Do's and Don't
(iv) V.K Sharma: Disaster Management
(v) B.K. Verma and Brij Bhushan : Disaster Management in India

संयुक्त परिवार के बिखरने के मनोवैज्ञानिक कारण एवं परिणाम

डॉ. अंजू कुमारी

व्याख्याता, मनोविज्ञान-विभाग, चोखानी महिला महिला महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)

भारत एक परम्परावादी परस्पर सहयोग एवं आस्थाओं पर चलने वाले परिवार-समूहों का देश है। भारतीय हिन्दू हों या मुसलमान, संयुक्त परिवार प्रथा में विश्वास करते आये हैं। शाब्दिक अर्थ में संयुक्त परिवार का अभिप्राय उन परिवारों से है जो विभिन्न दृष्टियों से संयुक्त हैं। कई एकाकी परिवारी इस संयुक्त परिवार में सम्मिलित रहते हैं। सभी का आय-व्यय सम्पत्ति एवं निवास-स्थान सम्मिलित होता है। सम्पत्ति पर सभी व्यक्तियों का अधिकार होता है, किसी एक का नहीं। श्रीमती कार्बे ने अपनी पुस्तक 'किनसिप आर्गेनाईजेशन इन इंडिया' में लिखा है कि–संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का समूह है, जो सामान्य तौर पर एक ही रसोई घर में बना भोजन करते हैं, जो सम्पत्ति के समान रूप से स्वामी हैं, जो एक समान पूजा-पाठ करते हैं और जो आपस में किसी खास प्रकार के रक्त-संबंधों से बंधे हुए हैं।

संयुक्त परिवार त्याग, सहयोग, प्रतिष्ठा एवं अनुशासन का प्रतीक माना जाता है जिसकी आय में भिन्नता रहते हुए भी जीवन-स्तर में कमोवेश समानता प्रतीत होती है। इसमें सदस्य एक अनुशासन में बंधे रहते हैं। अधिक उपार्जन करने वाला व्यक्ति त्याग करता है। तथा विवेकशील सदस्य होता है। आपसी एकत्व एवं सहयोग की भावना परिवार का आदर्श होता है। इसमें बुजुर्गों के प्रति आदर की भावना होती है। प्रत्येक परिवार की एक आचार-संहिता होती है जिसके अनुपालन के लिये सदस्य प्रयत्नशील रहते हैं। सम्बन्धों में घनिष्ठता व्यक्ति के व्यक्तित्व का आवश्यक लक्षण बन जाता है। परिवार के एक या दो व्यक्ति पर संचालन की सारी जिम्मेदारी रहती है।

संपूर्ण परिवार का भरण-पोषण बच्चों की शिक्षा तथा विवाहों का प्रबन्ध करना उनका दायित्व होता है। परिवार के अन्य सदस्य उनके परामर्श से कार्य करते हैं। संयुक्त परिवार में एक सुरक्षा की भावना रहती है। बुढ़ापा, बीमारी, बेकारी तथा दुर्घटना की स्थिति में परिवार के अन्य सदस्य सहायता करना अपनी जिम्मेदारी समझते हैं। आर्थिक दृष्टि से भी संयुक्त परिवार लाभदायक सिद्ध होता है। थोड़े खर्च में गृहस्थी का काम चल जाता है। यदि परिवार के सभी व्यक्तियों का अलग-अलग चूल्हा जले अलग-अलग मकान में रहे तो खर्च बढ़ेगा परन्तु एक साथ रहने से कम पैसे में भी गुजारा हो जायेगा। संयुक्त परिवार की एक अलग मर्यादा होती है बल्कि इससे प्रतिष्ठा तथा सम्मान में भी वृद्धि होती है। एकता के कारण अन्य व्यक्ति भी इज्जत देते हैं।

विकास के दौर में परिवार भी अछूता नहीं रहा। इसपर भी पाश्चात्य सभ्यता, मीडिया एवं वैज्ञानिक विकासों का प्रभाव पड़ा। विकासशील देशों की व्यक्तिवादिता ने विकसित देशों के व्यक्तियों को भी प्रभावित किया। औद्योगिकीकरण के पश्चात् सामाजिक परिवर्त्तन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। शहरीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी, जिससे सामाजिक संरचना में परिवर्त्तन आया, जीवन के भौतिक स्तर में वृद्धि, जनसंख्या की गतिशीलता, स्त्री-पुरुष की आर्थिक स्वतंत्रता के कारण भौतिकवादी एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का आयतन बढ़ा। व्यक्ति स्व में विश्वास करने लगा। अपने आप को स्वतंत्र देश का नागरिक समझने के साथ ही

साथ स्वच्छंद जीवन-यापन करने की ललक बढ़ी। संयुक्त परिवार से अलग रहकर व्यक्ति मुक्त जीवन की कामना करने लगा। स्वार्थ की प्रवृत्ति पनपने लगी। सहानुभूति का अभाव होने लगा तथा सहिष्णुता का लोप हो गया।

विकास के साथ ही साथ प्रचलित प्रथाओं में भी परिवर्त्तन आना प्रारंभ हुआ। वैवाहिक प्रथा में परिवर्त्तन आया। प्रेम विवाह, विज्ञापन के माध्यम से शादियाँ, शादी के पहले से लड़के-लड़कियों का साथ रहना, जैसी आधुनिक प्रथाएँ समाज में प्रचलित होने लगीं। इन्हें आधुनिकता का प्रतीक माना जाने लगा। पीढ़ियों में अन्तर के कारण भी पारिवारिक संरचना में परिवर्त्तन आया। समाज में शिक्षा का प्रसार हुआ। लड़के-लड़कियाँ दोनों शिक्षित होने लगे। शिक्षा, ज्ञान, व्यवसाय एवं विकास के लिये आवश्यक है परन्तु आस्था एवं आदर्शों से दूर जाने का माध्यम नहीं। यह तर्क कि आस्था एवं आदर्श विकास में बाधक है, मान्य नहीं। आस्था, सद्‌गुणों एवं आदर्शों में होती है, दुर्गुणों एवं कुरीतियों में नहीं, आस्था एक मानक है, जिससे समाज को विकसित किया जा सकता है। जिन महापुरुषों ने अपने वचनो एवं कर्तव्यों से मानव-कल्याण के लिए उपदेश दिया या प्रयत्न किया उनके आदर्शों के प्रति हम आस्था रखते हैं चाहे हिन्दू राम के प्रति रखते हैं या मुस्लिम मुहम्मद साहब के प्रति क्योंकि उनके वचन एवं कार्य मानव-कल्याण के लिये थे। मानव-कल्याण ही विकास का मूल है। विकास किसके लिए और समाज मानव-समुदाय के लिये ही तो। समाज में शान्ति एवं उन्नति ही विकास का मुख्य उद्देश्य है। रामकृष्ण, परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द, इकबाल एवं अन्य भारतीय चिन्तकों की रचनाओं एवं प्रवचनों का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों ने मानव की संतुष्टि कल्याण एवं शान्ति के लिए ही प्रयत्न किया।

भारत में मार्क्स एवं गाँधी दोनों आज भी प्रांसगिक हैं। इन दोनों दार्शनिकों की मान्यताओं को विश्लेषक एवं अनुयायी अपने-अपने ढंग से विश्लेषित एवं कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते हैं। दोनों ने व्यक्ति की सुविधा एवं समृद्धि के लिये प्रयत्न किया। एक ने यह माना कि अर्थ ही सामाजिक विषमता एवं मानव के शोषण का आधार है तो दूसरे ने यह माना कि संकुचित सोच एवं अस्पृश्यता सामाजिक विषमता की जड़ है। इन दोनों दार्शनिकों का गहन अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की भावना मानव-उत्पीड़न समाप्त कर समाज में एकरूपता कायम करना था। आज आर्थिक विषमता कम हुई है परन्तु सामाजिक बिखराव बढ़ा है। कारण यह है कि भोगवादी प्रवृत्ति का विकास हुआ है। परहित की भावना समाप्त हो गयी है। स्वहित मानसिकता में प्रवेश कर गयी है।

सामाजिक रहन-सहन ऊँचा हुआ है परन्तु प्रवृत्ति में गिरावट आयी है। युवा पीढ़ी माता-पिता के बंधन से मुक्त होकर स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है। संयुक्त परिवार बिखर रहा है और पुरानी पीढ़ी कठिनाइयाँ महसूस कर रही है। जीवन में स्वार्थपरता तथा व्यक्ति-भावना का विकास कोई वांछनीय प्रगति नहीं। मनुष्य अपने रक्त-संबंध वाले व्यक्तियों के साथ समुचित व्यवहार यदि नहीं कर सकता है तो सामाजिक एवं राष्ट्रीय सेवा नहीं कर सकता। प्रायः यह देखने को मिलता है कि विकसित परिवारों की युवा पीढ़ी अर्जित करने के पश्चात् पारिवारिक बंधन से स्वयं को मुक्त कर लेता है और परिवारों के अन्य सदस्य आर्थिक कष्ट में पड़ जाते हैं। संयुक्त परिवार यदि खेती के द्वारा अपना जीवन-यापन कर बच्चों को पढ़ाता-लिखाता है और लड़का जब अर्जित करने लगता है तो उन्हें छोड़ देता है।

ऐसी स्थिति में उनका जीवन-यापन कठिन हो जाता है। संयुक्त परिवार टूटने के कारण माता-पिता का उत्पीड़न बढ़ गया है। आधुनिक लड़के अपने माता-पिता को साथ नहीं रखना चाहते। माता-पिता एवं लड़कों के बीच संघर्ष के कितने मामले न्यायालयों में लंबित हैं। पारिवारिक कलह के कारण आत्महत्याएँ भी काफी संख्या में होने लगी। एक संबंध टूटने का नतीजा यहाँ तक पहुँच गया है कि न्यायालय या सरकार यह दबाव डालने लगी है कि यदि बुजुर्गों की उचित देख-रेख नहीं होगी तो संबंधित व्यक्तियों पर कानूनी कार्रवाई होगी। सरकार सामाजिक स्थिति को जानने के बाद जिन बुजुर्गों को आय का स्रोत नहीं है उनके लिये वृद्धावस्था पेंशन की योजना चलायी। जिन्हें आय का स्रोत है उनके लिये वृद्धाश्रम व्यवस्था कर रही है। बिखराव की स्थिति यह हो गयी कि पालनहार सरकार पर आश्रित होकर वृद्धाश्रम में रहने को विवश हैं। यही आधुनिकता एवं विकास है।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. देजमज दक, भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र, किताब महल, इलाहाबाद।
2. एम.एल. गुप्ता एवं डी.डी. शर्मा, सामाजिक परिवर्त्तन, साहित्य भवन, आगरा।
3. योगेन्द्रनाथ भटाचार्य, हिन्दू कास्ट एण्ड सेक्ट्स, कलकत्ता।
4. एस.वी. वर्मा, आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत , विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
5. आई कार्वे, किनसीप आर्गेनाइजेशन इन इण्डिया।
6. आई.पी. देसाई, द जोयाइन्ट फेमिली इन इण्डिया।
7. ए.आर.देसाई, सोसल बैकग्राउंड ऑफ इंडिया, नेशनलिज्म, पोपुलर प्रकाशन।

गृह विज्ञान की शिक्षा का महत्त्व

डॉ. किरण कुमारी

प्रभारी प्राचार्या, पवनधारी सिंह महिला महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर

शिक्षा की विषयवस्तु क्या है? इस सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों की धारणाएँ भिन्न हैं, कुछ लोग शिक्षण का तात्पर्य याद करने अथवा, मस्तिष्क में ज्ञान को भर देने से लगाते हैं। किन्तु यह धारणा बिल्कुल गलत है। इस विषय में डॉ. माथुर का कहना है कि–''वर्त्तमान समय में शिक्षण से यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि दिमाग में ज्ञान भर दिया जाए।''

आज 'शिक्षा' का अर्थ यह है कि बालक को शिक्षण के ऐसे अवसर दिए जाएँ, जिससे बालक अपनी अवस्था एवं प्रकृति के अनुरूप समस्याओं को हल करने की क्षमता प्राप्त कर ले। वह अपने आप योजना बना सके, पढ़ने की सामग्री और शक्ति इकट्ठा कर सके तथा उसे सुसंगठित कर फल प्राप्त कर सके, जिससे वे फिर प्रयोग में लाया जा सके।

गृह विज्ञान अध्ययन का एक आधुनिक विषय है, जिसे हमारे देश में बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही मान्यता प्राप्त है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य का मस्तिष्क भी व्यवहारों तथा अंधविश्वासों से हटकर विधिपूर्वक सोच-विचार की ओर धीरे-धीरे बढ़ता रहा है। बढ़ती हुई सभ्यता तथा मनुष्य-जीवन ने उसकी विविध क्रियाओं तथा रुचियों ने इस जटिल संसार में व्यक्ति के जीवन के हर पक्ष पर प्रकाश डाला है। इसी से मनुष्य के ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों तथा विषयों, जैसे दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों तथा अन्य विषयों, जैसे दर्शन सामाजिक एवं व्यावहारिक विज्ञान, विविध कलाएँ एवं विशुद्ध विज्ञान की उत्पत्ति हुई। गृह विज्ञान भी मनुष्य के ज्ञान के विकास की ही देन है। यद्यपि विभिन्न देशों में तथा विभिन्न समयों पर यह अपने विकास में भिन्न-भिन्न नामों से जाना गया है। यह एक ही विषय है जो आवश्यक रूप से गृह विज्ञान और परिवार के विभिन्न पक्षों से संबंधित हैं, जिसका उद्देश्य गृहस्थ जीवन को अधिक-से-अधिक उत्तम बनाना है।

इसके विभिन्न नामों से केवल यह स्पष्ट होता है कि कौन-सा नाम गृह के कौन से पक्ष पर अधिक बल देता है, मसलन इंग्लैंड (England) में इसे House Craft Home Science तथा Domestic Science आदि नामों से जाना जाता है। अमेरिका में यह House Hold Arts, Domestic Economics और Home Economics आदि के नामों से भी जाना जाता है। वास्तव में गृह विज्ञान कला और विज्ञान दोनों है क्योंकि इसमें वैज्ञानिक विधियों और प्रविधियों का ज्ञान निहित होता है जिससे पारिवारिक जीवन का स्तर उन्नत होता है। आज गृह-सम्बन्धी भौतिकी, रसायन विज्ञान, गृह सम्बन्धी स्वास्थ्य-रक्षा और सफाई, भोज्य रसायन तथा जीव विज्ञान और शरीर विज्ञान भी परिवार के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। गृह विज्ञान में इन सबका समावेश है। इस लिये गृह विज्ञान कला और विज्ञान दोनों है।

गृह विज्ञान गृह के सम्पूर्ण निर्माण एवं परिवार के उत्तम जीवन-स्तर से विशिष्ट रूप से युक्त होता है। इसके अन्तर्गत गृह के सभी कार्य-क्षेत्र एवं रुचि सम्मिलित है, जो परिवार के सदस्यों की व्यक्तिगत रुचि को प्रभावित करता है साथ ही यह परिवार के सदस्यों की शारीरिक, मानसिक एवं संवेगात्मक आवश्यकताओं की उचित पूर्ति से संबंध रखता है एवं उसे गृह तथा समाज के प्रति उनके कर्तव्यों की और अग्रसर करता है। फलस्वरूप यह पारिवारिक लक्ष्यों एवं मूल्यों को संस्थापित करने में भी सहायक सिद्ध होता है।

उपर्युक्त तथ्यों के अलावा गृह विज्ञान अन्य सामाजिक प्राकृतिक एवं मानविकी कलाओं एवं विधाओं से युक्त विज्ञान है जो एक सभ्य नागरिक के निर्माण में अपनी अहम भूमिका अदा करता है। यही वह कला है, जो जीवन को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिवेशों का उचित अवसर प्रदान करता है और उत्तरदायित्व (Responsibility) को प्रश्रय देता

है। अन्ततः हम कह सकते हैं कि गृह विज्ञान उन सभी कार्यों को सम्पादित करता है, जो एक कुशल, योग्य गृहकर्ता एवं प्रबंधकर्ता के लिए अनिवार्य हैं।

शिक्षा के विषय

शिक्षा की विषयवस्तु क्या है? इस संबंध में अधिकांश धारणाएँ भ्रमयुक्त हैं क्योंकि शिक्षा से तात्पर्य प्रायः याद करने से ही माना जाता है किन्तु यह विचार स्वीकार-योग्य नहीं है। वर्त्तमान परिवेश में शिक्षा से तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि बालक के मस्तिष्क में निरर्थक एवं अर्थविहीन ज्ञान को भर दिया जाए बल्कि आज जिस चरण में हम प्रवेश कर रहे हैं अथवा प्रवेश कर चुके हैं, उसके संदर्भ के अलावा या पूर्व से ही चली आ रही परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की समुचित एवं शाब्दिक विषय-वस्तु क्या हो, यह निम्न ढंग से दर्शाया जा सकता है–

'शिक्षा' का मूल अर्थ यह है कि जब बालक को शिक्षण की प्रक्रिया की जाए तो इस समय उपयुक्त वातावरण का होना अत्यन्त अनिवार्य है क्योंकि योग्य वातावरण की उपस्थिति में ही शिक्षण कार्य किए जा सकते हैं, जिससे कि शिक्षण ग्रहण करने वाला वह बालक अपनी मानसिकता को अपनी ही अवस्था एवं प्रकृति के अनुरूप समस्याओं को हल करने के योग्य बना सके।

चूँकि शिक्षा को (Three dimensional) त्रिआयामी कहा गया है अर्थात् इसके केन्द्र-बिन्दु होते हैं फलतः शिक्षण-प्रक्रिया में इन तीनों का गहरा संबंध स्थापित होता है। या दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि

उक्त संदर्भों के बीच समन्वय स्थापित करने हेतु निम्न बातों का ध्यान रखना आवश्यक है–

1. **बाल पद्धति**–शिक्षकों के लिए सामान्यतः बालाकों के स्वभाव का ज्ञान होना आवश्यक है जिससे शिक्षण-कार्य आसानी से किए जा सकें।
2. **निश्चित दृष्टिकोण**–अध्यापक के सम्पर्क में विद्यार्थी आते हैं फलतः वे अध्यापक के व्यक्तित्व से प्रभावित भी होते हैं। ऐसी दशा में अध्यापकों का अपना एक निश्चित दृष्टिकोण होना चाहिए।
3. **प्रेरणा प्रदान करना**–प्रेरणा शिक्षण-कार्य में प्रमुख स्थान रखता है, उदासीन एवं विपरीत परिस्थितियों में न तो शिक्षक ही उचित शिक्षण दे पाता है और न छात्र ही उसे सही ढंग से ग्रहण कर पाते हैं, अतः यह आवश्यक है कि सही शिक्षण-कार्य हेतु शिक्षकों को स्वयं प्रेरणा बच्चों में डालनी चाहिए, जिससे वे प्रेरित होकर ज्ञान अर्जित कर सकें।
4. **ज्ञान प्राप्त करना**–'शिक्षण' का दूसरा अर्थ ज्ञान प्राप्त करना ही है। समय से पूर्व कम उम्र की अधिकता बच्चों के मानसिक विकास में बाधा उपस्थित करती है साथ ही वे मानव अर्जित ज्ञान से भी अपरिचित रहते हैं इस परिस्थिति में शिक्षण द्वारा ही उन्हें नवीन बातों की ओर उन्मुख किया जाता है, जिससे मानसिक विकास भी संतुलित एवं समुचित हो पाता है और जब उन्हें उचित ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब वे अपने एवं परिवार तथा समाज के प्रति आदर्श के रूप में सामने आकर खड़े होते हैं।
5. **विषय का प्रस्तुतिकरण उचित ढंग से हो**–शिक्षक की सफलता इस बात पर भी निर्भर है कि वे जिन विषयों को पढ़ने के लिए तैयार हैं उन विषयों के मूल तथ्यों की सही जानकारी उन्हें स्वयं हो एवं ठोस बच्चों के दिमागी पटल पर जितनी आसानी एवं सुविधा से हो हल्के तरीके से प्रस्तुत करें। विषय-वस्तु को जितना ही आसान बना पायेंगे वे शिक्षक उतने ही लोकप्रिय बनेंगे एवं शिक्षा लेने वाले छात्रगण विषयों को खूब आसानी से समझकर उसे व्यावहारिक जीवन में सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकेंगे। फलतः शिक्षण-कार्य के जो भी मूलभूत आधार हैं जिन्हें ध्यान में रखकर यदि शिक्षण-कार्य किए जाएँ तो वह शिक्षा बेमिसाल एवं आदर्श शिक्षण-पद्धति कहलायेगी।

बाल विकास पर माता-पिता की मनोवृति का प्रयास

डॉ. प्रतिमा कुमारी

एम.ए., पी-एच. डी., गृहविज्ञान विभाग

भूमिका:-बाल विकास की एक लंबीशृंखला होती है इसी श्रृंखला में व्यक्तित्व के हर पहलू का क्रमश: निर्माण होता जाता है। शैशवावस्था की किस घटना ने चरित्र निर्माण में कौन सा प्रभाव डाला और उससे भावी जीवन की लम्बी यात्रा पथ में कहाँ-कौन सा मोड़ आया यह जानना अत्यंत कठिन है। इस व्यक्तित्व निर्माण के रास्ते में माता-पिता वह प्रथम तत्व होता हैं जिससे शिशु को जीवन का प्रथम अनुभव मिलना शुरू होता है। यह क्रम परिपक्वावस्था तक चलता रहता है। एक कुशल स्वर्णकार एक सुन्दर आभूषण निर्माण करता है लेकिन इस निर्मित मनोहारी आभूषण को देख कर वह स्वयं भी यह बता पाने में असमर्थ ही रहेगा कि उसकी उस छोटी सी हथौड़ी की किस चोट ने आभूषण को कौन सा रूप दिया था। एक कुशल माता-पिता अपने बच्चों के पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण तो कर सकता है लेकिन इनकी भाषा भी उसी मौन स्वर्णकार की भाषा होती है जिसे वह व्यक्त नहीं कर सकता है। बाल विकास का जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल से लेकर आज तक यह महत्व का विषय रहा है। प्राचीन काल में सर्वांगीण विकास हेतु गुरु आश्रम का सहारा लिया जाता था। लेकिन इस आधुनिक युग में प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चों के विकास के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। बच्चों में जन्म के साथ ही शारीरिक, मानसिक, क्रियात्मक, ज्ञानात्मक, संवेगात्मक, शिक्षा एवं चरित्र का विकास भी प्रारंभ हो जाता है। जो आगे चलकर सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकास के रूप में प्रकट होता है। इन सारे विकासों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से माता-पिता की मनोवृति का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है।

विकास उन प्रगतिशील परिवर्तनों को कहते हैं जो नियमित एवं क्रमिक होता है। बाल्यावस्था जीवन की सबसे अनमोल अवस्था होती है। प्रारम्भिक कारण में बच्चों को किसी भी चीज की जानकारी स्पष्ट रूप से नहीं होती है। चूंकि वे माता-पिता पर अपनी हर आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु निर्भर करते हैं। परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है जिसमें माता-पिता अपनी सभी सेवाओं, अनुभवों के द्वारा स्नेह के साथ बच्चों का विकास करने का प्रयास करते हैं। बच्चों के लिए जो भी करते हैं वह नि:स्वार्थ भाव से करते हैं माता-पिता का प्रेम और वात्सल्य विकास पर अनुकूल प्रभाव डालता है। बच्चे माता-पिता की विशेषताओं से प्रभावित होते हैं। माता-पिता एक सुदृढ़ वृक्ष के समान और बच्चे उसके फूल, फल माने जाते हैं। मेकाइवर तथा पेज ने लिखा है-परिवार वह समूह है जो लिंग संबंधी आधार पर परिभाषित किया जाता है और काफी छोटा व इतना स्थायी है कि बच्चों की उत्पति और पालन-पोषण की व्यवस्था करने योग्य है।

जॉन आम्स कोमेनोयस (1560-1670) इन दी ग्रेट डेडीकेटेड ने स्पष्ट विकास की अवस्था को चार भागों में बांटा जिसकी अवधि छ: वर्ष एक अवस्था में रखा, नवजात शिशुकाल, शैशवावस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था आदि। विलियम जेम्स, मैकमूलर, डेभर, बर्ट आदि मनोवैज्ञानिकों ने वंश परम्परा के क्रम में उसमें पाये जाने वाले व्यवहार की व्यवस्था की है। जी. स्टेनले हॉल ने बाल विकास आन्दोलन का प्रारम्भ अमेरिका में किया जिस आधार पर आज इस आन्दोलन के जनक के रूप में जाने जाते हैं। इस संबंध में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया गया अध्ययन महत्वपूर्ण है। पियागैट वेर्ट 1918, हेगलीट 1930, मैकार्थी, हॉल ने बच्चों के विकास पर पड़ने वाले विभिन्न कारकों के प्रभावों का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया है। वाटसन 1919 में कहा था कि बच्चा जब पैदा होता है तो वह अपने माथे पर लिख कर नहीं आता कि वह बेइमान है या ईमानदार, धर्मात्मा है या पापी। वह यह सब कुछ इस दुनिया में कदम रखने के बाद अपने परिवार से अपने पड़ोस से, अपने आस-पास के पूरे माहौल से क्रमश: सीखता है और अपने आप को विकसित करता है। जैसा भी आकार दो वह वही आकार धारण कर लेगा।

हम इसे अच्छा आदर्श नागरिक भी बना सकते हैं और बुरे से बुरे कर्म करने वाला अपराधी भी। वाटसन के इस चिंतन के बाद से मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों, गृहवैज्ञानिकों एवं जिज्ञासु माता-पिता का ध्यान बाल पोषण प्रणाली की ओर गया और इसे अधिक से अधिक नियंत्रित और वैज्ञानिक बनाने की दिशा में प्रयास होने लगा। अब सभी मानने लगे हैं कि एक युवा अपनी शैशव स्मृतियों को कभी भूलता नहीं है और ये स्मृतियाँ ही उसके भावी जीवन का पथ निर्धारण करती है इस संदर्भ में अभिभावकत्व प्रणाली को जीवन निर्माण का प्रथम एवं अंतिम सोपान कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी।

प्रस्तुत अध्ययन के अंतर्गत बाल विकास पर माता-पिता के उत्तरदायित्व का किस रूप में प्रभाव पड़ता है इसे देखना है। ग्राफ 1964 ने उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति उसे कहा है जिसके अंदर अपनी एवं सामाजिक जिम्मेदारी की भावना भरी हुई हो, उसमें अनुचित उचित की परख इतनी अधिक हो कि किसी भी काम को करने के पहले उसमें परिणाम के बारे में उसे पूरा अनुमान हो जाता है। ऐसा व्यक्ति नैतिकता और अनैतिकता के बीच भेद करने की क्षमता रखता है तथा कोई भी अनैतिक कार्य जिससे अपनी या किसी अन्य व्यक्ति की हानि होती हो वह नहीं करता है। इसके विपरीत ऐसे व्यक्ति जिसमें उत्तरदायित्व की भावना कम होती है अपने भावनाओं में संवेदनशील होते हैं तथा उनके व्यवहार अनियंत्रित होते हैं वे अपनी निजी स्वार्थ से प्रभावित होकर ही कोई कार्य करते हैं। इनके विचार पूर्वधारणाओं से ग्रसित होते हैं इसलिए इनके विचार स्थिर नहीं रह पाते हैं। इस विश्लेषण से ऐसा लगता है कि एक उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति सामाजिक, राष्ट्रीय एवं पारिवारिक समस्याओं के प्रति भी ठोस और जवाबदेही पूर्ण विचार रखता है। साथ ही अपने बच्चों के विकास समुचितरूप में तो रहा है या नहीं इसका ज्यादा ख्याल रखता है।

इस पृष्टभूमि में :

यह प्राक् कल्पना की जाती है कि निम्न उत्तरदायित्व पूर्ण माता-पिता की अपेक्षा उच्च उत्तरदायित्व पूर्ण माता-पिता में बाल विकास के प्रति अपेक्षाकृत अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी।

क्षेत्र :- मुजफ्फरपुर के शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र में माता-पिता पर अध्ययन किया गया।

प्रतिदर्श :- मुजफ्फरपुर शहर एवं ग्रामीण क्षेत्र के तीन सौ माता-पिता को अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित किया गया।

संयंत्र एवं मापनी:- उत्तरदायित्व मापनी:-

सिन्हा (1976) ने व्यक्तित्व के उत्तरदायी आयाम को मापने के लिए ग्राफ (1964) द्वारा निर्मित कैलिपफोर्निया साइकोलोजिकल इन्वेन्ट्री के आर0 ई0 स्केल का हिन्दी रूपान्तरण किया। यह हिन्दी रूपान्तरण भारतीय प्रतिदर्श पर व्यक्तित्व के इस आयाम को मापने के लिए एक सफल मापनी सिद्ध हुई। इस मापनी के आधार पर उच्च अंक प्राप्त करने वाले उच्च उत्तरदायी एवं निम्न अंक प्राप्त करने वाले निम्न उत्तरदायी की श्रेणी में आयेंगे। इस मापनी में पदों की कुल संख्या एकतालीस है। अत: अधिकमत प्राप्तांक एकतालीस और न्यूनतम शून्य की संभावना है।

व्यक्ति के उत्तरदायित्व चर के संबंध में इस स्थल पर यह जानना आवश्यक है कि बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृत्ति के वास्तविक जनसंख्या में व्यक्तित्व के उत्तरदायित्व चर के वितरण की प्रवृति क्या है? इस उद्देश्य से मुजफ्फरपुर के शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र से तीन सौ माता पिता के प्रतिदर्श पर उत्तरदायित्व को मापने के लिए ग्राफ 1964 द्वारा निर्मित सी पी आई के आर ई स्केल के हिन्दी रूपान्तरण उत्तरदायित्व मापनी (सिन्हा 1976) का चालन किया गया। इस मापनी के आधार पर तीन सौ माता पिता के प्रतिदर्श पर प्राप्त प्राप्तांकों के प्रसार तथा वितरण सारिणी संख्या एक में उल्लिखित है :-

सारिणी संख्या एक

मध्यमान	मध्यांक	बहुलांक	प्रामाणिक विचलन	मध्यमान की प्रमाणिक त्रुटि
27.25	27.54	27.64	3.84	.22

उत्तरदायित्व प्राप्तांक के वितरण से प्रतिदर्श के संबंध में केन्द्रीय प्रवृति के संबंध में जो निष्कर्ष प्राप्त होता है उसके आधार पर इसके प्रसामान्य वितरण सिद्धान्त पर आधारित होने के प्रमाण पुष्ट होते हैं। वितरण का मध्यमान 27.25, मध्यांक 27.54 तथा बहुलांक 27.64 है। इन तीनों ही सांख्यिकीय निष्कर्षों में इतनी अधिक निकटता है कि इस निकटता के आधार पर इस

प्रसार के वास्तविक जनसंख्या के प्रसार की सामान्य वितरण प्रवृत्ति को प्रमाणित करता है। प्रसार के मध्यमान की प्रामाणिक त्रुटि .22 है जिससे .01 विश्वसनीयता के स्तर पर कहा जा सकता है कि वर्तमान प्रतिदर्श माध्यमान जनसंख्या मध्यमान सेद ±.057 की प्रसार की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती है। गिलफोर्ड, 1956 इन परिमाणों के आधार पर व्यक्तित्व के उत्तरदायित्व चर के संबंध में निम्नलिखित परिमाण प्राप्त हुआ।

(क) माता पिता के प्रतिदर्श के उत्तरदायित्व प्राप्तांक का वितरण जानसंख्या के प्रसामान्य वितरण सिद्धान्त के अनुकूल है।

(ख) प्रतिदर्श का मध्यमान जनसंख्या के मध्यमान का वास्तविक प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

(ग) प्रसामान्य वितरण सिद्धान्त पर आधारित प्राप्तांकों का यह वितरण प्रमाणित करता है कि समाज में व्यक्तित्व का उत्तरदायित्व चर समान रूप से वितरित नहीं है। समाज में जहाँ एक ओर कुछ लोग (उच्चतम पचीस प्रतिशत) अत्यन्त उत्तरदायी हैं दूसरी ओर (निम्न पचीस प्रतिशत) अत्यंत अनुत्तरदायी प्रवृति के भी है और इन दोनों ही अतिसीमाओं के बीच जनसंख्या की आधी संख्या पड़ती है।

उत्तरदायित्व, बाल विकास एवं माता-पिता की मनोवृति

उत्तरदायित्व तथा बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृति के संबंध में उपर वर्णित प्राक कल्पना में यह अनुमान किया गया था कि निम्न उत्तरदायित्व पूर्ण माता पिता की अपेक्षा उच्च उत्तरदायित्व पूर्ण माता पिता में बाल विकास के प्रति अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी। अध्ययन के अंतर्गत प्रयुक्त तीन सौ माता पिता के प्रतिदर्श पर (गफ 1964) के हिन्दी अनुवाद (सिन्हा 1976) का चालन किया गया। पूर्ण प्रतिदर्श के प्राप्तांकों के आधार पर इनके दो समूह निर्मित हुए-उच्चतम एवं निम्नतम समूह। प्राप्तांक के तृतीय चतुर्थांश से ऊपर के प्राप्तांकों के उच्चतम समूह तथा प्रथम चतुर्थांशं के नीचे के प्राप्तांकों को निम्नतम समूह कहा गया। उत्तरदायित्व मापनी के आधार पर न्यूनतम प्राप्तांक शून्य तथा उच्चतम प्राप्तांक एकतालीस की संभावना है। जिसमें वर्तमान प्रतिदर्श निम्नतम प्राप्तांक पन्द्रह तथा उच्चतम प्राप्तांक सैंतीस प्राप्त हुआ है। इस प्रतिदर्श का प्रथम चतुर्थांश 24.78 तथा तृतीय चतुर्थांश प्राप्तांक 29.87 है। उच्चतम तथा निम्नतम दोनों ही समूहों में प्रयोज्यों की संख्या क्रमशः 72एवं 76 है। उच्चतम उत्तरदायित्व तथा निम्नतम उत्तरदायित्व के दोनों ही समूहों के पृथक-पृथक बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृति प्राप्तांकों के वितरण ताथा दोनों ही समूहों के मध्यमानों प्रामाणिक विचलनों तथा उनके ही अनुपात का तुलनात्मक विवेचन सारिणी संख्या दो में वर्णित है। उच्चतम एवं निम्न उत्तरदायित्व पूर्ण समूहों के माता पिता की मनोवृति एवं बाल विकास का तुलनात्मक अध्ययन :-

समूह	संख्या	मध्यमान	प्रामाणिक विचरण	मध्यमान की प्र0 त्रुटि	मध्यमानों के अंतर की प्र0 त्रुटि	टी. अनुपात	सार्थ0 स्तर
उच्च उत्तरदायित्व पूर्ण समूह	72	34.80	18.30	.91	-	-	.01
निम्न उत्तरदायित्व पूर्ण समूह	76	30.60	8.15	.21	.95	4.15	-

उत्तरदायित्व समूह तथा निम्न उत्तरदायित्व समूह के पृथक-पृथक बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृति प्राप्तांकों के उपर वर्णित तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उच्च उत्तरदायित्व पूर्ण समूह का बाल विकास के प्रति माता-पिता की मनोवृति प्राप्तांकों का मध्यमान 34.80 तथा निम्न उत्तरदायित्व पूर्ण समूह के माता पिता की मनोवृति प्राप्तांकों का मध्यमान 30.60 है। इन दोनों ही समूहों के मनोवृति प्राप्तांकों के मध्मानों का अंतर 4.20 है। मध्यमानों के अंतर की सार्थकता को जानने के लिए टी अनुपात का परिणाम 4.15 है जो .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित हो रहा है। यह निष्कर्ष प्राक कल्पना को सत्यापित करती है। संपूर्ण प्रतिदर्श के उत्तरदायित्व प्राप्तांक तथा बाल विकास एवं माता-पिता की मनोवृति प्राप्तांकों के बीच प्रोडक्ट मोमेन्ट सह संबंध जांच को भी चालित किया गया जिससे इन दोनों ही समूहों के संबंध की जांच हुई। इस जांच के आधार पर दोनों ही चरों के बची .325 सह संबंध गुणांक प्राप्त हुआ है जो .01 स्तर पर प्रमाणित होता है। यह सह संबंध गुणांक

दोनों ही चरों के बीच धनात्मक एवं घनिष्ठ सह संबंध को प्रदर्शित करता है। (गैरेट 1955, सारिणी से पेज 439)

प्राप्त परिणाम के आधार पर प्राप्त निष्कर्ष इस प्रकार है :-

(क) निम्न उत्तरदायित्व के माता-पिता की अपेक्षा उच्च उत्तरदायित्व के माता पिता में बाल विकास के प्रति अधिक अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी।

(ख) उत्तरदायित्व या माता पिता की मनोवृति एवं बाल विकास के बीच सार्थक उच्च, घनिष्ठ सह सबंध पाया गया है।

(ग) जनसंख्या में व्यक्तित्व के उत्तरदायित्व चर का वितरण समान्य वितरण सिद्धान्त के अनुकूल प्रमाणित होता है।

विश्लेषण एवं निष्कर्ष :

व्यक्तित्व के उत्तरदायित्व चर के संबंध में यह प्राक कल्पना की गई थी कि उच्च उत्तरदायित्व समूह के माता पिता में बाल विकास के प्रति अनुकूल तथा निम्न में उतना अनुकूल नहीं पायी जायेगी। प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह प्राक कल्पना पूर्णत: सत्यापित हुई है। उच्च उत्तरदायित्व समूह का बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृति प्राप्तांक मध्यमान 34.80 तथा निम्न उत्तरदायित्व समूह का बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृति प्राप्तांक मध्यमान 30.60 है दोनों ही समूहों के प्राप्तांकों के मध्यमानों का अंतर 4.20 है तथा टी अनुपात 4.15 है जो .01स्तर पर सार्थक प्रमाणित हो रहा है। व्यक्तित्व के उत्तरदायित्व चर के संबंध में गफ (1964) ने यह कहा है कि उत्तरदायित्व पूर्ण व्यक्ति उसे कहते हैं जिसमें नैतिकता की भावना होती है जवाबदेही उच्च कोटि की होती है तथा उसमें अपने एवं समाज के बारे में पूर्ण चेतना रहती है। इसके विपरीत निम्न उत्तरदायित्व पूर्ण व्यक्ति अपरिपक्व विचार का होता है। उससे संवेगात्मक अस्थिरता रहती है जिसके कारण उसके व्यवहार अनियंत्रित एवं उग्र होते हैं। ऐसा व्यक्ति क्षणिक निराशा या सुख-दु:ख से भी तुरंत प्रभावित हो जाता है। व्यक्तित्व की इस विशेषता के आधार पर यह सर्वथा अनुकूल लगता है कि उच्च उत्तरदायित्व गुण के भरा हुआ व्यक्ति अपने जीवन से संबंधित किसी भी सामाजिक समस्या के प्रति एक निश्चित स्थिर एवं ठोस दृष्टिकोण रखता है, क्योंकि वह कभी भी वस्तु स्थिति से अपने को पृथक नहीं कर सकता। सतत् परिवर्तनशील तथा उलझनपूर्ण समस्याओं से गुजरते हुए भी वर्तमान परिवेश में एक उत्तरदायी व्यक्ति अपने विचारों को स्थिर रखता है क्योंकि वह ढुलमुल की नीति रख ही नहीं सकता। बाल विकास भी वर्तमान सामाजिक परिवेश में एक जटिल समस्या है। इस संदर्भ में उच्च उत्तरदायित्व पूर्ण माता पिता के समूह का बाल विकास के प्रति अनुकूल मनोवृति पाया जाना उचित ही है।

Reference:

1. Garettee H. E. (1955)- Satisfaction in Psychology and Education (Fourth Edition) Longman, Green & Co, New York.
2. Guilford. J.P. (1956)- Fundamental Statistics in Phychology and Deucation third edition Mc Grow Hill Book Company INC New York.
3. Cooper J. B. (1966)-Two Scales for Parent Evaluation Journal of Jenetic Phychology, 108, 49-53.
4. Gough H. G. (1964)-Mannual of California Psychological Review, California, Consulting Psychologist Press, Palo Alto.
5. Goode. S. & Hatt P. K. (1952)-Methods in Socila Research, New York, Mc. Grow Hill.
6. Sinha K. K. (1976)-Attitude Twords Youth Unrest in relation to over own Parental style and some personality variables thesis, Bihar University.
7. Watson J. B. (1919)-Psychology from the standpoint of a Behaviourist Philadelphia - lippincott co, 1919 (Third Ed. 1929).

माता-पिता के मनोवृति के संदर्भ में बाल विकास

डॉ. अंजना सिन्हा

एम0ए0, पी0एच-डी0, मनोविज्ञान विभाग

भूमिका :- बाल विकास की एक लम्बी शृँखला होती है इसी शृखला में व्यक्तित्त्व के हर पहलू का क्रमशः निर्माण होता जाता है। शैशवावस्था की किस घटना ने चरित्र निर्माण में कौन सा प्रभाव डाला और उससे भावी जीवन की लम्बी यात्रा पथ में कहाँ कौन सा मोड़ आया यह जानना अत्यंन्त कठिन है। इस व्यक्तित्त्व निर्माण के रास्ते में माता - पिता वह प्रथम तत्व होता है। जिससे शिशु को जीवन का प्रथम अनुभव मिलना शुरू होता है। यह क्रम परिपक्वास्था तक चलता रहता है।

एक कुशल स्वर्णकार एक सुन्दर आभूषण निर्माण करता है लेकिन इस निर्मित्त मनोहारी आभूषण को देख कर वह स्वंय भी यह बता पाने में असमर्थ ही रहेगा कि उसकी उस छोटी सी हथौड़ी की किस चोट ने आभूषण को कौन सा रूप दिया था। एक कुशल माता-पिता अपने बच्चों के पूर्ण व्यक्तित्त्व का निर्माण तो कर सकता है लेकिन उनकी भाषा भी उसी मौन स्वर्णकार की भाषा होती है जिसे व्यक्त नहीं की जा सकती है।

बाल विकास का जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल से लेकर आज तक यह महत्व का विषय रहा है। प्राचीन काल में सर्वांगीण विकास हेतु गुरु आश्रम का सहारा लिया जाता था। लेकिन इस आधुनिक युग में प्रत्येक माता - पिता आपने बच्चों के विकास के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। बच्चों में जन्म के साथ ही शारीरिक मानसिक क्रियात्मक, ज्ञानात्मक संवेगात्मक शिक्षा एवं चरित्र का विकास भी प्रारभ हो जाता है। जो आगे चलकर सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व विकास के रूप में प्रकट होता है। इन सारे विकासों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से माता-पिता की मनोवृति का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है।

विकास उन प्रगतिशील परिवर्त्तनों को कहते है जो नियमित एवं क्रमिक होता है। बाल्यावस्था जीवन की सबसे अनमोल अवस्था होती है। प्रारम्भ काल में बच्चों को किसी भी चीज की जानकारी स्पष्ट रूप में नहीं होती है। चूँकि वे माता पिता पर अपनी हर आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु निर्भर करते हैं। परिवार एक सर्वभौमिक संस्था है जिसमें माता -पिता अपनी सभी सेवाओं अनुभवों के द्वारा स्नेह के साथ बच्चों का विकास करने का प्रयास करते है। बच्चों के लिए जो भी करते है वह निःस्वार्थ भाव से करते हैं माता - पिता का प्रेम और वात्सल्य विकास पर अनुकूल प्रभाव डालता है। बच्चे माता - पिता की विशेषताओं से प्रभावित होते है। माता - पिता एक सुदृढ़ वृक्ष के समान और बच्चे उसके फूल, फल माने जाते हैं। मेकाइवर तथा पेज ने लिखा है ''परिवार वह समूह है जो लिंग सम्बधी आधार पर परिभाषित किया जाता है और काफी छोटा व इतना स्थायी है कि बच्चों की उत्पत्ति और पालन पोषण की व्यवस्था करने योग्य है।''

जॉन आम्स कोमेनोयस (1560-1670) इन दी ग्रेट डेडी कटैड ने स्पष्ट विकास की अवस्था को चार भागों में बाँटा जिसकी अवधि छः वर्ष एक अवस्था में रखा, नवजात शिशु काल शैशवास्था, वाल्यावस्था, युवावस्था आदि। विलियम जेम्स, मैकमूलर, ड्रेगर, वर्ट आदि मनोवैज्ञानिको ने वंश परम्परा के क्रम में उसमें पाये जाने वाले व्यवहार की व्याख्या किया है। जी0 स्टेनले हॉल ने बाल विकास आन्दोलन का प्रारंभ अमेरिका में किया जिस आधार पर आज इस आंदोलन पिता (जनक) के रूप में जाने जाते हैं। इस संबध में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया गया अध्ययन महत्वपूर्ण है। पियागैट वेर्ट 1918, हेगलीट 1930, मैकर्थी हॉल ने बच्चों के विकास पर पड़ने वाले विभिन्न कारको के प्राभावों का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया है।

वाट सन् ने 1919 में कहा था कि बच्चा जब पैदा होता है तो वह अपने माथे पर लिख कर नहीं आता कि वह बेईमान है या ईमानदार धार्मात्मा है या पापी। वह यह सबकुछ इस दुनिया में कदम रखने के बाद अपने परिवार से अपने पड़ोस से अपने आस पास के पूरे माहौल से क्रमशः सीखता है। और अपने आप को विकसित करता है उसे जैसा भी आकार दो वह

वही आकार धारण कर लेगा। हम उसे अच्छा आदर्श नागरिक भी बना सकते हैं और बुरे से बुरे कर्म करने वाला अपराधी भी। वाटसन के इस चिंतन के वाद से मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों, गृह वैज्ञानिकों एवं जिज्ञासु माता - पिता का ध्यान बाल पोषण प्रणाली की ओर गया और इसे अधिक से अधिक नियंत्रित और वैज्ञानिक बनाने की दिशा में प्रयास होने लगा। अब सभी मानने लगे हैं कि एक युवा अपनी शैशव स्मृतियों को कभी भूलता नहीं है और ये स्मृतियाँ ही उसके भावी जीवन का पथ निर्धारण करती है इस संदर्भ में अभिभावकत्व प्रणाली को जीवन निर्माण का प्रथम एवं अंतिम सोपान कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत बाल विकास पर माता पिता के उत्तरदायित्व का किस रूप में प्रभाव पड़ता है इसे देखना है। गफ 1964 ने उत्तरदायित्व पूर्ण व्यक्ति उसे कहा है जिसके अन्दर अपनी एवं सामाजिक जिम्मेदारी की भावना भरी हुई हो, उसमें अनुचित उचित की परख इतनी अधिक हो कि किसी भी काम को करने के पहले उसके परिमाण के बारे में उसे पूरा अनुमान हो जाता हो । ऐसा व्यक्ति नैतिकता और अनैतिकता के बीच भेद करने की क्षमता रखता है तथा कोई भी अनैतिक कार्य जिससे अपनी या किसी अन्य व्यक्ति की हानि होती हो वह नहीं करता है। इसके विपरीत ऐसे व्यक्ति जिनमें उत्तरदायित्व की भावना कम होती है अपने भावनाओं में संवदेनशील होते हैं तथा उनके व्यवहार अनियंत्रित होते है वे अपनी निजी स्वार्थ से प्रभावित होकर ही कोई कार्य करते हैं। इनके विचार पूर्वधारणाओं से ग्रसित होते हैं इसलिए इनके विचार स्थिर नहीं रह पाते है। इस विश्लेषण से ऐसा लगता है कि एक उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति सामाजिक राष्ट्रीय एवं परिवारिक समस्याओं के प्रति भी ठोस और जवाबदेही पूर्ण विचार रखता है। साथ ही अपने बच्चों का विकास समुचित रूप में हो रहा है या नही इसका ज्यादा ख्याल रखता है। इस पृष्टभूमि में :-

यह प्राक् कल्पना की जाती है कि निम्न उत्तरदायित्वपूर्ण माता - पिता की अपेक्षा उच्च उतरदायित्व पूर्ण माता पिता में बाल विकास के प्रति अपेक्षाकृत अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी।

प्रस्तुत अध्ययन के अर्न्तगत बाल विकास पर माता पिता के व्यक्तित्व का किस रूप में प्रभाव पड़ता है, अध्ययन के विषय के अन्तर्गत आता है। आइजेंक 1959 ने व्यक्तित्व के बहिर्मुखता को दर्शाते हुए कहा है कि ऐसा व्यक्ति सामाजिक होता है, वह समूह में रहना चाहता है, दोस्त बनाता है, अनजान लोगों से भी बात चीत करना पसन्द करता है। वह एकान्तप्रिय नहीं होता है, चुपचाप अध्ययन में रत रहना नहीं पसन्द करता है, वह जीवन में नयापन चाहता है छोटा जोखिम उठाने के लिए तैयार रहता है तथा दूसरों की बातों में भी अपने को सम्मिलित करना चाहता है वह तत्क्षण समस्याओं पर निर्णय लेता है। वह आवेगशील होता है, परिहास प्रिय होता है तथा समस्याओं के प्रति उसके उत्तर तैयार रहते हैं।

वह चिन्तामुक्त होता है जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण रखता है तथा सामान्य हँसता खेलता जीवन बिताना चाहता है। वह समाज में हमेशा परिवर्तन चाहता है। मतान्तर होने पर वह आक्रामक भी हो उठता है तथा उसे तुरंत क्रोध आ जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने पर पूर्ण नियंत्रण नहीं रख सकता है और इसके व्यवहारों का पूर्व कथन संभव नहीं होता है।

दूसरी ओर एक अन्तर्मुखी व्यक्ति शान्त और शिथिल स्वभाव का होता है। वह लोगों से कम मिलता जुलता है तथा स्वाध्याय में ही समय बिताता है। जीवन में सोच - समझकर ही कोई कदम बढ़ाता है तथा आवेश में कोई काम नहीं करता है। प्रत्येक काम को पूरी तत्परता एवं जवाबदेही के साथ ही पूरा करता है तथा कभी भी आक्रामक नहीं हो सकता है। वह विश्वसनीय होता है, धर्मिक मूल्यों के प्रति उसकी आस्था रहती है तथा कुछ निराशावादी प्रवृत्ति रखता है अत:

यह प्राक् कल्पना की जाती है कि बहिर्मुखी माता पिता में वाल - विकास के प्रति अन्तर्मुखी माता - पिता की अपेक्षा अधिक अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी।

क्षेत्र :- मुजफ्फ्रपुर जिला के कटरा प्रखण्ड के विभिन्न गाँवों में निवास करने वाले माता - पिता पर अध्ययन किया गया।

प्रतिदर्श :- मुजफ्फरपुर जिला अन्तर्गत कटरा प्रखण्ड के विभिन्न गाँवों में निवास करने वाले तीन सौ माता - पिता को अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित किया गया।

संयत्र एवं मापनी :- आइजेंक व्यक्तित्व अन्वेषिका :- व्यक्तित्त्व के बहिर्मुखता अन्तर्मुखता चर को मापने के लिए आइजेंक 1959 के द्वारा निर्मित ई0पी0आई0 के हिन्दी रूपान्तर (मनोवैज्ञानिक शोध एवं सेवा संस्थान, पटना विश्वविद्यालय) आइजेंक व्यक्तित्त्व अन्वेषिका का पालन किया गया। यह अन्वेषिका अन्तर्मुखता - वहिर्मुखता के अतिरिक्त व्यक्तित्त्व के अन्य आयामों की भी जाँच करता है। इस मापनी के आधार पर अधिकतम प्राप्तांक चौबीस तथा निम्नतम प्राप्तांक शून्य की संभावना है।

मापनी के प्रति उच्च अंक प्राप्त करनेवालों को बहिर्मुखी तथा निम्न अंक प्राप्त करने वालों को अन्तर्मुखी माना जाता है पचीस प्रतिशत उच्चतम अंक प्राप्त करनेवालों को पूर्ण बहिर्मुखी तथा निम्नतम पचीस प्रतिशत प्राप्तांक को पूर्ण अन्तर्मुखी तथ मध्य के विभिन्न श्रेणियों को तदनुकूल कहा जाता है।

व्यक्तित्व के अन्तर्मुखता बहिर्मुखता चर के सम्बन्ध में इस स्थल पर यह जानना आवश्यक है कि जन संख्या में व्यक्तित्व के बहिर्मुखता अन्तर्मुखता चर के वितरण की प्रवृति का आलोचनात्मक विश्लेषण किया जाय बहिर्मुखता – अन्तर्मुखता को मापने के लिए तीन सौ माता – पिता के प्रतिदर्श पर अध्ययन किया। इस मापनी के आधार पर अधिकतम चौबीस तथा न्यूनतम शून्य की संभावना है। तीन सौ माता पिता के प्रतिदर्श पर लिये गये प्रात्रांकों का प्रसार तथा वितरण सारिणी संख्या एक में वर्णित हैं :–

सारणी संख्या एक

मध्यमान	मध्यांक	बहुलांक	प्रामाणिक विचलन	मध्यमान की प्रमाणिक त्रुटि
10.12	9.60	9.44	3.07	.117

प्रतिदर्श के अन्तर्मुखता बहिर्मुखता प्राप्तांक के वितरण का मध्यमान 10.12,मध्यांक 9.60 बहुलांक 9.44 है केन्द्रीय प्रवृति के इन तीनों ही मापों में इतनी निकटता है कि इसके प्रसार के जनसंख्या में सामान्य वितरण की प्रवृति के इन तीनों की मापों में इतनी निकटता है कि इसके प्रसार के जनसंख्या में सामान्य वितरण की प्रवृति प्रमाणित होती है। प्रसार के मध्यमान की प्रमाणिक त्रुटि .117 है जिससे 99 प्रतिशत विश्वास के साथ (गिलफोर्ड 1956) यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान प्रतिदर्श मध्यमान वास्तविक जनसंख्या मध्यमान से अधिक से अधिक $2.58 \times .117 = 2\text{-}92$ के प्रसार की सीमा में ही है। व्यक्तित्व के अन्तर्मुखता – बहिर्मुखता चर के सम्बन्ध में ऊपर वर्णित सांख्यिकीय विश्लेषण से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती है।

(क) प्रतिदर्श की अन्तर्मुखता – बहिर्मुखता (प्राप्तांक) का वितरण जनसंख्या के प्रसामान्य वितरण सिद्धान्त के अनुकूल है।

(ख) प्रतिदर्श का अन्तर्मुखता – बहिर्मुखता मध्यमान जनसंख्या के वास्तविक मध्यमान से इतना निकट है कि इस मध्यमान को जनसंख्या के वास्तविक प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

प्रतिदर्श से प्राप्त निष्कर्षों से यह प्रमाणित होता है कि जनसंख्या में व्यक्तित्व के अन्तर्मुखता बहिर्मुखता चर का वितरण समान नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज में एक ओर जहाँ कुछ लोग अत्यन्त बहिर्मुखी प्रवृत्ति के है वहीं दूसरी ओर लगभग उसी अनुपात में उतने ही लोग अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के भी है तथा जनसंख्या की एक बड़ी संख्या दोनों ही अति सीमाओ के मध्य पड़ती है।

बहिर्मुखता – अन्तर्मुखता, बाल विकास एवं माता – पिता की मनोवृति :–

अन्तर्मुखता – बहिर्मुखता तथा वाल विकास के सम्बन्ध में यह प्राक् कल्पना की गई थी कि बहिर्मुखी माता – पिता में वाल विकास के प्रति अन्तर्मुखी की अपेक्षा अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी। तीन सौ माता – पिता के प्रतिदर्श पर आइजेंक व्यक्तित्व अन्वेषिका का पालन किया गया। प्रतिदर्श के प्राप्तांकों के आधार पर उच्चतम पचीस प्रतिशत (तृतीय चतुर्थांश से उपर) तथा प्रथम चतुर्थांश से नीचे (निम्नतम पचीस प्रतिशत) के समूहों को क्रमशः बहिर्मुखी समूह तथा अन्तर्मुखी समूह माना गया। इन दोनों ही समूहों की सांख्यिकीय गणना के आधार पर प्रयोग्यों की संख्या 75 तथा 75 निर्धारित हुई।

इस मापनी के आधार पर निम्नतम प्राप्तांक शून्य तथा उच्चतम प्राप्तांक चौबीस की सम्भावना है जिसमें वर्त्तमान प्रतिदर्श का निम्नतम प्राप्तांक चार तथा उच्चतम प्राप्तांक बीस प्राप्त हुआ है। इस प्रतिदर्श का प्रथम चतुर्थांश 8.69 तथा तृतीय चतुर्थांश 12.72 है इन दोनों ही बहिर्मुखी अन्तर्मुखी समूहों के वाल विकास एवं माता – पिता की मनोवृति प्राप्तांकों के वितरण के मध्यमान, प्रमाणिक विचलन एवं टी0 अनुपात का तुलनात्मक अध्ययन सारिणी संख्या दो में वर्णित है।

सारिणी संख्या दो

बहिर्मुखी–अन्तर्मुखी समूहो के माता – पिता की मनोवृति एवं वाल विकास प्राप्तांक का तुलनात्मक विवेचन :–

समूह	संख्या	मध्य मान	प्र0 वि0	मध्यमान की प्रमाणिक त्रुटि	मध्यमानों के अन्तर की प्र0 त्रुटि	टी0 अनुपात	सार्थकता स्तर
बहिर्मुखी	75	35.25	17.30	.90			
अन्तर्मुखी	75	31.20	7.15	.25	.96	4.11	.01

ऊपर वर्णित सारिणी संख्या दो में दोनों ही समूहों के बाल विकास एवं माता – पिता के मनोवृति के संख्यिकीय प्राप्ताकों के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि बहिर्मुखी समूह के माता – पिता का बाल विकास प्राप्तांकों का मध्यमान 35. 25 तथा अन्तर्मुखी समूह के माता – पिता का वाल विकास प्राप्तांकों का मध्यमान 31.20 है दोनों ही समूहों का टी0 अनुपात 4.11 जो 148 डी0 एफ0 के लिए .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित हो रहा है। अत: यह निष्कर्ष लिया जा सकता है कि ऊपर वर्णित प्राक् कल्पना सत्यापित हो रही है।

प्रतिदर्श के अन्तर्मुखी – बहिर्मुखी प्राप्तांक तथा वाल विकास एवं माता – पिता की मनोवृति (प्रतिदर्श संख्या तीन सौ) प्राप्तांको के बीच प्रांडक्ट मोमेन्ट सह सम्बन्ध विधि का पालन किया गया इस जाँच के आधार पर दोनों ही चरों के बीच . 46 सह सम्बन्ध गुणांक प्राप्त हुआ जो 2.98 DF के लिए .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है। यह सह सम्बन्ध गुणांक दोनों ही चरों के बीच धनात्मक घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रदर्शित करता है। (गैरटे, 1955, सारिणी गे पेज 439)।

व्यक्तित्व के बहिर्मुखता – अन्तर्मुखता चर के सम्बन्ध में प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर प्राक्कल्पना से सम्बन्धित निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते है।

(क) अन्तर्मुखी माता – पिता की अपेक्षा बहिर्मुखी माता – पिता में बाल विकास के प्रति अनुकूल मनोवृति पायी जाती है।

(ख) अन्तर्मुखता – बहिर्मुखता तथा माता – पिता की मनोवृति एवं बाल विकास के बीच उच्च एवं सार्थक सह सम्बन्ध पाया गया है।

(ग) व्यक्तित्व को अन्तर्मुखता – बहिर्मुखता चर का जनसंख्या में सामान्य वितरण प्रमाणित होता है।

विश्लेषण एवं निष्कर्ष :– बाल विकास एवं माता – पिता की मनोवृति उनके व्यक्तित्व के बहिर्मुखता – अन्तर्मुखता चर के अन्तरसम्बधों की समीक्षा की गई । प्राप्त परिणाम के आधार पर यह प्रमाणित हुआ कि बहिर्मुखी माता – पिता के समूह का बाल विकास के प्रति अनुकूल मनोवृति है तथा अन्तर्मुखी माता – पिता में उतनी अनुकूल मनोवृति नहीं पायी गई है। व्यक्तित्व के इस चर के सम्बन्ध में ऊपर वर्णित परिकल्पना प्रामाणित होती है। अन्तर्मुखी समूह का प्राप्तांक मध्यमान 31.20 एवं बहिर्मुखी समूह का प्राप्तांक मध्यमान 35.25 है। दोनों ही समूहो के मध्यमानों का अन्तर 4.05 तथा टी अनुपात 4.11 प्राप्त हुआ है। मध्यामानों के अंतर की सार्थकता .01 स्तर पर प्रमाणित हो रहा है। व्यक्तित्व में बहिर्मुखी अन्तर्मुखी चर के सम्बन्ध में आइजेंक 1959 ने वृहद विवेचना की है। तथा इसे व्यक्तित्त्व का एक प्रमुख चर स्वीकार किया है। उन्होने बहिर्मुखी के सम्बन्ध में कहा कि बहिर्मुखी व्यक्ति अत्यन्त सामाजिक होता है। इसके विपरीत अन्तर्मुखी व्यक्ति जो मात्रा अपने आप में सिमटकर रहने वाला होता है। किसी भी समस्या के प्रति बहिर्मुखी व्यक्ति जागरूक होता है। बाल विकास एवं माता पिता की मनोवृति जैसी ज्वलन्त समस्या के पक्ष में तो यह स्वाभाविक ही है।

Reference :-

(1) Eysenck H.J. (1959) - The Mannual of the Maudsley Personality inventory London: University of London Press.

(2) Eysenck H.J.L, Eysenck S.B.G (1975) - Mannual of the Eysencle Prsonality Questionnaire Hodder and Stoughton

(3) Garette H.E. (1955) - Satisfaction in Psychology and education (fourth edition) Longman green & Co. New york
(4) Guil ford J.P (1956) - Fundamental statistiesin psychology and education third edition MC. Grow Hill look company INC New Youk.
(5) Cooper J.B (1966) - Two scales for Parents evaluation Journal of genetic Psychology, 108,49-53
(6) Gough H.G. (1964) - Mannual of California Psychological Review, coliformia consulting Psychology Press, Palo Alto.
(7) Goodes Hatt P.K. 1952 - Method in Solial Reaseorch, New, Yourk MC Crow Hill
(8) Sigha K.K 1976 - Atitude twords youth Unrest in relation to over own porrental style And some personality vanabless Thesis, Bihar University Muz.
(9) Watson J.B (1919) - Psychology from the standpoint of a Behawiorist Philadelphia Lipp in cott co, 1919 (third ed 1929)

वैश्वीकरण के दौर में शिक्षकों का प्रशिक्षण

मीना कुमारी

प्राख्याता, नालन्दा खुला विश्वविद्यालय

21वीं शताब्दी में पूरी दुनिया की तस्वीर बदल चुकी है। आज आप दुनिया की कोई भी चीज कहीं खरीदना चाहें, आसानी से खरीद सकते हैं। आप जहाँ चाहे वहाँ जाकर काम कर सकते हैं। आज जहाँ कई मामलों में भारत के लिए शंका बनी हुई है वहीं दूसरी तरफ नई संभावनएं भी बढ़ रही हैं। सूचना-प्रौद्योगिकी का उदाहरण लिया जा सकता है, जिस क्षेत्र में भारतीय प्रोफेशनल पूरी दुनिया में अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर चुके हैं। शिक्षा में वैश्वीकरण का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। आज शिक्षा को सिर्फ भारत के संदर्भ में नहीं सोचकर बल्कि पूरी दुनिया के परिप्रेक्ष्य में सोचने की आवश्यकता है।

पिछले कुछ सालों में भारत में विदेशी बोर्ड से मान्यताप्राप्त स्कूलों की संख्या में, विशेषकर इंटरनेशनल बैकलॉरेट ऑर्गनाइजेशन और कैम्ब्रिज इंटरनेशनल एग्जामिनेशन से मान्यता प्राप्त स्कूलों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। इसके अलावा विदेशी बोर्ड से अन्तरस्नातक की पढ़ाई चाहने वाले छात्रों और अभिभावकों की संख्या भी बढ़ती ही जा रही है।

इस संदर्भ में जरूरी है कि भारत की वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का बनाया जाए। इसके लिए सबसे जरूरी है शिक्षकों के प्रशिक्षण में सार्थक बदलाव किया जाए और उनके स्तरीय प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए।

किसी भी समाज के निर्माण का सूत्रधार शिक्षक को ही माना जाता है। बदलते हुए सामाजिक परिवेश में शिक्षा का स्वरूप भी बदल रहा है, और साथ में शिक्षकों की भूमिका भी बदल रही है। इसलिए यह जरूरी है कि शिक्षकों की शिक्षण प्रणाली में भी आमूल-चूल परिवर्तन लाया जाए ताकि आने वाले समय की चुनौतियों का सामना कर सकें।

NCTE समेत अन्य संस्थाओं ने भी शिक्षक-शिक्षण प्रणाली में सार्थक बदलाव के लिए गंभीर प्रयास किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया है। आज दुनिया में भूमण्डलीकरण का दौर चल रहा है। किसी भी विकास की प्रक्रिया में मानव संसाधन सबसे महत्वपूर्ण कड़ी है। इसलिए विज्ञान और तकनीक के विकास के साथ-साथ मानव संसाधन का समुचित विकास जरूरी है। जब मानव संसाधन की बात होती है तो दुनिया भारत की तरफ देखती है। सूचना-तकनीक से लेकर प्रबंधन तक भारतीयों ने अपनी कार्यकुशलता साबित की है। ऐसे में शिक्षकों की जिम्मेवारी और भी बढ़ जाती है। इसलिए कुशल शिक्षकों के निर्माण के लिए उनके प्रशिक्षण की प्रणाली में व्यावहारिक सुधार लाना ज़रूरी है, ताकि आने वाली पीढ़ी को विश्वस्तरीय चुनौतियों के लिए तैयार किया जा सके।

भारत में इस क्षेत्र में कुछ तो प्रयास हुए हैं पर वो अपर्याप्त है। इसके अलावा तेज़ी से बढ़ती जनसंख्या और उतनी ही तेज़ी से बढ़ता ज्ञान का भण्डार कार्य को और दुष्कर बना देता है। आज भी देश में शिक्षकों की बहुत कमी है, इसलिए चुनौती दो प्रकार की है:- पहला ये कि अधिक से अधिक शिक्षकों को तैयार किया जाए और दूसरा उनमें गुणवत्तापूर्ण शैक्षणिक क्षमता का विकास किया जाए।

इस क्रम में समग्र शिक्षा के ज़रिए आने वाली पीढ़ी में प्रासंगिक ज्ञान, आवश्यक कुशलता, स्वाभाविक क्षमता के साथ-साथ तौर-तरीके एवं सामाजिक मूल्यों का विकास करना भी ज़रूरी है, और नई पीढ़ी को समग्र शिक्षा प्रदान करने के लिए विषय-सूची, तरीक़ा, माध्यम और शिक्षा की प्रक्रिया में व्यापक सुधार लाना होगा, ताकि भविष्य में वे बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवेश में कुशलतापूर्वक कार्य कर सकें। यह समग्र शिक्षा ही है जो सही व्यक्ति को उचित समय पर उचित कार्य के लिए तैयार कर सकेगा।

यही नहीं भारत में आज शिक्षकों को शिक्षित करने की जो प्रणाली है उसमें भी व्यापक सुधार की आवश्यकता हैं। अभी भी हमारी शिक्षा पद्धति व्यावहारिकता से दूर है। भारत में शिक्षकों को एक समान प्रशिक्षण दिया जाता है जबकि हमारे समाज में लोगों की आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति में काफी भिन्नता है। शहरी लोगों की आवश्यकता अलग है तो ग्रामीण लोगों की भिन्न। धर्म भी शिक्षा के मामले में अपनी भूमिका अदा करता है। इसलिए जरूरी है कि शिक्षकों के प्रशिक्षण का कार्यक्रम बनाते समय इन बातों का ध्यान रखा जाए।

इसके अलावा सैद्धांतिक पढ़ाई पर सिर्फ ध्यान ना देकर गतिविधि आधारित प्रशिक्षण देना जरूरी है। और समय के साथ आने वाली नई तकनीक को कार्यक्रम में शामिल किया जाना चाहिए। हाँ नई तकनीक का अँधाधुंध अनुसरण भी नहीं होना चाहिए। अपने सामाजिक परिवेश और मूल्यों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

शिक्षा देने का कार्य महज एक पेशा नहीं है। एक शिक्षक के कँधों पर किसी भी समाज का भविष्य होता है। पर भारत जैसे देश में जहाँ बेरोजगारी की समस्या मुँह बाए खड़ी है, शिक्षक की नौकरी भी सिर्फ एक रोजगार बन कर रह गया है। यह बहुत ही दु:खद पहलू है।

एक और कड़वी सच्चाई है- बाजारवाद के इस युग में जब आदमी की हैसियत उसकी आर्थिक स्थिति से लगाई जाती हो वहाँ शिक्षकों की हालत बहुत दयनीय है। आज शायद ही कोई युवा मिले जिससे पूछा जाए कि तुम क्या बनना चाहते हो - उसका जवाब एक क्रिकेटर या एक गायक होगा पर शिक्षक शायद नहीं होगा।

आज विकसित देशों में शिक्षकों को सबसे महत्वपूर्ण प्रोफेशनल के रूप में देखा जाता है जिनकी समाज के निर्माण में अहम भूमिका होती है। आज जरूरी है कि भारत में शिक्षकों को उचित स्थान और उचित रिवार्ड दिया जाए। तभी हम भारत के बहुमूल्य मानव संसाधन को पूरी दुनिया के लिए एक चुनौती की तरह पेश कर सकते हैं।

उच्च शिक्षा का बदलता स्वरूप

सुरक्षा शर्मा

ओ॰ एस॰ डी॰, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

इन दिनों विश्वविद्यालयों में दाखिले के लिए लाखों उत्साही छात्र आंखों में सैकड़ों सपने संजोए चिलचिलाती धूप में फार्म जमा करवाने के लिए लंबी-लंबी कतारों में खड़े नजर आते हैं पर क्या दाखिला मिलने के बाद भी ये उत्साही छात्र कक्षाओं में भी पढ़ते नजर आएंगे?

यह हमारे देश की उच्च शिक्षा व्यवस्था पर एक गंभीर प्रश्न बना हुआ है। कक्षाओं की बजाय कॉलेजों की कैंटीन या लॉन में छात्रों की अधिक भीड़ होने का सारा दोष छात्रों पर नहीं थोपा जा सकता। सच तो यह है कि आज का मेहनती छात्र भी कक्षाओं में जाने से कतराता है क्योंकि आज के अधिकतम शिक्षक उन्हें केवल किताबी ज्ञान देने में ही सक्षम हैं जबकि छात्र किताबी ज्ञान के साथ-साथ व्यावसायिक ज्ञान की तलाश में भी रहता है। दिल्ली व कई अन्य विश्वविद्यालयों द्वारा दो-तिहाई उपस्थिति अनिवार्य करने व परीक्षा फल में आंतरिक आंकलन लागू करने के कदम से छात्र अब भौतिक रूप में तो कक्षाओं में आने लगे हैं।

लेकिन मानसिक रूप से उपस्थिति अभी भी संभव नहीं। आज की आवश्यकताओं के अनुरूप जब तक पाठ्यक्रम में मूलभूत परिवर्तन नहीं लाये जाएंगे, विद्यार्थियों का महाविद्यालयों की आम डिग्री पाठ्यक्रमों के साथ गंभीरता से जुड़ना नहीं हो पाएगा।

उच्च वर्गों से आने वाले छात्र तो फिर भी बाजार में उपलब्ध व्यक्तित्व विकास के अनेक कोर्सों का लाभ उठा लेंगे, परंतु निम्न तथा मध्य वर्ग के विद्यार्थी (जिनकी जरूरतों को पूरा करना सरकारी अनुदान पर आश्रित महाविद्यालयों का प्राथमिक लक्ष्य माना जा सकता है), जरूर इस सदियों पुराने पाठ्यक्रम के शिकार बने होंगे।

आखिरकार शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास और यह ज्ञान को कक्षाओं, किताबों तथा तीन घंटे की परीक्षाओं तक सीमित करके कदाचित हासिल नहीं किया जा सकता। न ही साहित्य, इतिहास तथा विज्ञान के बीच अभेद्य दीवारें खड़ी करके उपलब्ध हो सकता है। व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए किताबी ज्ञान और रटी हुई जानकारी के अलावा शारीरिक क्षमता, उच्च कोटि की नैतिकता, ललित कलाओं से गहरा परिचय तथा जीविकोपार्जन की पक्की काबलियत भी उतनी ही महत्वपूर्ण है।

दुर्भाग्य से हमारी शिक्षा व्यवस्था औपनिवेशिक ढांचे को आज तक तोड़ नहीं पाई है। कहा जाता है कि अंग्रेजों को भारत में अपना प्रशासन चलाने के लिए बड़ी संख्या में क्लर्कों तथा 'ब्राउन साहबों' की जरूरत थी। इसके लिए तीन घंटे के इम्तिहान में रटे हुए किताबी ज्ञान को परखने वाली प्रणाली पर्याप्त साबित हुई। आज जब देश को विकास का मार्ग खोलने वाले उद्यमियों की, आविष्कारकों की तथा सामाजिक न्याय के लिए गली मोहल्लों तक लड़ने वाले स्वावलंबी युवाओं की आवश्यकता है तो भी क्या वही औपनिवेशिक ढांचा ऊपरी परिवर्तनों के साथ जिंदा रखा जाए?

केवल चीन, रूस तथा जापान ही नहीं, बल्कि स्वयं ब्रिटेन भी अपनी प्रणालियों को मूलभूत रूप से बदल चुके हैं। हमारे देश में तो गांधी, टैगोर तथा जाकिर हुसैन जैसे मौलिक चिंतक इस आवश्यकता पर बहुत पहले जोर दे चुके थे, पर कैसी विडंबना है कि आजादी का सूरज हमारी शिक्षा प्रणाली पर कभी उदय ही नहीं हुआ। यह सच है कि नाम के लिए हमारे महाविद्यालयों में खेल कूद, एन॰ सी॰ सी॰ तथा ललित कलाएं हैं एवं आत्म-रक्षा प्रशिक्षण भी होता है, परंतु इनमें प्राप्त दक्षता

पर कोई अंक नहीं होते और न ही डिग्रियों में इनका उल्लेख रहता है।

इसीलिए न तो छात्र ही इन्हें गंभीरता से लेते हैं और न ही शिक्षक तथा अभिभावक इनके लिए पूरा प्रोत्साहन दे पाते हैं। यह एक कड़वा सच है कि यदि कोई व्यक्ति दुर्घटना में आहत होकर मरने के कगार पर हो तो ज्यादातर पढ़े-लिखे लोग उसकी प्राथमिक चिकित्सा भी नहीं दे पाएंगे। भले ही उन्होंने जीव विज्ञान में अनेकों लैटिन नाम याद किए हों अथवा दक्षता से इतिहास की अनेक लड़ाइयों का अध्ययन किया हो।

फिलहाल, लाखों कॉलेज छात्र देश के सैकड़ों शहरों और कस्बों में कुछ हजार संगठित-क्षेत्र की नौकरियों की लालसा में अपने जीवन के अनेकों साल बर्बाद कर देते हैं। बेरोजगार अक्सर पढ़ा लिखा ही होता है, अनपढ़ नहीं। उच्च आकांक्षाएं दिखाने वाली यह शिक्षा मेहनत से कमाई करने की मानो सभी क्षमताएं ही खत्म कर देती है। आश्चर्य नहीं कि इन्हीं पढ़े लिखे बेरोजगारों में कितने ही हर वर्ष आत्महत्याएं कर बैठते हैं या निराशा और बेबसी के अंधकार में खो जाते हैं। ऐसे में क्या आवश्यक नहीं कि कॉलेज की पढ़ाई उन्हें नौकरियां ढूंढने के साथ-साथ औरों को नौकरियां प्रदान करने वाले छोटे-मोटे उद्यम चला सकने की शिक्षा भी दे?

एक ऐसी शिक्षा प्रणाली, जो किताबों और वार्षिक परीक्षाओं के बोझ को कम करके व्यक्तित्व के चतुर्मुखी विकास पर जोर दे और सामाजिक कार्यों में नेतृत्व, मेहनत तथा कलात्मक प्रतिभावों को भी उचित सम्मान (अंक) दे।

इससे शिक्षा न केवल बेहतर नागरिक बना पाएगी, बल्कि निचले वर्गों से आने वाले मेहनती छात्रों की काबलियत भी उभर पाएगी। क्योंकि यही वो युवा है, जो हो सकता है तीन घंटे की लिखित परीक्षा में अच्छा लेख न लिख पाएं, परंतु फिर भी सर्वांगीण शिक्षा प्राप्त करके देश के नामी कारीगर बन सकते हैं, सैनिक बन सकते हैं और थोड़ा सहारा मिलने पर विकास के उद्यमी भी।

आज के छात्र-छात्राओं को कल का जिम्मेदार नागरिक बनाने के लिए हम सभी का दायित्व है कि ऐसी शिक्षा प्रणाली बनाएं जिनकी उनको वर्तमान में जरूरत है अपने भविष्य को सुनिश्चित करने तथा देश के विकास में अहम भूमिका निभाने के लिए।

हरिवंशपुराण की उपादेयता (वर्तमान संदर्भ में)

डॉ. नरेन्द्र झा

एम्.ए., पीएच्.डी., ग्राम - सुखसेना, जिला - पूर्णियाँ (बिहार)

''आदावन्ते च मध्ये च हरि: सर्वत्र गीयते'' अर्थात् आदि, मध्य और अन्त सर्वत्र हरिवंशपुराण में हरि-संकीर्तन किया गया है। इस तरह, हरिवंशपुराण एक पारायण-ग्रन्थ है जिसमें हरि अर्थात् भगवान् विष्णु का गुणगान किया गया है। यह विशाल आख्यान ग्रन्थ महाभारत का अंश है। इसकी उपयोगिता और लोकप्रियता खासकर गांवों में देखने को मिलती है जहाँ बूढ़े-बुजुर्गों के बीच आज भी इसका वाचन किया जाता है। हरिवंश का धार्मिक महत्व सर्वत्र प्रख्यात है। सन्तान के इच्छुक व्यक्तियों के लिए हरिवंश के विधिवत् श्रवण का विधान लोकप्रचलित है। शपथ खाने के लिए पुरुषों के हाथ पर हरिवंश की पोथी रखने का प्रचलन आज भी नेपाल में उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी मुसलमान के हाथ पर कुरान रखने का। श्रीकृष्ण के चरित्र के तुलनात्मक अध्ययन के लिए हरिवंश के विष्णुपर्व का परिशीलन नितान्त आवश्यक है। प्राचीन भारत की ललित कलाओं के विषय में हरिवंश बहुत ही उपादेय सामग्री प्रस्तुत करता है। प्राचीन भारत में नाटक के अभिनय-प्रकार की जानकारी के लिए भी यहाँ उपादेय तथ्यों का संकलन है। सबसे महत्वपूर्ण है हरिवंश में राजनैतिक इतिहास का वर्णन, जो किसी भी प्राचीन पुराण के वर्णन से उपादेयता और प्रामाणिकता में किसी प्रकार न्यून नहीं है।[1] इसतरह, प्रथम शती में भारतीय संस्कृति की रूपरेखा जानने के लिए हरिवंश[2] हमारा विश्वसनीय मार्गदर्शक है।

वस्तुत: भारतवर्ष की संस्कृति का परिचय पाने के लिए हरिवंशपुराण एक सुन्दर वातायन है। वैदिकोत्तर संस्कृति का मेरुदण्ड पुराण-साहित्य हैं। पुराविदों ने कथाओं-उपकथाओं के माध्यम से वैदिक संस्कृति और सभ्यता का प्रचार-प्रसार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वैदिक संस्कृति से किञ्चित् परिष्कृत पौराणिक संस्कृति का विकास हुआ। यह संस्कृति न तो पूर्णत: वैदिक है और न ही पूर्णत: अवैदिक। विभिन्न पुराणों में एक मर्यादा-पुरुष[3] को केन्द्र मानकर एक नए आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक आदर्श को जो उपस्थापित करने का प्रयास किया गया है उनमें हरिवंशपुराण भी एक है।

हरिवंशपुराण सोलह हजार तीन सौ चौहत्तर (16374) श्लोकों में उपनिबद्ध है। इसमें तीन पर्व या खण्ड हैं। प्रथम पर्व हरिवंशपर्व है जिसमें हरि अर्थात् कृष्ण के वंश वृष्णि-अन्धक की कथा विस्तार से दी गयी है और इस आदिम पर्व के आधार पर ही पूरे ग्रन्थ का नामकरण किया गया है। आरंभ में सृष्टि वर्णन है। ध्रुव के वर्णन के अनन्तर राजा पृथु की कथा विस्तार से दी गयी है। सूर्यवंशी राजाओं के प्रसंग में विश्वामित्र तथा वसिष्ठ का भी आख्यान वर्णित है। प्रसंग से पृथक् हटकर प्रेतकल्प (अन्त्येष्टि और श्राद्ध) का वर्णन नौ अध्यायों में विस्तार से निबद्ध है और इसी के अन्तर्गत 21वें अध्याय में पशुओं की बोली को समझने-बूझने वाले ब्रह्मदत्त की कथा दी गयी है। चन्द्रवंशी राजाओं के वर्णन के अवसर पर राजा पुरुरवा और उर्वशी का प्रख्यात वैदिक आख्यान प्राचीन शैली तथा भाषा में निबद्ध होकर शतपथ ब्राह्मण के आख्यान से समानता रखता है। इसके पश्चात् नहुष, ययाति तथा यदु का वर्णन है और विष्णु की अनेक स्तुतियाँ की गयी हैं जो एक प्रकार से कृष्ण के पूर्व देवविषयक ज्ञान का परिचय देती है।

द्वितीय-पर्व विष्णुपर्व समग्र ग्रन्थ का अतिशय विस्तृत तथा महनीय भाग है। इसमें कृष्णचन्द्र की विविध लीलाओं का, विशेषत: बाल-लीलाओं का बड़ा ही सांगोपांग रुचिर विवरण है। श्रीमद्भागवत् के वर्णन से तुलना करने पर अनेक स्थलों पर पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं अन्य घटनाएँ भी दी गयी हैं। कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के जन्म, शंबर द्वारा हरण, समुद्र

से प्राप्ति तथा मायावती के साथ विवाह आदि प्रख्यात कथाओं का यहाँ उल्लेख है परन्तु असुरों के राजा वज्रनाभ की दुहिता प्रभावती के साथ प्रद्युम्न विवाह एकदम नूतन तथा पर्याप्त रोचक है। इसी प्रकार प्रख्यात रासलीला का हल्लीसक नृत्य के रूप में निर्देश किसी प्राचीन युग की स्मृति दिलाता है। इस पर्व के अन्त में अनिरुद्ध का विवाह बाणासुर की कन्या उषा के साथ बड़े उमंग और उत्साह से वर्णित है और इससे पूर्व हरिहरात्मक-स्तव द्वारा शिव एवं विष्णु की एक ही अभिन्न देवता के रूप में सुन्दर स्तुति की गयी है। इस पर्व में विषय की एकता और वर्णन की संगति से प्रतीत होता है कि प्राचीन युग में श्रीकृष्णचरित-काव्य के साथ यह अंश सम्बन्ध रखता है।

भविष्य-पर्व हरिवंशपुराण का तृतीय एवं अन्तिम पर्व या खण्ड है। यह भाग विविध वृत्तों का पौराणिक शैली में परस्पर असम्बद्ध संकलन है। इस पर्व का नामकरण प्रथम अध्याय के नाम पर है जहाँ भविष्य में होने वाली घटनाओं का संकेत किया गया है। जनमेजय द्वारा विहित यज्ञों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। विष्णु के सूकर, नृसिंह तथा वामन अवतारों के वर्णन के अनन्तर शिवपूजा तथा विष्णु पूजा के समन्वय की दिशा दिखायी गयी है। शिव के दो उपासक हंस तथा डिम्भक की कथा विस्तार से वर्णित है जिन्हें हंस ने पराजित किया था। महाभारत के माहात्म्य-वर्णन के पश्चात् समग्र हरिवंश का ध्येय हरि की स्तुति में प्रदर्शित किया गया है।

परिगणित अठारह[4] पुराणों में हरिवंशपुराण की गणना नहीं है। अतएव विवश होकर विद्वानों ने इसे महाभारत के 'खिल-भाग' के नाम से अभिहित किया है और कहा है कि यह महाभारत का 'खिल' अर्थात् छूटा हुआ अंश है। महाभारत के प्रचलित पाठों में भी इसे 'पुराणं खिलसंज्ञितम्'[5] कहा गया है। वस्तुतः भारतीय परम्परानुसार 'हरिवंश' एक पुराण है। पुराण के रूप में हरिवंश को इतनी अधिक प्रतिष्ठा मिल चुकी है कि लोग इसे महाभारत का 'खिल' मानना भ्रान्ति-मात्र समझते हैं। इसका कारण 'हरिवंश' का पौराणिक स्वरूप ही है। हरिवंश का स्वरूप पुराणों से मिलता-जुलता है। पुराविदों ने पुराण के जो लक्षण[6] निर्दिष्ट किये हैं तदनुसार पुराणों का वर्ण्य-विषय 'वंश' ही मूल रूप से लक्षित होता है। क्योंकि, सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश और मन्वन्तर तो शाश्वत हैं, अतएव वंशानुचरित ही पुराणों का मुख्य प्रतिपाद्य है, ऐसी मान्यता दृढ़ हो चुकी है। इस तरह प्रस्तुत हरिवंश कीर्त्तन-परक ग्रन्थ 'पुराण' से अभिहित हुआ तो यह समीचीन ही है।

पुराण-लक्षण-घटक वंशानुचरित से सम्पन्न होने के बाद भी पुराविदों ने हरिवंश को पुराणों में परिगणित नहीं किया है जिसका कारण है इसमें पूर्ण पौराणिकता का अभाव तथा महाभारत से इसके पृथक् होने में अप्रामाणिकता। यद्यपि हरिवंशपुराण में पौराणिक लक्षण के आभास से इसका पुराण-व्यपदेश ठीक ही है किन्तु यह पारमार्थिक रूप से पुराण नहीं है। इसमें सर्ग-प्रतिसर्ग आदि पौराणिक अंगों का लेशमात्र ही समावेश है तथा पुराणों की तरह इसकी महाविषयता भी नहीं है। इसे यदि आर्षकाव्य कहा जाए तो अधिक समीचीन होगा। इसके श्रवण से पुत्र-प्राप्ति रूप प्रयोजन सिद्ध होता है जबकि पुराणों में चतुर्वर्ग प्रतिष्ठित है। इस प्रकार यह मानव-जीवन के एकमात्र प्रयोजन के साधक होने से अल्पप्रयोजन-परक है। यही कारण है कि पुराविदों ने इसे पुराण की श्रेणी में नहीं गिना।

'हरिवंश', पुराण के रूप में प्रथित होने के बाद भी पुराण की कोटि में नहीं गिना जा सका, क्योंकि पुराण का मुख्य प्रतिपाद्य वंशानुचरित भले ही हो, उसके अन्य प्रतिपाद्य भी अनिवार्य ही हैं। वस्तुतः पुराण वंशानुचरित-मात्र नहीं है जबकि हरिवंश का मुख्य प्रतिपाद्य या प्रयोजन वंश-प्रतिष्ठा है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें हरि अर्थात् भगवान् विष्णु के अवतार कृष्ण[7] के वंश का वर्णन है। इसके प्रणयन का प्रयोजन वंश-प्रतिष्ठा मात्र है। इस प्रयोजन की निष्पत्ति हेतु इसमें पितृ-प्रसंग को उपस्थापित किया गया है। पितरों की अनुकम्पा से पुत्र की प्राप्ति होती है तथा उनके असंतोष से पुत्र का अभाव होता है। हरिवंशपुराण के तीन भाग हैं - हरिवंश, विष्णु और भविष्य अर्थात् भूत, भव्य और भविष्य। इस विभाजन का रहस्य है - पितृ, देव और मनुष्य -- पिता, आत्मा और पुत्र। सन्तान के अभाव के तीन कारण हो सकते हैं - पितरों का कोप, दैवी प्रतिकूलता और मानव-क्षोभ। इनके तीन ही प्रतिकार हैं - पितरों के प्रति श्रद्धाभाव, देवताओं में भक्ति और मनुष्य के लिए सद्भावना। हरिवंशपुराण में इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर नारायणावतार महर्षि व्यास ने प्रथम भाग में पितरों का उपाख्यान, द्वितीय भाग में विष्णु के चरित्र का व्यापक चित्रण तथा अन्तिम भाग में विष्णु के अवतारों का वर्णन किया है जिससे सद्भावना का उदय हो सके। इसप्रकार हरिवंशपुराण अपने प्रयोजन के प्रति सापेक्ष है। इसकी अपनी प्रतिज्ञा और अपना प्रयोजन है। नामानुरूप ही इसमें 'हरि' के वंश का वर्णन है और पुत्रप्राप्ति इसका फल है। यह महाभारत का परिशिष्ट अवश्य है जिसका निर्वाह करते

हुए महर्षि व्यास ने भी इसकी रचना पर्वों में की है। किन्तु परिशिष्ट होने के बाद भी इसमें पौराणिक लक्षणों का संघटन इसे पुराविद्या से पृथक् नहीं कर सकता। इसकी पृथक् प्रतिज्ञा और पुत्रप्राप्तिरूप फल-पार्थक्य से लाभान्वित लोगों ने आज भी इसे पुराण के ही रूप में अपनाया है, जो सर्वथा समीचीन है।

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य, डॉ. वीणापाणि पाण्डेय, हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन, हिन्दी समिति लखनऊ द्वारा प्रकाशित, 1960
2. हरिवंश का प्रकाशन नीलकण्ठ की टीका के साथ चित्रशाला प्रेस पूना से तथा हिन्दी अनुवाद के साथ गीताप्रेस गोरखपुर ने किया है।
3. वामनपुराण में भगवान् विष्णु के वामनावतार को केन्द्र मानकर पौराणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार मत्स्यपुराण में चाक्षुष-मन्वन्तर में लय के समय ऋषियों के कल्याणार्थ अवतरित भगवान् के महामत्स्यावतार को, पद्मपुराण में कमलयोनि ब्रह्मा, कूर्मपुराण में महाकूर्म, स्कन्दपुराण में तारकासुर के वधार्थ षण्मुख कार्तिकेय तथा वराहपुराण में पृथ्वी के उद्धारार्थ भगवान् महावराह को।
4. मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
   अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि विदुर्वुधाः।।
5. महाभारत, आदिपर्व, 2.82.83
   हरिवंशस्ततः पर्वं पुराणं खिलसंज्ञितम्।
6. श्रीमद्भागवत, 12.7
   सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
   वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्।।
7. हरिवंशपुराण, 1.1.8
   पितामहाद्यं प्रवदन्ति षष्ठं महर्षिमक्षय्यविभूति युक्तम्।
   नारायणस्यांजमेकपुत्रं द्वैपायनं वेद महानिधानम्।।
   इस श्लोक को निम्नरूप में समझना चाहिए-
   नारायण-ब्रह्मा-वसिष्ठ-शक्ति-पराशर- व्यास।

महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् नाटक में संगीत-योजना : एक विवेचन

डॉ. बाल कृष्ण शर्मा

मुजफ्फरपुर (बिहार)

''मालविकाग्निमित्रम् '' नाटक की संगीत योजना कालिदास के अद्‌भुत नाट्य कैशल की परिचायिका है। कालिदास की प्रथम नाट्य रचना होने पर भी यह नाट्य शिल्प की दृष्टि से पूर्णत:परिपक्व है। भारतीय नाट्यकला में संगीत की महती भूमिका है।

संगीत के बिना नाट्यविद्या अकल्पनीय है। नाट्य प्रयोग को सफल तथा प्रभावोत्पादक बनाने में गीत, नृत्य और वाद्य का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संगीत रत्नाकर में गीत, वाद्य और नृत्य तीनों के एकीकृत और समन्वित रूप को ही संगीत कहा गया है- ''गीतंवाद्यं तथा नृत्यं त्रयं-सङ्गीतमुच्यते।'' संगीत का अपर नाम तौर्यत्रिक भी है।

''मालविकाग्निमित्रम्'' में संगीत योजना सम्यक् ढ़ंग से हुई है। संगीत नाटक का प्राणभूत तत्त्व है। नाट्यशास्त्र '' में आचार्य भरत ने नाट्य संग्रह के एकादश (II) तत्त्वों में अभिनयादि के समान ही संगीत को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। नाट्यकला के साथ संगीत का आनुषंगिक सम्बन्ध है, इसे नाट्य की शय्या कहा गया है।

गीत या गीति का ही नाट्य प्रकार ध्रुवागीति है। नाटक के पाठ्य में अनिबद्ध को छोड़कर निबद्ध पाठ्य में स्थल विशेष पर आयोजित ध्रुवाओं का अपरिहार्य महत्त्व है। ध्रुवागीति के अतिरिक्त नान्दी तथा भरतवाक्य निबद्ध पाठ्य के अनिवार्य अंग है।

नृत्य आदिकाल से ही नाट्य का अविभाज्य अंग है। मूल शब्द नृत्त है। नृत्त / नृत्त का ही गीत तथा अभिनयादि से समायोजन हो जाने पर वह नृत्य हो जाता है जो पदार्थभिनय का कारक है। मधुर और उद्धत भेद से इसके दो रूप दृष्टिगत होत हैं- ताण्डव और लास्य। ''मालविकाग्निमित्र'' में द्वितीय अंक के अन्तर्गत मालविका का छलित नृत्य विशुद्ध शास्त्रीय है।

संगीत का प्रभाव मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य जीव जन्तुओं पर भी पड़ता है। रंगशाला से मृदंग का गम्भीर घोष सुनकर मयूर मेघगर्जन समझ कर भ्रान्ति में नृत्य करने लगते हैं। मालविका के गायन तत्पश्चात् छलित नृत्य की प्रस्तुति में अपेक्षित नाट्यतत्त्वों क्रमश: सूचा (अवृर), नृत्त तथा शाखा, लय तथा रागबन्ध का परिचय प्राप्त होता है। इस नाटक में वाद्य प्रयोग में बार-बार मृदंग का ही नाम आता है। इस नाटक में प्रसंगवश मायूरी और मार्जना का प्रयोग मृदंग के प्रसंग में हुआ है। वस्तुत: कपलिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक की संगीत योजना में अत्यन्त साफल्य लाभ किया है।

नाटक में संगीत अत्यपेक्षित तत्त्व है। एकादश नाट्यसंग्रह में संगीत की भी गणना की गई है। नाट्यशास्त्र में अन्य शास्त्रों तथा कलाओं की भाँति संगीत शास्त्र पर भी बल दिया गया है। संगीत नाटक का सहजात सहचर है।

''मालविकाग्निमित्र'' कालिदास की प्रारम्भिक नाट्य रचना है तथापि नाट्यशिल्प की दृष्टि से अत्यन्त परिपक्व है। ''मालविकाग्निमित्र'' नाटक के आरम्भिक अंकों में संगीत का प्रचुर प्रयोग है। विशेषत: द्वितीय अंक इस सन्दर्भ में उल्लेख्य है।

भारतीय नाट्यकला में संगीत का स्थान अपरिहार्य है और संगीत के बिना नाट्यविद्या अकल्पनीय है। नाट्यप्रयोग को प्रभावोत्पादक तथा सफल बनाने में नाट्य (अभिनय) के साथ गीत, नृत्य और वाद्य का प्रयोग निश्चित रूप से महान् योगदान

करता है। पाठ्य, अभिनय और रसादि का ग्रहण ब्रह्मा ने ऋग्, यजुः और अथर्ववेद संहिता से किया गया है। उसी प्रकार सामवेद से गीत लेकर पञ्चमवेद 'नाट्यवेद' परिपूर्ण होता है।

संगीत रत्नाकर में नृत्य, गीत और वाद्य को संगीत कहा गया है–

''गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते''[1]

आचार्य भरत ने नाट्योपकरणों में पाठ्य तथा अभिनयादि के समान ही गीत को अन्य नाट्यतत्त्वों जैसा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। नाट्यकला के साथ संगीत का आनुषंगिक सम्बन्ध है। संगीत का अपर नाम तौर्यात्रिक है। कोशग्रन्थों में संगीत को इसी नाम से अभिहित किया गया है.

– तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्।[2]

– तार्यत्रिकं नृत्तगीतवाद्यं नाट्यं च तत्त्रयम्।[3]

अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्त ने गीत का उद्भव सामवेद से माना है– गीतिषु सामाख्या।[4] शाङ्र्गधरपद्धति में गीति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है– वर्णद्यलङ्कृता गानक्रिया पदलयान्विता। गीतिरिति उच्यते हिसा.....।[5]

होने वाली मृदंग की ध्वनि मयूरों को भ्रमित कर देती है वे मेघ के गर्जन जैसी आवाज से बिना देखे ही वर्षाकाल समझ लेते हैं और नृत्य में मग्न हो जाते हैं।–

जीमूतस्तनितविशकिभिर्मयूरैरूदग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसिं।।[10]

उक्त पद्य में मायूरी और मार्जना जैसे शब्दों का प्रयोग है। संगीतशास्त्र की दृष्टि से इन दोनों की सार्थकता मृदंगवादन में दृष्टिगत होती है। मृदंगवादन में तीन प्रकार की मार्जनाएँ होती हैं। मायूरी, अर्घमायूरी तथा कार्मारवी। ''मालविकाग्निमित्र'' में वाद्य की दृष्टि से बार–बार मृदंग का ही नाम आता है। कालिदास ने अपने अन्य काव्यों में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के पंचम अंक में रानी हंस पदिका को गीत के साथ वीणावादन करते दिखाया है। वैतालिकों के गीत भी लयतालबद्ध हैं।

निष्कर्षतः कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक में जिस सांगीतिक वातावरण की सृष्टि की है उससे उनके संगीत शास्त्र विषयक अगाध पाण्डित्य का परिचय मिलता है। यहाँ नाट्य और संगीत दोनों का मंजुल समन्वयन सहज, रोचक तथा आकर्षक है। अवसर विशेष पर उन्होंने नृत्य, गीत तथा वाद्यादि का प्रयोग संतुलित किया है।

संदर्भ

1. संगीत रत्नाकर – 1/21
2. अमरकोश – 1/7/10
3. शब्द रत्नाकर – 1880, हलायुद्य–93, मेदिनी–26/34
4. अभिनव भारती टीका 1/37 पर उद्धृत
5. संगीत रत्नाकर – 1/8/14, 15
6. नाट्यशास्त्र –
7. दशरूपक– 1/9
8. दशरूपक – 1/10
9. मालविकाग्निमित्रम् –2/8
10. मालविकाग्निमित्रम् ˂–1/21

शिक्षा से सामाजिक उन्नति

डॉ. केकी कृष्ण

एम०ए०, पी०एच०डी०, डी०लिट्०, विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
सत्येन्द्र ना० सिंह कॉलेज, हाजीपुर (बिहार)

यद्यपि साध्य-साधन की दृष्टि से शिक्षादि सभी साधनों के महातात्पर्य का पर्यवसान सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य-नित्योपलब्धिस्वरूप नित्यशुद्ध-बुक-मुक्त-स्वप्रकाश-चैतन्य- स्वात्मस्वरूप आनन्दमात्र करपादमुखोदरादि सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में है तथापि भगवन्निः श्वासभूत भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सादि पौरुषेयदोषरहित अपौरुषेय वेदादि-सच्छाकृप्रवर्तित अनादि-अविच्छिन्न परम्पराप्राप्त सर्वभूतहितरत शिष्टद्वारा परिगृहीत वि श्वकल्याणकारिणी मातृशतादपि हितैषिणी उभयलोकसाधिनी सत्-शिक्षा में भी अवान्तर तात्पर्य विद्यमान है।

शिक्षा के बिना किसी भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की सभ्यता-संस्कृति की लौकिक, पारलौकिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक उन्नति संभव नहीं है। शिक्षा के बिना कोई भी अपने वास्तविक लक्ष्य को न प्राप्त कर सका, न कर पा रहा है, न कर पायेगा। इस दृष्टि से शिक्षा की सार्वभौम व्यापकता एवं प्रधानता सिद्ध ही है। शिक्षा के बिना सर्वत्र सभी क्षेत्रों में अन्धकार-ही-अंधकार है, लक्ष्य की अप्राप्ति है। अतः कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यकान्तर्गत तैत्तिरीयोपनिषद् का चरम तात्पर्य-साध्य-फल-रस-स्वरूप ब्रह्मानन्दवल्ली में होते हुए भी उससे पहले ही प्रारंभ में प्राथमिकता शिक्षावल्ली के द्वारा शिक्षा को दी गई है।

शिक्षाध्याय का प्रारंभ करते हुए दूसरे अनुवाक में 'शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः मात्रा बलम्। साम संतानः' इति शिक्षाध्यायः। यहां शिक्षा में दीर्घ ईकार छान्दस है। 'छन्दसि दृष्टानुविधिः:' दैर्घ्यं छान्दसम् इति भाष्योक्तेः। इसलिए 'शिक्षां व्याख्यास्यामः।'

शिक्षते अनया इति शिक्षा वर्णाद्युच्चारलक्षणम्। शिक्षन्त इति वा शिक्षा वर्णादयः। शिक्षैव शिक्षा। तत्र वर्णाऽकारादिः। स्वर उदात्तादिः। मात्रा ह्रस्वाद्याः। बलं प्रयन्नविशेषः। सामवर्णानां मध्यमवृत्त्योच्चारणं समता। संतानः संततिः संहिता इत्यर्थः। एष हि शिक्षितव्योऽर्थः। (शांकर० भाष्य) क्योंकि–

एवं वर्णाः प्रयोक्ताव्या नाव्यक्ता न च पीडयेत्।
सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते।।

यही वेद तथा शिक्षा, व्याकरण आदि वेदांग भी मानते हैं। यथायोग्य उच्चरित एक पद-शब्द भी कामधेनु की तरह होता है–'कामधुग् भवति'।

शिक्षा ही स्वर-व्यंजन-मात्रा से प्रारंभ होकर वर्ण, शब्द, पद, वाक्य, गद्य-पद्य-छन्द-काव्य-संज्ञा-संज्ञी, नाम-नामी, अभिधानाभिधेय-स्वरूपों से युक्त होकर अंत में ब्रह्म में पर्यवसित होकर–सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'–इस प्रकार ब्रह्म को बताकर ब्रह्म ही बना देती है। ब्रह्मैव भवति,' विमुक्तश्च विमुच्यते'। शिक्षा ही स्वस्वरूप स्थित कर देती है।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते।।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः।
प्रसुप्तपुरुषो यद्धच्छब्देनैवानुबुद्ध्यते।।
अगृहीत्वैव संबंधमभिधानाभिधेययोः।
हित्वा निद्रां प्रबुद्ध्यन्ते सुषुप्ते बोधिताः परैः।।
अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि।
तेनोत्सर्गे स्थिते तस्य दोषाभावात् प्रमाणता।।

शब्द ही ब्रह्म है। शब्द से ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है। शब्द स्वर, व्यंजन, वर्ण, मात्रादि का जोड़-तोड़ ही है। कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं जो शब्द से अनुविद्ध न हो। यह सब मूल शिक्षा का ही महत्व है। अतः वेद के छः अगों के संग्राहक श्लोक-वाक्य में भी अन्यान्य अंगसंख्या का अक्रम होते हुए भी 'शिक्षा'-अंग की प्राथमिकता सभी क्रमों में सुस्थिर एवं प्रथम है–

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छान्दसां चयः।
ज्योतिषामयनं चैव षडङ्गो वेद उच्यते।।
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गणः।
छन्दोविचितिरित्येतैः षडङ्गो वेद उच्यते।।

कोई कितना भी सुन्दर क्यों न हो, किंतु नासिका के बिना वह शोभा नहीं पाता। लोकभाषा में भी अशोभनीय को नक्कटा-कटी नाक वाला कहते हैं। शिक्षा वेदभगवान् की नासिका है और ब्रह्म की सिद्धि वेदाधीन है-'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्।' 'शास्त्रयोनित्वात्'–ब्रह्म शास्त्रयोनि है। ब्रह्मसूत्र 3 शास्त्रयोनित्वाधिकरण ही है, जहां यह सिद्ध किया गया है–

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठयते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

अग्निपुराण के 336वें अध्याय का नाम ही 'शिक्षानिरूपणाध्याय' है। वहां भी शिक्षा का प्रारंभ स्वर, व्यजंन, वर्ण और मात्रादि से ही होता है, जो इस प्रकार है–

वक्ष्ये शिक्षां त्रिषष्टिः स्युर्वर्णा वा चतुराधिकाः।
स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः।
अनुस्वारो विसर्गश्चं कंपौ चापि पराश्रितौ।।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एवं च।
रङ्ग.श्च खे अरँ प्रोक्तं हकारः पञ्चमैर्युतः।।
अंतःस्थाभिः समायुक्त औरस्यः कण्ठय् एव सः।
आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।

मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।।

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।।

अस्तु, भरत भी यहीं से शिक्षा का प्रारंभ मानते हैं–'तत्र अकारादिवर्णानां स्थलकरणप्रयत्नबोधिका अकुहविसर्जनीयाः काण्ठाः, इत्यादिका शिक्षा इति भरतः।'

शास्त्रज्ञों में किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर साधक को साध्य तक सही-सही, ठीक-ठीक रूप से पहुंचाने के लिये, साध्य लक्ष्य की प्राप्ति कराने के लिये ही साध्य की अपेक्षा साधन का महत्व अधिकाधिक कहा जाता है। कहीं-कहीं निन्दा तो नहीं, किंतु निन्दाभस-जैसा भी लगता है। परंतु ऐसी जगह-'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुम् अपितु विधेयं स्तोतुं प्रवर्तते'–निन्दा में तात्पर्य नहीं, अपितु विधित्सित विधेय की प्रशंसा में तात्पर्य है। अन्यथा-'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया', तथा 'तपसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व',दक्षिणावन्तोऽमृतं भजन्ते', 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' आदि वाक्यों में विरोध आयेगा? किंतु विरोध है नहीं। इस तरह की सभी जगहों में विधेय की स्तुति में ही तात्पर्य है।

'मानाधीना मेयसिद्धिः', 'प्रयत्नाधीना कार्यसिद्धिः,

'साधनाधीना साध्यसिद्धिः', 'सेवाधीना सेव्यसिद्धिः'

इन सब न्यायों से साधन का विशेष महत्व होना ही चाहिए; क्योंकि विनिछद्र साधन से ही अभिष्ट साध्य लक्ष्य की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। भले ही शुद्धाद्वैतियों के यहां प्रमेय बल में, स्वरूप सामर्थ्य में श्रीप्रभु ही साधन हों 'साधन सिद्धि राम पग नेहू', किंतु साधन की महत्ता तो है ही। साधन तो है ही, भले ही वह पुष्टि मार्ग में भी भगवदनुग्रह ही हो। चीरहरण लीला में सछिद्र साधन हो रहा था; क्योंकि 'न विवसनः स्त्रयात्'–विगतवस्त्र होकर स्नान न करे–यह श्रौतविधि है। इसका उल्लंघन हो रहा था। श्रीकृष्ण-प्रेम-द्रवस्वरूपा श्रीयमुनाजी में नग्न-स्नान हो रहा था, जो साध्य लक्ष्य-फल-प्राप्ति में बाधक था, छिद्र था। स्वयं श्रीप्रभु ने आकर उसे पूर्ण किया तथा विश्व के सर्वोत्कृष्ट लोकसंग्रही प्रभु श्रीकृष्ण ने इस लीला के माध्यम से अनेक प्रकार की लोक-शिक्षा देते हुए नग्न-स्नान न करने की भी शिक्षा दी।

साधन के विशेष महत्व की दृष्टि से ही ये सब शास्त्र एवं महापुरुषों की उक्तियां हैं–

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं भजनहेतवे।

तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सा तु मुक्तिशताधिका।।

ब्रह्मानन्दो भवेदेष द्विपरार्धगुणीकृतः।

नैव भक्तिसुधाम्भोधेः परमाणुतुलामपि।।

श्री कपिल जी भी कह रहे हैं–

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।

जरयुत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा।।

(श्री मद्भा॰ 3 । 25 । 33)

प्रातःस्मरणीय श्रीगोस्वामीजी ने भी मानस में इसी दृष्टि से कहा है। 'अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने।।' क्योंकि आगे चलकर वे ही कह रहे हैं–'राम भजत सोई मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं।।

यह भी परम उत्कृष्ट शिक्षा ही है कि निश्छिद्र साधन में दृढ़ता से लग जाओ, फलादि-प्राप्ति की चिंता न करो, उधर मत देखो। भजन-साधन में ठीक-ठीक लगे रहने से भजनीय साध्य तो अवश्य ही प्राप्त हो जायेगा।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' शिक्षा ही तो है। 'अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते' (श्रीमद्भागवत 3।25।36)। इसीलिए श्रीव्रजेश्वरी नन्दरानी यशोदाम्बा अपने अंग में विराजमान वात्सल्य-स्नेह-परिपूरित ह्रदयस्तन से झरते हुए स्तन्यपानरत मुक्त-मुनीन्द्र-योगीन्द्र-देवेन्द्रादि-ब्रह्म-शिव-शुक-सनकादि-परिसेवित सर्वफल सर्वसेव्य सर्व-साध्य बालमुकुन्द भगवान् श्रीकृष्ण को गोद से नीचे उतारकर नन्दभवन के प्रांगण में रोते हुए छोड़कर सामने अंगीठी पर औटते हुए साधनोपकरण एवं सेवोपकरण रूप पद्मगन्धा गौओं के दूध को उफनता देखकर उसे बचाने के लिए दौड़ पड़ीं–

तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं
स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम्।
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा यया-
वुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते।।
(श्रीमद्भा॰ 10।9।5)

तब प्रभु ने कहा–'अम्ब! क्या पूत से दूध प्यारा है?' अम्बा ने स्नेहपूर्वक कहा–'वत्स! पूत के लिये दूध प्यारा है न कि दूध के लिये दूध प्यारा है। सेव्य के लिये ही सेवा एवं सेवा के उपकरण प्यारे हैं। साध्य के लिये ही साधन एवं साधन के उपकरण प्यारे हैं। चूंकि वे स्वयं जानती हैं कि सेवा न हो तो सेव्य कहां? और सेवोपकरण के बिना सेवा कहां? और साधनोपकरण न हो तो साधन कहां? अतः कहीं-कहीं साधन को ही महत्व की दृष्टि से साध्य कह दिया है। करण को ही साध्यस्वरूप बतला दिया है; क्योंकि वह उसका प्रापक है–'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' (गीता 4।24)। इसकी व्याख्या में भगवान भाष्यकार ने लिखा है–'अर्प्यते अनेन इति अर्पणं स्रुक्स्रुवादिकरणं येन करणेन ब्रह्मविद् हविः अग्नौ अर्पयति तद्ब्रह्मैवेति।' (शांकर भाष्य)। इस दृष्टि से शिक्षा भी सभी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अत्यधिक अन्तरंग एवं महत्वपूर्ण साध्य कही जा सकती है। संसार की सभी भोग्य वस्तुएं परिमार्जित, सुसंस्कृत, शुद्ध होने के बाद ही उपभोग योग्य होकर काम में आती हैं। अन्न-जल-वस्त्रादि,, स्वर्ण-रजतादि धातुएँ, हीरा-मोती-रत्न-मणि-रस-रसायनदि सभी शुद्ध करके ही भोग के योग्य होते हैं, जैसे-तैसे नहीं। खनिज पदार्थ जैसे खानों में से निकलते हैं वैसे ही काम में नहीं आते । बड़ी-बड़ी रिफाइनरियां-गोल्ड-रिफाइनरी, सिल्वर-रिफाइनरी, आएल-रिफाइनरी, काटन-रिफाइनरी, जीन-प्रेस, स्टील-रिफाइनरी आदि किसलिए हैं? ये इन सब वस्तुओं को सुसंस्कृत-परिमार्जित करके काम में आने के योग्य बनाने के लिए ही तो हैं, अन्यथा इनकी क्या आवश्यकता है?

जब जड़ पदार्थ भी संस्कार के शोधन-परिमार्जन के बिना उपभोगयोग्य नहीं होते तो फिर चेतन मनुष्य के संस्कार की शोधन-परिमार्जन की क्या आवश्यकता है, सुज्ञ विचारक राष्ट्रहितैषी इस बात पर गंभीरता से विचार करेंगे।

शिक्षा के द्वारा मनुष्य सुसंस्कृत होता है, योग्य होता है, उपभोग के योग्य होता है। कोई भी राष्ट्र, समाज, सभ्यता, संस्कृति, कुल, परिवार-पड़ोस, टोला-मुहल्ला, व्यष्टि-समष्टि शिक्षित व्यक्ति का उपभोग करके समुन्नत, प्रफुल्लित, आह्लादित होकर सभी क्षेत्रों में सही-सही ढंग से आगे बढ़ता है तथा निर्भय, निरातंक, निष्कण्टक, निःशंक रहता है। इसीलिए किसी अच्छे विचारक ने विचारपूर्वक कहा है–'बच्चे पैदा होते हैं, किंतु पुत्र उत्पन्न किये जाते हैं। मूर्ख अशिक्षित तो होते हैं। वस्त्र मैला किया नहीं जाता, मैला तो हो जाता है किंतु स्वच्छ होता नहीं, स्वच्छ तो किया जाता है। सभी अच्छी वस्तु प्रयत्नसापेक्ष हैं, त्याग-तप-तितिक्षा साध्य हैं।

तीन सजावत देश को संती संत व शूर।

तीन लजावत देश को कपटी कायर क्रूर।।

संती, संत और शूर तैयार किये जाते हैं, किंतु कपटी, कायर, क्रूर तो स्वयं होते हैं। सही शिक्षा से ही संती, संत और शूर होते हैं। शिक्षा ही इनकी जननी है। शिक्षा-जननी के जने हुए जन सुपूतों की देश के प्रत्येक क्षेत्र में भारी आवश्यकता है।

इस भौतिक विज्ञानपूर्ण साइन्स एवं टैक्नोलॉजी युग में सभी वस्तुओं की रिफाइनरियों का आविष्कार हो रहा है, किंतु मनुष्य की रिफाइनरी का आविष्कार कहीं दिखाई नहीं दे रहा है। यदि हो जाता तो फिर क्या था? सारी समस्याएं हल हो जातीं, किंतु शास्त्रकारों ने जहां सभी वस्तुओं के संस्कार का विधि-विधान किया है, वहां मनुष्य का संस्कार करने पर पूरा जोर दिया है तथा उसका भी विधि-विधान तौर-तरीका बतलाया है, जो संस्कार-नाम से प्रख्यात हैं। कोई भी वस्तु दोषमार्जन-अतिशयाधान-हीनांक-पूर्ति के बिना काम में नहीं आती। संस्कारों का काम यही है—वस्तुमात्र से दोष को निकाल देना, अतिशयता ला देना और हीनता की पूर्ति करना। मनुष्य में भी इनकी आवश्यकता है।

सोना खान से जैसा निकलता है, वैसा उपभोग योग्य नहीं होता। पहले उसे स्वच्छ करना पड़ता है, फिर उसमें अतिशयता-आभूषणपना लाना पड़ता है, फिर उसकी हीनांकपूर्ति करनी पड़ती है। उसमें नग जड़े होते हैं, मीना होता है, डामिस छिलती है, तब कहीं वह पहनने योग्य होता है। इसी तरह रूई को लीजिए। रूई खेत में जैसी होती है, वैसी ही काम में नहीं आती। पहले उसे दोषमार्जन के लिये ले जाना पड़ता है। बिनौला बीनकर फिर उस रूई में अतिशयाधान होता है। पुनः तंतु बनाकर उसे आड़ा-लंबा-तिरछा बुनकर कपड़ा बनाना पड़ता है, फिर उसकी हीनाङ्गपूर्ति की जाती है। अतः सहज ही बुद्धि में आता है कि मनुष्य को भी यदि राष्ट्र-समाज-वंश-पड़ोस के उपभोग के योग्य सही मानव बनाना है तो अवश्य ही मनुष्य के संस्कार की नितांत अत्यधिक आवश्यकता है तथा उसका महत्व जड़ वस्तुओं के संस्कार की अपेक्षा अधिकाधिक है। वह संस्कार है शिक्षा का। शिक्षित मनुष्य ही सुसंस्कृत, परिमार्जित होकर सभी क्षेत्रों में सभी के लिये पोषक बनता है शोषक नहीं, पालक-साधक ही होता है, घातक-बाधक नहीं।

विशेष सामान्य कारण होता है। जिस प्रकार मिट्टी-सामान्य में मिट्टी-विशेष—घट, पुरवा, परई, दीया आदि, जल-सामान्य में जल-विशेष-बुलबुले, फेन, तरंग, बर्फ, हिम आदि, स्वर्ण-सामान्य में स्वर्ण-विशेष— कुण्डल, कंकण, करधनी, हार, मुकुट आदि, पट-सामान्य में पट-विशेष—कोट, कमीज, कुर्ता, बनियान आदि, ज्ञान-सामान्य में ज्ञान-विशेष—घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान, चर-ज्ञान, लौकिक ज्ञान, पारलौकिक ज्ञान आदि, भक्ति-सामान्य में भक्ति-विशेष—मातृभक्ति, भगवद्भक्ति, राष्ट्र-भक्ति आदि होते हैं, ठीक इसी प्रकार शिक्षा-सामान्य में भी शिक्षा-विशेष—धर्मशिक्षा, समाजशिक्षा, व्यवहारशिक्षा, परमार्थशिक्षा, कलाशिक्षा, पातिव्रतशिक्षा, गृहशिक्षा, नारीशिक्षा, युद्ध-शिक्षा, शिल्पशिक्षा आदि अनेकानेक शिक्षाओं का समावेश होता है, जिनका सविस्तार वर्णन शास्त्रों में देखा और जाना जा सकता है। रामायण, भागवतगीता, महाभारत, उपनिषदादि सद्ग्रंथों से सभी को अपने-अपने व्यावहारिक, लौकिक क्षेत्र की, पारलौकिक क्षेत्र की, यथायोग्य शिक्षा प्राप्त होकर अंत में परमलक्ष्य-पद की भी प्राप्ति होती है, हुई है।

श्रीप्रभु ने गीता में अर्जुन को प्रतिनिधि बनाकर जीवमात्र- कल्याणकारी अनेकानेक सर्वतोमुखी शिक्षाएं यत्र-तत्र देते हुए एक श्लोक में सभी के लिये सभी के काम की, सभी के कल्याण की शिक्षा दी है—

युक्ताहारिविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वन्पावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

इस शिक्षा को जीवन में उतारकर कौन-सा ऐसा प्राणी है, जो अशेष-निःशेष दुःखों से–त्रिविध तापों से सदा-सर्वदा के लिये छुटकारा न पा सके? और नर से नारायण, जीव से शिव न बन सके?

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

इस शिक्षा से कहीं किसी भी प्रकार का अंतर-बाहर संघर्ष रह सकता है? विश्व की कौन-सी ऐसी समस्या है जो इस शिक्षा से नहीं सुलझ सकती?

सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति तज्जालानिति शांत उपासीत।

इस शिक्षा-रत्न को जानने पर विक्षेप के लिये कहीं भी स्थान नहीं रह जाता।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।
(कठ॰ 1 2 24)

यदि उपर्युक्त शिक्षा को शिक्षक स्वयं जीवन में उतारकर शिक्षार्थियों को इससे शिक्षित करके व्यवहार-जगत् में भेजें, राष्ट्र की सेवा में समर्पित करें तो छीना-झपटी, लूट-खसोट, खींचा-तानी, मार-पीटका अवसर ही न आये।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमान सो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।

इस शिक्षा को पाकर, पीकर, पचाकर कौन प्राणी है जो स्वयं कृतकृत्य न हो जाए? परमपद को प्राप्त न कर ले? तथा दूसरों के लिए आदर्श, मार्गदर्शक, लोकसंग्रही न बन जाए?

यथा सुनिपुणो दिव्यः परदोषेक्षणे रतः।
तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनात्।।
पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।

इस शिक्षा से कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो दोषरहित होकर उन अनन्त कल्याणगुणनिलय प्रभु का प्रिय न हो जाए?

द्वारं द्वारमटन् भिक्षुः शिक्षत्येष न याचते।
अदत्त्वा मादृशो मा भूर्दत्त्वा त्वं त्वादृशो भव।।

द्वार-द्वार भीख मांगता हुआ भिखारी भीख नहीं मांगता, अपितु जीवनोपयोगी लाभकारी शिक्षारूपी रत्न को देता है। वह कहता है कि 'न देकर तुम मेरी स्थिति में न आ जाना, देकर तुम अपनी स्थिति में ही रहना।' इस शिक्षा से किस भिखारी के प्रति भिखारी की भावना होकर घृणा होगी? और कौन दातापन का अभिमान करके गर्वोन्नत होगा?

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते।।

इस शिक्षा को जीवन में उतारकर कौन गृहस्थ है जो विरक्त की उत्कृष्ट गति को प्राप्त नहीं कर सकता?

अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम्।

असंत्यज्य सतां वर्त्म यत् स्वल्पं तद् वै बहु।।

न वृद्धिर्बहुमन्तव्या या वृद्धिः क्षममावहेत्।

क्षयोऽपि बहुमन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत्।।

बुद्धिमान् दूरदर्शी परिणामदर्शी विवेकी क्षुधापीड़ित होकर भी तात्कालिक क्षुधानिवृत्ति कारक होते हुए भी विषमिश्रित खीर को खाकर मरना नहीं चाहता, अपितु और कुछ देकर भूखा रहकर संजीवक रूखा-सूखा अन्न खाकर जीना ही चाहता है: क्योंकि वह परिणामदर्शी है। इन शिक्षाओं को हृदयङ्ग करने से वैध अल्प आय में भी अल्प एवं असंतोष की बुद्धि नहीं बनती, अपितु तृप्ति, शांति, संतोष की अनुभूति ही होती है।

अपकारिणि कोपश्चेत् कोपे कोपः कथं न ते।

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि।।

यह शिक्षा प्रत्येक वस्तु का सद्विनियोग करना कितने अच्छे ढंग से सिखाती है। इसमें क्रोध-जैसी निन्द्य एवं अस्पृश्य वस्तु का भी कितना अच्छा सद्विनियोग है। अरे सुज्ञ प्राणी! अन्य अपकारादि करने वालों के बदले क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं कर डालता? क्योंकि यह क्रोध तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-सभी का विघातक है।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।।

'य पश्यति स पश्यति'

यह शिक्षा यदि सभी शिक्षाओं में 'सूत्रे मणिगणा इव' ओतप्रोत कर दी जाए तो सभी शिक्षाएं चाहे वे व्यावहारिक हों या पारमार्थिक सार्थक हो जाएं।

यः काकिणीमप्यपथप्रपन्नां

समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्।

कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त-

स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मी।।

रुपया तो बहुत बड़ी बात है। जो एक कौड़ी को भी गलत रास्ते में जाने से बचाकर उसका दुरुपयोग नहीं होने देता, किंतु यथासमय देश-काल-पात्र में, पारमार्थिक संस्थाओं में, सत्कार्यों में, आवश्यक सेवा कार्यों में, परोपकार में करोड़ों रुपया मुक्तहस्त से दे देता है-उस राजसिंह का लक्ष्मी त्याग नहीं करती।

पात्रापात्रविवेकोऽस्ति धेनुपन्नगयोर्यथा।

तृणातृ संजायते क्षीरःक्षीरात् संजायते विषः।।

गौ की सत्पात्रता यह है कि उसके मुंह में घास आदि जो हमारे काम की नहीं है, डाल देने से वह अमृत बनकर मिलता है तथा सर्प की अपात्रता यह है कि उसके मुंह में अमृत-सा दूध भी डाल दिया जाए तो वह विष बनकर सामने आता है।

ये शास्त्रीय शिक्षाएं यदि दिल-दिमाग में बैठ जायं, पाठ्यक्रम में रखी जाए तो कौन कब कहां धन का दुरुपयोग कर सकता है? विवेकियों का कथन इतना तथ्यपूर्ण है कि धन कमाने की अपेक्षा उसका यथायोग्य उपयोग करना और भी कठिन है।

कार्यालयों में तथा यत्र-तत्र-सर्वत्र मार्गों पर, स्टेशनों पर, अनुशासन में निबद्ध रहकर राष्ट्र-सेवा, जन-सेवा यथायोग्य, यथासमय करने-कराने के प्रेरक लेख-पट्टिाकाओं की भरमार 'जल्दी काम निबटाइये', 'परिश्रम के सिवा कोई चारा नहीं है', 'संरक्षा, सुरक्षा, समय-पालन ही हमारा लक्ष्य है', 'घातक जल्दी से देर भली', 'शिकायत की किताब यहां है' आदि तथा ध्वनि-विस्तारक लाउडस्पीकर आदि यंत्रों के द्वारा उद्घोषणा, बार-बार चेतावनियां तथापि काम-काज का यथासमय, यथायोग्य जनहित में, लोक-राष्ट्रहित में, देशहित में न होना, न करना-कराना—ये सब अनुशासनहीनतापूर्वक या अनुशासन की अवहेलनापूर्वक शिक्षा के अभाव के सबल प्रमाण हैं। यदि यह सब शिक्षा का ही फल है तो अशिक्षा का फल क्या है? वह क्या होता है? उसका क्या स्वरूप है? यह महत्वपूर्ण विचार सामने आता है।

कहीं-कहीं कार्य के फल को देखकर कारण, साधन और उसके दोष-गुण की तथा सछिद्र-निश्छिद्र की कल्पना एवं अनुमान करना पड़ता है। शास्त्रों में इसी को 'फलवत्कल्प्य सिद्धांत' कहते हैं। यद्यपि पुत्र वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय में पढ़ता है, उसका पिता देशान्तर में है। वह नहीं देख रहा है कि पुत्र पढ़ रहा है या नहीं, किंतु परीक्षा में उत्तीर्णरूपी कार्यफल को देखकर अनुमान करता है कि पुत्र ने विद्याध्ययन में श्रम किया है। यदि पुत्र परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है तो पुत्र के चाहे जितने विद्याध्ययन-श्रम के प्रमाण देने पर भी पिता यही कहता है कि फल-कार्य तो सामने आया नहीं। यदि तुम ठीक-ठाक पढ़े होते, श्रम किये होते तो उत्तीर्ण होते। अनुत्तीर्णतारूपी कार्य-फल को देखकर अनुमान होता है कि तुमने विद्याध्ययन में श्रम नहीं किया, अन्यथा फल आना ही चाहिए। विज्ञान का एवं शिक्षा का फल यह नहीं है, जो ध्वंसात्मक देखने को, अनुभव करने को मिल रहा है। अतः कुछ सुविचारक विश्वहितैषी सर्वभूतहिरत सुजन इस बात का अवश्य ही विचार करें-कराएं कि यह विज्ञान-शिक्षा क्या है? इसका क्या फल है? यह कहां ले जा रही है? तथा इसकी इति किसमें होगी?

यदि तैत्तिरीयोपनिषद् की शीक्षावल्ली के दसवें अनुवाक में शिक्षक की शिक्षित को घर जाते समय राष्ट्र-समाज-कार्य में सहयोग देने का समय आने पर जो अनुशासनात्मक दीक्षांत-सुशिक्षा है उसका कथन, श्रवण, अनुमोदन, आचरण किया जाए तो व्यष्टि-समष्टि की, देश, समाज, राष्ट्र की कोई समस्या ही शेष नहीं रहती, जो सदा मुंह बांये सामने खड़ी ही रहे एवं हल न हो-

'सत्यं वद। धर्मं चर। सत्यान्न प्रमदितव्यम्।
धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्।
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव।
श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्।
एष आदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतद्नुसासनम्।'

कुछ सज्जनों का कहना है कि धर्म मेल-मिलाप में बाधक है, किंतु प्रत्यक्ष प्रमाण है, सत्यप्रत्यक्षानुभूति है और सार्वजनीन है कि विश्व में नेपाल धर्मपरायण एवं धर्मसापेक्ष राष्ट्र है। वह स्वयं इसे मुक्तकण्ठ से स्वीकार भी करता है। वहां सभी संप्रदाय के लोग प्रेमपूर्वक रहते हैं, किंतु कभी सांप्रदायिक दंगे या धर्मसंबंधी समस्या को लेकर खून-खराबा देखने-सुनने में नहीं आता। सभी स्नेह से रहते हैं। मेल-मिलाप में, स्नेह में धर्म बाधक नहीं, अपितु व्यक्तिगत स्वार्थ बाधक है। उसी में छीना-झपटी, लूट-खसोट, दंगा-फसाद होता है। 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुमतो निन्दां प्रकुर्वते।' संपूर्ण विश्व के अभिन्नमित्तोपादानकारण सर्वात्मा भगवान् के निःश्वातभूत अपौरुषेय वेदादि सच्छास्त्रीय धर्मयुक्त शिक्षा से या कुशिक्षा एवं अशिक्षा से नहीं। अतः शिक्षा में सुधार की परमावश्यकता है। यही सभी अनुभव कर रहे हैं और कह भी रहे हैं। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः।'

शिक्षा में श्रीकृष्ण चरित्र की भूमिका

डॉ॰ इन्दु कुमारी

जिनके चरण-कमलों की सदा सेवा करने वाले मनुष्य को सफलता शीघ्र ही स्वीकार कर लेती है, उन वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण को हृदय में धारण करता हुआ मैं उनके चरित्ररूपी अमृत की तरगों से अपनी वाणी को पवित्र करता हूं।

उद्यानों के पुष्प, आकाश के नक्षत्र, पर्वतों के वृक्ष, मेघों के बिंदु, पृथ्वी के परमाणु, समुद्र की तरगों, सज्जनों के गुण संभव है गिने जा सकें, किंतु सर्वाधार, सर्वेश्वर, महामहिम, प्रत्यक्ष परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण के अपरिमित, परम पवित्र, पापनाशकारी, सज्जनहृदयविहारी गुणों की गणना अनेक कल्पों में भी संभव नहीं है। अत: उनके अपार गुणरत्नाकर से कुछ रत्न उद्धृत करके पाठकों के मनोविनोदार्थ सादर समर्पण करने की चेष्टा की जा रही है। इस संसार में जितने भी जीवधारी दृष्टिगोचर होते हैं, उन सबके मन में यही इच्छा रहती है कि हम सुखी रहें, कोई दु:ख हमें न सताये, किंतु उनमें अधिकतर सच्चे सुख की प्राप्ति के उपाय को न जानने के कारण इधर-उधर भटकते हुए स्वप्न में भी सुख के दर्शन किये बिना ही इस असार संसार को छोड़ जाते हैं और अपने किये हुए कर्मों के अनुसार बारंबार जन्म-मरण की दारुण यातनाओं को भोगने के लिये चौरासी लाख योनियों में चक्कर काटा करते हैं।

ऐसी दशा में दयालु पुरुषों ने निरंतर ध्यानावस्थित होकर सच्चे सुख का अत्यंत सरल, परम, सर्वोपयोगी, निष्कण्टक एक ही मार्ग ढूंढ निकाला है, जिस पर चलकर बालक-बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष-नपुंसक, बलवान्, निर्बल, रोगी-नीरोगी, धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख, राजा-रंक, शिक्षित-अशिक्षित, ग्रामीण-नागरिक, पापात्मा-धर्मात्मा, बुद्धिमान-निबुद्धि, एकाकी या कुटुम्बी, गृहस्थ या संन्यासी आदि में से कोई भी क्यों न हो वह अपार, अद्भुत, अखण्ड परम सुख का अधिकारी हो जाता है। उस सच्चे सुख का मार्ग है भगवान् श्रीकृष्ण की निष्काम भक्ति, जिसके आश्रय से सामान्य जीव भी चराचर का पूज्य और प्रात:स्मरणीय हो जाता है। स्वयं तो वह सांसारिक बंधनों से मुक्त होता ही है, किंतु अन्यों को भी मुक्त करने की सामर्थ्य रखता है। वास्तव में देखा जाए तो जीव को ईश्वर-भक्ति की वैसी ही आवश्यकता है, जैसी कि मछली को जल की; क्योंकि जिस प्रकार जल से अलग होकर मछली एक क्षण भी सानन्द नहीं रह सकती, उसी प्रकार भगवान् से अलग होकर जीव भी कुछ भी सुख नहीं प्राप्त कर सकता; क्योंकि परमात्मा अखण्ड अग्नि-भण्डार के समान हैं और जीव उनकी एक चिंनगारी के समान है। जब तक चिंनगारी अग्नि-भण्डार में रहती है, तब तक उसमें वह सब शक्ति रहती है, जो अग्नि में है; किंतु ज्यों ही वह अग्नि-भण्डार से पृथक हुई कि उसकी सारी शक्ति प्रबल वायु के झोंकों में आकर लुप्त हो जाती है और उसका अस्तित्व मिट-सा जाता है।

इसी प्रकार जीव जब तक प्रगाढ़ भक्ति के द्वारा ईश्वर में मिला रहता है, तब तक वह संपूर्ण ईश्वरीय गुणों से परिपूर्ण रहता है, किंतु जहां वह उससे अलग हुआ अर्थात् उसने भगवद्भक्ति का त्याग किया, वहीं वह अविद्यारूपी वायु के झोंकों में पड़ जाने के कारण अपनी समस्त शक्ति को खोकर अस्तित्व को भी भूल-सा जाता है। ऐसी दशा में उसे जितनी ही दारुण यातनाएं भोगनी पड़ें उतनी ही कम हैं। इससे सिद्ध हुआ कि कल्याणकामी पुरुष के लिए भगवद्भक्ति अमोघ रत्न है। अत: प्रत्येक स्थिर-बुद्धि, भले-बुरे का विचार रखने वाले मनुष्य को उसका अवलंबन अवश्य करना चाहिए। अब यह सोचने की आवश्यकता है कि भगवद्भक्ति करने वाले मनुष्य का क्या कर्तव्य है।

संसार में देखा जाता है कि यदि कोई मनुष्य किसी व्यक्ति की भक्ति करना चाहता है तो वह निरंतर उसका गुणगान करता हुआ सर्वदा उसके रूप को हृदयस्थ रखता है। जिन कामों के करने में उसे घृणा है, उन्हें वह स्वप्न में भी नहीं करता और

जिन कामों में उसकी रुचि है, उन्हें प्राणपण से भी करने की चेष्टा करता है। ऐसी दशा में वह जिसकी भक्ति करता है, वह उस पर अनुकूल हुए बिना नहीं रह सकता, इसी प्रकार सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्ण के भक्तों को यह जानने की आवश्यकता है कि हमारे प्रभु को कौन-से कार्य प्रिय और कौन-से अप्रिय हैं। तदनन्तर उनके प्रिय काम करने और अप्रिय त्यागने चाहिए, फिर लगातार उनकी मधुर मूर्ति का ध्यान करते हुए निरंतर नामस्मरणपूर्वक उनकी भक्ति-लता को अपनी श्रद्धारूपी सुधा की पवित्र धारा से सदैव सींचते रहना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण को कौन-से काम प्रिय और कौन-से अप्रिय हैं, इसका निश्चय करने में किसी कठिनता का सामना नहीं करना पड़ता; क्योंकि सर्वात्मा, सर्वाधार, जगन्नियन्ता, दयाधाम, पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में अपने अवतार लेने के प्रयोजन की घोषणा इस प्रकार की है–

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

'सज्जनों की रक्षा के लिए और दुष्टों का नाश करने के लिए तथा धर्म की रक्षा के लिए मैं प्रत्येक युग में शरीर धारण करता हूं।' इससे स्पष्ट है कि शिष्टों पर अनुग्रह, दुष्टों का निग्रह और धर्म की रक्षा भगवान् का प्रिय कार्य है। अत: सच्चे भगवद्भक्तों को सर्वदा सचेष्ट होकर उपर्युक्त कार्यों को परिपूर्ण करने में यथाशक्ति कोई बात उठा नहीं रखनी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से उन भगवद्भक्ति-पथ के पथिकों पर प्रभु की कृपा अवश्य होगी। यदि अपने को भगवद्भक्त कहने वाला व्यक्ति उपर्युक्त तीन कर्तव्यों के पालन से विमुख है तो वह भगवद्भक्त नहीं कहला सकता; क्योंकि जो सच्चा प्रेमी है वह प्राणों की भी परवाह न करके उसी काम को करता है जो उसके प्रेमास्पद के अनुकूल होता है। जो ऐसा नहीं कर सकता उसे प्रेमी कहलाने का कोई अधिकार नहीं है; क्योंकि प्रेमी का तन, मन, धन सब कुछ प्रेमास्पद के चरणों पर न्योछावर करने के लिए ही होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि संपूर्ण कल्याणों के मूल भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति किस प्रकार प्राप्त होती है? इसका उत्तर वैष्णव-शास्त्रों के अनुसार यही है कि राग-द्वेष से रहित, आत्माराम, यथालाभसंतुष्ट, निरभिमान, जितेन्द्रिय, दु:ख-सुख को समान समझने वाले, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर से रहित, सर्वत्र सर्वदा उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते, यहां तक कि प्रत्येक कार्य के करते समय भुवनमोहन, अशरण-शरण सर्वलोकपालपूजितपाद्म, भगवान् श्रीकृष्ण का चिंतन करने वाले और सर्वदा उनके गुणानुवाद को अपने चित्त की शांति का साधन समझने वाले पुरुषों की सेवा से उस भगवद्भक्ति अनर्घ्यमणि की प्राप्ति होती है, जिसके प्रकाश और प्रभाव से अज्ञान-तिमिर और सांसारिक समस्त बंधन वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्योदय होते ही अंधकार।

भगवान् श्रीकृष्ण का चरित्र भागीरथी के समान पवित्र, कपूर के समान शुभ्र, भौक्तिक के समान उज्जवल, चन्दन के समान शीतल, चन्द्रमा के समान मनोहर, भगवान् शंकर के समान कल्याण-मूल, सरस्वती जी के समान अखिल ज्ञानदायक, समुद्र के समान अपार और अगाध, पर्वत-शिखर के समान दुरारोह, अखिल लोक-लोचन भगवान् भास्कर के समान अंधकार-नाशक है। इसके श्रवण, मनन, आचरण और प्रचार से ऐसा कौन-सा कार्य जो न हो सके और ऐसी कौन-सी वस्तु है जो न मिल सके, किंतु बुद्धि की मन्दता के कारण बहुत-से मन्दभाग्य बिना पूर्व पर सोचे भगवान् के चरित्र के ऊपर इस प्रकार आक्षेप करते हैं कि भगवान् ने व्रजभूमि में रहते हुए दूध-दही, मक्खन-मिश्री आदि खाद्य पदार्थों की चोरी व्रजाङ्गनाओं से विहार, गोपी-चीरहरण, वृषभ का वध, स्त्री होने पर भी पूतना का वध आदि अनेक ऐसे कार्य किये हैं, जिनके कारण उन्हें ईश्वर समझना तो दूर, भला आदमी समझने में भी बाधा है। इसका उत्तर यह है कि जिन ग्रंथों में उपर्युक्त चरित्रों का वर्णन है, वे सभी ग्रंथ भगवान् श्रीकृष्ण को जगत्रियन्ता, जगदाधार, प्रत्यक्ष परब्रह्म मानते हैं। ऐसी दशा में उनके चरित्रों का यथार्थ रहस्य वे ही जान सकते हैं।

वस्तुत: भगवान् श्रीकृष्ण के आज्ञानुसार चलकर अपने जीवन को सुखमय बनाना एवं उनकी भक्ति के द्वारा मुक्ति को भी हस्तगत करना चाहिए, किंतु ध्यान रहे कि भगवद्भक्तों को श्रीकृष्ण के उन्हीं चरित्रों के अनुसरण करने की आज्ञा है जो उनके उपदेश के अनुसार हैं। शास्त्रों में कहा भी है–

ईश्वराणां वच: सत्यं क्वचिदाचरितं तथा।

यत्तेषां स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत्तदाचरेत्।।

'ईश्वरों का वचन ही कल्याणकारक है, कहीं-कहीं उनके आचरण का अनुशरण भी लाभदायक है। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि ईश्वरों का जो आचरण उनके उपदेश के अनुसार है उसी का अनुसरण करे, अन्य का नहीं।'

ऐसी दशा में किसी शंका-समाधान की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहीं पर भी परद्रव्यापहरण, परस्त्री-गमन, दासी-रति, वृषभ-मारण, नारी-हत्या आदि की आज्ञा नहीं दी है; प्रत्युत इनके विरुद्ध ही घोर प्रयत्न किया है। इतना सब उन आस्तिक पुरुषों के लिये लिखा गया है जो भगवान् श्रीकृष्ण को ईश्वर तो मानते हैं, किंतु उनके उपर्युक्त आचरणों का संतोषजनक समाधान न जानने के कारण अव्यवस्थित-बुद्धि रहा करते हैं। यदि आपलोग सात वर्ष के बालक का सात दिन-रात तक पर्वत को ऊंगली पर उठाये रखना, सौ फन वाले सांप के सिर पर बालक का नाचना, सोलह हजार स्त्रियों के पास एक ही समय एक पुरुष का निवास करना, अपनी सामर्थ्य से सूर्य को छिपाकर ठीक समय पर पुनः प्रकट कर देना, एक शाक का पत्ता खाकर दस हजार मनुष्यों को तृप्त कर देना आदि कार्य असंभव मानते हैं तो उपर्युक्त चरित्रों को भी असंभव क्यों नहीं मान लेते? क्योंकि असंख्य गायों के अधिपति नन्द का पुत्र घी, दूध आदि की चोरी नहीं कर सकता, ग्यारह-बारह वर्ष का बालक संभोग का नाम भी नहीं जान सकता, बैल का सींग पकड़कर मारना तो दूर रहा, किंतु नन्हा-सा बालक लाठी लेकर उसके सामने जा भी नहीं सकता, महीने भर का बालक दूध पीते-पीते किसी स्त्री का प्राण-हरण नहीं कर सकता और ऐसा कहकर क्यों नहीं इन चरित्रों को भी बना हुआ ही समझ लेते हैं। इन परम गंभीर, दुर्विज्ञेय, परम पावन चरित्रों के अतिरिक्त सारा श्रीकृष्ण-चरित्र परम सरल, सबके अनुकरण करने योग्य और सर्वाभीष्टदायक है। मेरी समझ में तो संसार भर में कोई भी ऐसा महापुरुष नहीं हुआ, जिसका चरित्र भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र से टकराता हो।

अब श्रीकृष्ण-चरित्र से मिलने वाली कुछ शिक्षाओं का उल्लेख किया जा रहा है–

1. भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज ने मक्खन, मिश्री, दूध, दही आदि सात्विक आहार को स्वीकार करके हम लोगों को दिखला दिया है, कि इस प्रकार के आहार से प्रेम करने वाला मनुष्य 'गीता'-जैसे लोकोपकारी लोकोत्तर ग्रंथरत्न की रचना कर सकता है।
2. चराचर के अधीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज ने स्वयं तन, मन, धन से गौओं की सेवा करके सिद्ध कर दिया है कि गौओं की शुद्ध अंतःकरण से सेवा करने वाला मनुष्य सदा सुखी, हृष्ट-पुष्ट, नीरोग, निःशोक, यशस्वी और सर्वप्रिय होता है।
3. वृंदावन बिहारी, यमुनाकुलचारी, पीतांबर धारी, भक्तभयहारी, दयाधाम भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज ने कन्दुक-क्रीड़ा के मिस से 'कालिय'-नामधारी महाभयकारी दारुण विषधर का मद चूर्ण करके शिक्षा दी है कि अपने देशवासियों को हितार्थ प्राणों की भी ममता छोड़कर उद्योग करना चाहिए।
4. दुराचारी कंस की सेवा में रहकर भी सदाचार की रक्षा करने वाली 'कुब्जा' के दिये हुए अनुलेपन से प्रसन्न होकर, गोवर्धनधारी, मार-मदहारी, मुनिमानसचारी, प्रणतवत्सल, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, दीनबंधु भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी महाराज ने उसकी सुंदरता को न्यून बनाने वाले उसके कूबड़ को सर्वथा दूर करके दिखला दिया है कि अभिमान से रहित, सदाचारपरायण, परमात्मा में विश्वास रखने वाले, समदर्शी, नित्यसंतुष्ट, सात्विक जीवों के सब अनिष्ट इस प्रकार अनायास दूर हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य के उगने पर घोर अन्धकार दूर हो जाता है।
5. न्यायपूर्णमूर्ति भगवान् यदुनन्दन ने अपने सगे मामा कंस का वध करके शिक्षा दी है कि अन्याय करने वाला, वेदमार्ग को लुप्त करने वाला, वर्णाश्रम धर्म को छिन्न-भिन्न करने वाला, दुष्टों की सहायता करने वाला, सज्जनों को दण्डित करने वाला, देव-मंदिरों को तोड़ने वाला, वाम मार्ग का प्रचार करने वाला मनुष्य चाहे अपना कितना ही घनिष्ठ संबंधी क्यों न हो, लोकहित के लिए उसका वध परमावश्यक है। साथ ही प्रभु ने इस चरित्र के द्वारा यह भी प्रकट कर दिया कि अन्यायी का वध न्यायसंगत, धर्मानुकूल और परम पावन कर्तव्य है।
6. प्रातःस्मरणीय, पूज्यवाद, पवित्रयशा, धर्ममूर्ति, धर्मावतार, भगवद्भक्तिरङ्गिणी-पवित्रकृतान्तःकरण, ज्येष्ठ पाण्डव, महात्मा युधिष्ठिरजी के राजसूय-यज्ञ में वेदज्ञ, तपस्वी, यथालाभसंतुष्ट, परोपकारी, जितेन्द्रिय, सहनशील, धृतव्रत, ब्राह्मण-अभ्यागतों के पादप्रक्षालन का सेवा कार्य सहर्ष स्वीकार करके प्रभु श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज ने दिखला दिया कि 'सर्वस्याभ्यागतो गुरुः।'–अभ्यागत सबके गुरु हैं।
7. भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण आदि लोकविश्रुत धर्मज्ञ वीररत्नों के समक्ष सभा में दुराचारी उद्दण्ड दुर्योधन की आज्ञा से पापात्मा दुःशासन ने प्रातःस्मरणीया, भारत की एकमात्र सम्राज्ञी श्री द्रौपदी को भगवान विष्णु के बाहुदण्डों के समान अजेय, देव-देव पिनाकपाणि भगवान् शंकर के समान दुर्धर्ष, तारकनिकन्दन कार्तिकेय के समान अप्रतिहत- शक्ति

संपन्न, परम आदरणीय धर्मप्राण पांचों पाण्डवों की विद्यमानता में उनके प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण नि:शुङ्क होकर विवस्त्रा करने का उद्योग किया, उस समय दावाग्नि में पड़ी हुई मृगी के समान कातर-दृष्टि से चारों ओर देखकर सतायी कुररी के सदृश करुणक्रन्दन करती हुई द्रौपदी ने पाषाण को भी द्रवीभूत कर सकने वाले शब्दों से सभा में उपस्थित सभी वीरपुङ्गव नर-रत्नों से अपने उद्धार की प्रार्थना की, किंतु दुर्योधन के भय से कर्तव्य करने में असमर्थ उन लोगों ने उसकी पुकार पर कोई ध्यान नहीं दिया; तब उसने सब ओर से निराश होकर अनाथों के नाथ, अशरण के शरण, निरालम्ब के अवलंब, दुखियों के सहायक, पतितपावन, दीनबंधु, सर्वव्यापक, जगन्नियन्ता भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज का शुद्ध अंत:करण से ध्यान करके उनसे अपने उद्धार की प्रार्थना की, तो दयामय, लीला-पुरुषोत्तम, द्रुपद-नन्दिनी की लज्जा की रक्षा करके पापात्मा दुर्योधन आदि के गर्व को खर्व कर दिया और संसार को दिखला दिया कि अनन्य भाव से चिंतन करने वालों से मैं किंचित् भी दूर नहीं हूं।

8. दुर्योधन की सेवा से प्रसन्न होकर सुलभकोप, दुर्धर्ष, परम तेजस्वी, तपोनिष्ठ, ब्रह्मतेजसंपन्न महर्षि दुर्वासा जब उसके समक्ष महारानी श्रीद्रौपदी के भोजन के पश्चात् दस सहस्त्र शिष्यों सहित पाण्डवों का अतिथि होना स्वीकार करके धर्मावतार श्री युधिष्ठिरजी महाराज के सम्मुख उपस्थित हुए तो उस समय सच्चे क्षत्रिय परम धार्मिक पांचों पाण्डव चिंतारूपी समुद्र में बारंबार गोते खाते हुए अपने उद्धार का कोई मार्ग न देखकर प्राणान्त से भी अधिक दु:ख का अनुभव करने लगे। तब साध्वी द्रौपदी ने नि:स्वार्थ सहायक, दीनों के आधार भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी महाराज का आर्तभाव से स्मरण किया, तो उन्होंने तत्काल ही प्रकट होकर अन्नपात्र में अवशिष्ट एक शाकपत्र का कुछ अंश भक्षण करके शिष्यों सहित दुर्वासा को आकण्ठ तृप्त करके अपने सर्वव्यापकत्व और आर्तपरित्राणकारित्व का पूर्ण परिचय दे दिया।

9. पाण्डवों का अज्ञातवास समाप्त होने के अनन्तर कौरव और पाण्डवों में मनमुटाव की भीषणता के कारण युद्ध की संभावना देखकर स्वयं राजराजेश्वर होकर भी एक दूत के समान कौरवों की सभा में जाकर शांतिस्थापन की भरपूर चेष्टा करके प्रभु ने दिखला दिया कि सज्जन मनुष्य को चाहिए कि अपने मानापमान का ध्यान छोड़कर जाति और देश के हित के लिए परस्पर बढ़ती हुई कलहाग्नि को शांत करने का यथासाध्य भगीरथ-प्रयत्न करे।

10. धृतराष्ट्र, दुर्योधन, द्रोण, कर्ण, भीष्म आदि के भोजन के निमंत्रण को अस्वीकार करके प्रभु ने दिखला दिया कि अभिमानी और अन्यायी मनुष्यों के उत्तम-से-उत्तम भोजन से मनुष्य को सर्वथा बचना चाहिए।

11. इसी अवसर पर शांत, दांत, निरभिमानी, भगवद्भक्त, परोपकारी, परमत्यागी, दीन विदुरजी के घर पर भोजन स्वीकार करके प्रभु ने बतला दिया कि प्रेमी सज्जनों का दिया हुआ सामान्य द्रव्य भी सहर्ष स्वीकार करना चाहिए।

12. महाभारत-युद्ध के आरंभ में अर्जुन को 'किंकर्तव्य-विमूढ़' देखकर गीता के उपदेश द्वारा कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ कराकर भगवान् ने दिखला दिया कि सच्चे मित्र का कर्तव्य अपने मित्र को अकर्तव्य से हटाकर कर्तव्य में लगाना है।

13. भीष्म के साथ युद्ध करते समय अर्जुन की उपेक्षा के कारण अपने भक्त युधिष्ठिर की सेना का भीषण संहार होते देखकर 'मैं युद्ध में शस्त्र नहीं उठाऊंगा'—अपनी इस प्रतिज्ञा की परवाह न करके भीष्म के वधार्थ रथ का चक्र उठाकर प्रभु ने दिखला दिया कि अपने आश्रितों की रक्षा के सम्मुख मेरी प्रतिज्ञा का कोई मूल्य नहीं।

14. नारदजी के शाप से यदुवंश के नाश होने की संभावना देखकर भी प्रभु ने यदुवंशियों की रक्षा का कोई उपाय न करके यह दिखला दिया कि अभिमानी, असत्यवादी, दुराग्रही, अपने कुलवालों को भी अन्याय का दण्ड मिलने पर किसी प्रकार उनकी सहायता न करें।

15. बाल्यावस्था के मित्र, सहाध्यायी, बहुत दिन के बिछुड़े हुए, परम दरिद्र, गुरुभाई सुदामाजी का सीमाधिक आदर करके और उनके बिना कहे भी उन्हें अपने तुल्य समृद्धिमान् बनाकर प्रभु ने दिखला दिया कि सच्चा मित्र कैसा होता है।

इन सभी आचरणों से भगवान् श्रीकृष्ण ने मानवमात्र को अद्भुत शिक्षा दी है। इनमें से थोड़ा भी आचरण परम कल्याणप्रद है। उन्होंने ही कहा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(गीता 2।40)

तुलसी के मानस में संघर्षतत्त्व

डॉ. सुमेधा पाठक

हरिहरराय पथ, इन्द्रपुरी, पो.- केशरीनगर, पटना- 800024

संघर्ष या द्वन्द्व को किसी नाटक या उपन्यास का प्राण कहा गया है। कथानक के विकास में संघर्ष की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। घटनाओं के घात-प्रतिघात के बीच विकसित हुई कोई भी कथावस्तु बाह्य संघर्ष का परिणाम होती है, जबकि चरित्र के विकास में उसका अन्त: संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व सकारात्मक भूमिका निभाता है।

पाश्चात्य समीक्षकों ने नाटक में संघर्ष की भूमिका की महत्ता पर बल देते हुए अंतर्द्वन्द्व को नाटक की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। भारतीय नाट्यशास्त्र में संघर्ष या द्वन्द्व की अवस्थिति रस के अन्तर्गत स्वीकार की गई है। इस कारण इस तत्त्व को स्वतंत्र रूप से विचार का विषय नहीं बनाया गया।

तुलसीदास की महत्त्वपूर्ण कृति 'रामचरितमानस' के विशद् अध्ययन के पश्चात यह स्पष्टत: परिलक्षित है कि 'संघर्ष' ही मानस का प्राण है।

समस्त रामकथा संघर्षों की कसौटी पर ही दमकती हुई पाठकों के हृदय को स्पर्श करती है। यह संघर्ष यहां दो कोटियों में दृष्टिगत होता है। एक तो पात्रों के अर्न्तद्वन्द्व या अन्त: संघर्ष के रूप में दूसरे, मानस के कथानक में विभिन्न घटनाओं के बीच जन्म लेने वाले बाह्य संघर्ष के रूप में। मानस के चरित्र सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक चुनौतियों को झेलकर विकसित हुए हैं। विकास के क्रम में उन्हें जहां मानसिक धरातल पर विरोधी-भावनाओं और मन स्थितियों का द्वन्द्व झेलना पड़ा है। वहीं अन्य सहयोगी और विरोधी चरित्रों के साथ उनका वैचारिक संघर्ष भी होता रहा है। इन दोनों प्रकार के संघर्षों ने जहां 'मानस की कथावस्तु में कौतूहल और रोचकता की सृष्टि की है, वही मानसकार के व्यक्तित्व को भी बहुश्रुत तथा इतिहास सम्मत स्वरूप में स्थापित किया है।

'रामचरितमानस' का उद्देश्य 'राम-राज्य' की स्थापना है और इस उद्देश्य की पूर्ति सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक एवं नौतिक मूल्यों को स्थापित कर ही की जा सकती है। स्पष्टत: इन मूल्यों को स्थापित करने में पात्रों को अंत: एवं बाह्य दोनों संघर्ष मुखरित होंगे जिनके फलस्वरूप ही समस्त कथानक जीवंत हो उठा है। मानस के पात्रों के अंतर्द्वन्द्व इसके 'सातों सोपानों' के अन्तर्गत भलीभांति ग्राह्य हैं।

'मानस के प्रथम सोपान 'बालकांड' में 'विश्वामित्र का राजा दशरथ से राम-लक्ष्मण को मांगने आना' एवं 'राम-लक्ष्मण का गुरु विश्वामित्र के साथ राजा जनक की यज्ञशाला में पदार्पण तथा धनुषभंग प्रसंग में सर्वप्रथम अंत: एवं बाह्य संघर्ष तत्त्व के दर्शन होते हैं। विश्वामित्र द्वारा यज्ञ-रक्षा हेतु राम और लक्ष्मण को मांगे जाने पर दशरथ के वचन एक पिता का पुत्रों के प्रति विशेष कर ज्येष्ठपुत्र के प्रति सहज मोह को प्रदर्शित करता है-

सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुख दुति कुमुलानी।।

चौथेपन पायउं सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु विचारी।।

सब सुत प्रिय मोहं प्रान की नाई। राम देत नाहिं बनई गोंसाई।।

कहं निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा।।

'बालकांड' में राजा जनक की सभा में 'शिवधनुष' की प्रत्यंचा चढ़ाने में असमर्थ वीरों के प्रति निराशा का भाव एवं राजा जनक का 'सीता-विवाह' हेतु की गई प्रतिज्ञा में संघर्ष तत्त्व स्पष्टत परिलक्षित है। जनक की हताशा को दर्शाते हुए तुलसी ने लिखा-

अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी।।

तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न विधि बैदेहि बिवाहू।।

अयोधयाकांड की तो भावभूमि ही संघर्ष तत्त्व है। 'मानस' के प्राय: सभी प्रमुख पात्र यथा-दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, कैकेयी, कौशल्या, मंथरा के चरित्र को विकास प्रदान करने में अंत: एवं बाह्य संघर्षों की महती भूमिका है। सर्वप्रथम इसके दर्शन हमें दशरथ में होते हैं जब राम राज्याभिषेक की घटना से क्षुब्ध मंथरा कैकेयी के कान-भर उसे दिग्भ्रमित कर देती है और कैकेयी राजा दशरथ द्वारा उसे दिए दो वचनों का स्मरण कराती हुए संघर्ष को गति प्रदान करती है जिसकी चरम परिणति चित्रकूट-प्रसंग में कैकयी के पश्चाताप के रूप में परिलक्षित है।

'अरण्यकांड' में संघर्ष तत्त्व मुख्य रूपेण 'मारीच-प्रसंग' एवं 'सीता-हरण' के प्रसंगों में मुखरित हुआ है। स्वर्णमृग के रूप में मारीच का छलावा और राम द्वारा वध के पश्चात् विलाप सुनकर सीता का लक्ष्मण को राम की सहायता हेतु विवश किया जाना जिसके परिणामस्वरूप सीता का हरण। समस्त प्रकरण राम-लक्ष्मण और सीता के अंतर्द्वन्द्व को प्रकट करता हुआ कथानक के विकास हेतु उर्वर भावभूमि सृजित करता है। सीता-हरण के पश्चात राम का सामान्य असहाय मानव की तरह पत्नी के लिए आशंकित होना एवं विलाप करने वाले प्रसंग अन्त: एवं बाह्य संघर्षों के अनुपम उदाहरण हैं:-

किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं।

प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं।।

एहि विधि खोजत बिलपत स्वामी।

मनहुँ महा बिरहीं अति कामी।।

'किष्किंधांकाड' में संघर्ष-तत्त्व के दर्शन किंचित सीमित हैं। 'राम-सुग्रीव मित्रता' के प्रसंग में दोनों के ही पक्ष की असहायता अंतर्द्वन्द्व के पक्ष को पोषित करती है। इसके अतिरिक्त 'बालि वध' के उपरान्त सुग्रीव की राजपद प्राप्ति एवं भोग-विलास में रत होकर राम-कार्य में विलंब जनित संघर्ष इस सोपान को भी संघर्ष तत्त्व के विधान में पुष्ट बनाते हैं।

'सुंदरकांड' में संघर्ष तत्त्व स्वत: प्रवाहिनी धारा सदृश निरंतर गतिमान है, जो कथावस्तु को निरभ्र अनंत सा विस्तार प्रदान कर कौतूहलपूर्ण बनाता है। 'सीता-त्रिजटा' संवाद 'हनुमान-सीता' संवाद 'हनुमान-रावण' संवाद, 'मंदोदरी-रावण संवाद, रावण को विभीषण द्वारा समझाया जाना और विभीषण का अपमान', समुद्र के घमंड पर राम का क्रुद्ध होना आदि प्रसंग संघर्ष तत्त्व को फलीभूत होने का पर्याप्त अवसर देते हैं। सीता-त्रिजटा' संवाद में सीता की असह्य-विरह वेदना और रावण की नित धमकियों से टूटी सीता के भावावेग का चरम दर्शन कराती इन पंक्तियों में सीता का अंत: संघर्ष स्थिर जय में प्रतिबिंबित सा ही स्पष्ट है:-

पावकमल जल ससि सवत न आगी। मानहु मोहि जानि हतभागी।

सुनहि विनय मम विटप असोका। सत्य नाम करू हरू मम सोका।।

इसी प्रकार 'रावण-हनुमान' संवाद में रावण का क्रोध रूपी अंतर्द्वन्द्व इस पंक्ति में बखूबी व्यक्त हुआ है।

सुनि कपि वचन बहुत खिसिआना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राणा।।

यह जहाँ एक ओर हनुमान के प्रति क्रोध को प्रकट करता है वहीं दूसरी ओर रावण के अंत: करण में पलते रामरूपी भय को भी प्रकट करता है। 'मंदोदरी-रावण संवाद' में मंदोदरी रावण के महाविनाश को स्पष्टत: अनुभव करती है और रावण को समझाने के क्रम में उसका अंतर्द्वन्द्व द्रष्टव्य है:-

तब कुल कमल विपिन दुखदाई। सीता सात निसा सम आई।।

सुनहु नाथ सीता विनु दीन्हें। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें।।

इसी प्रकार सीता के त्राण हेतु लंका प्रस्थान के क्रम में बाधारूपी समुद्र लंघन की समस्या भी अंतर्द्वन्द्व को जन्म देती है, जो मार्ग न देने की स्थिति में समुद्र पर कुपित राम के अग्निवाण द्वारा समुद्र को सुखा देने की उद्घोषणा के रूप में दृष्टिगत है:-

लछिमन बान सरासन आनू। सोषौं बारिध बिसिख कृसान्।।

'लंकाकांड' का मेरूदंड ही संघर्ष तत्त्व है। लक्ष्मण-मेघनाद युद्ध में लक्ष्मण का शक्तिबाण से मूर्च्छित हो जाने के फलस्वरूप और राम के विलाप में संघर्ष अपने गहनतम रूप में विराजमान है:-

जैहउँ अवध कौन मुहु लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गंवाई।।

वरू अपजस सहतेउँ जग माहीं। नारि हानि बिसेष छति नाहीं।।

इसी प्रकार 'विभीषण कुंभकरण संवाद' 'कुंभकरण का युद्ध', 'राम-रावण युद्ध' के क्रम में रावण का यज्ञ-विध्वंस आदि संघर्ष जनित अंतर्वेशों के अतुलनीय उदाहरण हैं। 'रावण वध' के पश्चात 'मंदोदरी-विलाप' भी संघर्ष के लिए पर्याप्त भूमि प्रदान करता है।

'उत्तरकांड' इस दृष्टि से संपुष्ट नहीं है क्योंकि यहां संघर्ष तत्त्व शांति के अन्तर्गत समाहित है। कुछेक प्रसंग यथा राम का अयोध्या आगमन के पूर्व भरत की मंशा की जानकारी छिटपुट रूपेण संघर्ष को दर्शाता प्रतीत होता है।

इसके साथ ही 'रामचरित मानस के विविध पात्रों के माध्यम से तत्कालीन समाज के चित्रण द्वारा सामाजिक अंतर्द्वन्द्व को भी उपस्थित किया है। गोस्वामी जी ने समाज में परस्पर विरोधी तत्त्वजनित अंतर्वेगों को धर्म, दर्शन, सामाजिक वैमनस्य तथा विभेद यथा हिन्दू-मुस्लिम विरोध, शैव, शाक्त, मतानुचयायियों के परस्पर वैमनस्य के माधयम से प्रकट किया है। इसी प्रकार दार्शनिक क्षेत्र में प्रचलित विभिन्न मान्यताओं यथा द्वैत्य-अद्वैत्य, सगुण-निर्गुण, विद्या-अविद्या, माया, जगत की सत्यता-असत्यता, जीव का भेद-अभेद, ज्ञान-भक्ति, कर्म का समन्वय, शैव-वैष्णव मतभेद एवं विभिन्न संप्रदायों के आपसी विरोध, वर्णाश्रम धर्म एवं मानवता सिद्धांत, परोपकार एवं अहिंसा जैसे नैतिक मूल्यों को महत्त्व देते हुए राजतंत्र के अंतर्गत जनतंत्र को आरोपित कर प्रजा परायणता की दूरगामी कल्पना को साकार करने के क्रम में विरोध जनित बाधाओं के फलस्वरूप उपस्थित अंतर्द्वन्द्व मानस की कथा को यथार्थ के धरातल पर संपुष्ट करता है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि 'मानस' में अन्त: और बाह्य संघर्ष प्रखर रूप में विद्यमान है। संघर्ष की समुचित योजना द्वारा मानसकार ने केन्द्रीय चरित्र और उसके समय-समाज के साथ संघर्ष को निरूपित कर चारित्रिक विकास तथा कथानक को अपेक्षित गति प्रदान की है।

सन्दर्भ

1. दैनिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित आलेख 'निराला : साकार दिव्य गौरव विराट': कन्हैयालाल नंदन
2. परिचद पत्रिका के निराला अंक में प्रकाशित रचना 'निराला की काव्यभाषा': डा. श्रीरंजन सूरिदंव
3. सहित्यिक निबंध : लेखक एवं संपादक डॉ. शंति स्वरूप गुप्त

कोड-मिश्रण और कोड-परिवर्तन : एक अध्ययन

चारु गोयल

भाषा और समाज का संबंध अटूट है। कोई भाषा सामाजिक व्यवहार के कितने अधिक क्षेत्रों में प्रयोग में आती है, इससे उस भाषा की सापेक्षिक विकासशीलता का पता लगता है। समाज भाषा से जिन भूमिकाओं की मांग करता है, भाषा उन भूमिकाओं के निर्वाह के लिए उपयुक्त भाषिक उपादान जुटाती है और अपने को तद्नुरूप समृद्ध और योग्य बनाती है।

समाज भाषा विज्ञान सामाजिक व्यवहार के अनुसार प्रयोक्ता की बदली हुई इसी नयी भूमिका की अपेक्षा को कोड-मिश्रण और कोड-परिवर्तन के द्वारा पूरा करता है। हिन्दी भाषाई समाज में कोड-मिश्रण और कोड-परिवर्तन का विभिन्न स्तरों पर आकलन करने से पूर्व कोड-मिश्रण व कोड-परिवर्तन का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य जान लेना आवश्यक है।

भाषा मनुष्य के संप्रेषण का सशक्त माध्यम है। जब मनुष्य भाषा द्वारा स्वयं को अभिव्यक्त करता है, तो उसकी यह अभिव्यक्ति व्यक्ति सापेक्ष, स्थिति सापेक्ष और संदर्भ सापेक्ष होती है। उसकी यह अभिव्यक्त भाषा ही कोड है।

डॉ॰ आर॰एस॰ गुप्ता के शब्दों में–''कोड शब्द भाषा के प्रकार, भाषा की कोई शैली बोली या भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होता है'' (कोड-मिश्रण और भाषा व्यवहार पृ॰-19)

वास्तव में कोड वह है जो सम्प्रेषण के दौरान वक्ता और श्रोता दोनों की अर्थ-प्रणाली को पूर्ण करता है। 1958 में बर्नस्टीन ने संकुचित और व्यापक कोड की संकल्पना दी। उन्होंने बताया कि व्यापक कोड का प्रयोग औपचारिक स्थितियों में और संकुचित कोड का प्रयोग सीमित संदर्भों और सीमित प्रकार्यों तक ही सीमित रहता है। यह तो हम सभी जानते हैं कि हमारी अभिव्यक्तियों के पीछे कोई न कोई अर्थ छिपा रहता है, कोड हमारी इस आवश्यकता की पूर्ति करता है।

कोड-मिश्रण और कोड-परिवर्तन प्रयोक्ता की भाविक स्थितियों को स्पष्ट करता है, इसलिए इसके पीछे काम कर रही दो भाषिक स्थितियों–द्विभाषिक और बहुभाषिक स्थितियों को जानना अनिवार्य है।

भारत जैसे बहुभाषी देश में किसी एक भाषा के भीतर कई शैलियां हैं और हर शैली एक विशेष सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ की मांग करती है। हिन्दी के संदर्भ में देखें तो–हिन्दी, उर्दू और हिन्दूस्तानी तीन शैलियां दृष्टव्य है। संस्कृतनिष्ठ रूप हिन्दी है तो अरबी-फारसी निष्ठ रूप उर्दू है तथा उन दोनों के बीच का रूप हिन्दूस्तानी है जिसमें ज्यादातर तद्भव कुछ बहुप्रचलित अरबी-फारसी-तुर्की और कुछ देशज का सम्मिश्रण है।

तात्पर्य यह है कि एक ही प्रयोक्ता एक भाषा अथवा उसकी एक शैली के साथ-साथ दूसरी भाषा का प्रयोग उसी आधारभूमि पर खड़ा होकर करता है, जिस आधार पर वह एक भाषा या शैली का प्रयोग करता है।

द्विभाविकता का संबंध प्रयोक्ता की दो भाषाओं के प्रयोग की क्षमता से है। ब्लूमफील्ड ने द्विभाषिक उस व्यक्ति को माना है जो दो भाषाओं में मातृभाषावत् दक्षता रखता हो। इस स्थिति में यह भी संभव है कि द्विभाषिकता की स्थिति होते हुए भी व्यक्ति द्विभाषी न हो। भारत में हिन्दी और अंग्रेजी दोनों को संवैधानिक मान्यता प्राप्त है, लेकिन प्रत्येक भारतीय के लिए यह आवश्यक नहीं कि हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में उसकी समान गति हो। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि, ऐसा संभव है कि स्थिति तो द्विभाषिकता की हो पर उस स्थिति में रहने वाले भाषा-प्रयोक्ता द्विभाषिक न हों। बहुभाषिकता की स्थिति में दो से अधिक भाषाओं का ज्ञान रखने वाला प्रयोक्ता बहुभाषिक कहलायेगा।

कोड-मिश्रण का परिप्रेक्ष्य 1976 में सामने आया। जब काचरू, हॉच और ओक्सर ने कोड-मिश्रण की संकल्पना दी। बहुभाषिकता और द्विभाषिकता से ही कोड-मिश्रण का अस्तित्व सामने आता है क्योंकि, जो प्रयोक्ता दो या दो से अधिक भाषाओं का ज्ञान रखता हो, वही अपने प्रयुक्त कोड में विभिन्न कोडों का मिश्रण कर सकता है।

कोड-मिश्रण एक भाषा की भाषायी ईकाइयों का दूसरी भाषा के सामान्य व्याकरणिक नियमों में स्थानान्तरण है। इस प्रकार के नियमित स्थानान्तर से भाषा-संपर्क के लिए एक नये कोड का जन्म होता है। गम्पर्ज ने कोड-परिवर्तन और कोड-मिश्रण को एक ही माना है। काचरू ने कोड-मिश्रण की जो परिभाषा दी है-वह इस प्रकार है,

''कोड-मिश्रण में एक भाषा की भाषिक इकाईयां दूसरी भाषिक इकाईयों में स्थानान्तरित हो जाती है। इस स्थानान्तरण से एक नये भाषा कोड का जन्म होता है। जिसे भाषा-संपर्क का संकुचित या कम संकुचित कोड कहा जा सकता है।''

(कोड-मिश्रण और भाषा व्यवहार पृ॰-32)

"The term code-mixing refers to the uge of one or more langwage for consistent transfer of lingwistic units from one langwage mixture developing a new restricad or not so restricted code of lingwistic interaction."

(वही...)

उदाहरण के लिए–

''इस सूट का कलर और फैब्रिक दोनों ही बहुत अच्छे हैं''।

स्पष्ट है कि कोड-मिश्रण संज्ञा स्तर पर (सूट), विशेषण (कलर फैब्रिक) आदि सभी स्तरों पर हो सकता है।

कोड-मिश्रण निश्चित नियमों द्वारा संचालित होता है, नियमों का अतिक्रमण कर किया गया तो मिश्रण हास्यास्पद हो जाता है। कोड-मिश्रण के कुल मिलाकर चार कारण सामने आते हैं–

एकाधिक भाषा-ज्ञान के कारण अवसर के अनुकूल भाषा-व्यवहार में कोड-मिश्रण देखा जा सकता है।

तकनीकी शब्दावली भारत में मुख्य रूप से अंग्रेजी भाषा की ही है, तो सहज ही संदर्भ के अनुरूप हिन्दी इतर भाषा ग्रहण करनी पड़ती है जैसे–''कोड द्वारा ऐनालॉग सिग्नलस को डिजीटल सिग्नलस में परिवर्तित किया जाता है।''

ये रेखा-चिन्हित शब्द तकनीकी शब्दावली के अंतर्गत आते हैं और इन सभी शब्दों का ज्यों का त्यों प्रयोग किया जाता है। यह नया किंतु हैरान कर देने वाला भाषा मिश्रण का एक रूप है जहां किसी भाषा की समाज में प्रतिष्ठा होने के कारण वक्ता उसका प्रयोग करना गौरव का विषय समझता है; जैसे अभिजात्य वर्ग में अंग्रेजी शब्दों, वाक्यों का प्रयोग अपनी अस्मिता को बनाए रखने के प्रश्न से जुड़ा है।

कभी-कभी किसी भाषा में कुछ शब्द अशिष्ट, अशोभनीय समझे जाते हैं, उनके लिए दूसरी भाषा के शब्दों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण–''वह बाथरूम (Bathroom) गया है, अभी आता है''।

भूमंडलीकरण के इस दौर में जब पूरा विश्व एक ही 'क्लिक' में सिमटा दिखाई देता है, तो सामाजिक अथवा भाषा-प्रयोक्ता बहुत-सी भाषाओं के ज्ञान को अपनी उन्नति के लिए एक औजार के रूप में प्रयोग करता है। इसी क्रम में उसकी भाषा में कभी-कभी दो कोडों का मिश्रण हो जाता है और कभी-कभी संदर्भ और स्थिति के अनुसार कोड-परिवर्तन भी हो जाता है।

कोड-मिश्रण और कोड-परिवर्तन दोनों ही भाषा-परिवर्तन के रूप हैं। इन दोनों स्थितियों के लिए वक्ता श्रोता दोनों को उन भाषाओं का लगभग समान ज्ञान होना अनिवार्य है। 'कोड-परिवर्तन' शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं 'कोड-मिश्रण' और 'कोड-परिवर्तन' दोनों के लिए मिलता है। इन दोनों में स्पष्ट अंतर सर्वप्रथम काचरू (1977) ने किया। उन्होंने बताया कि कोड-परिवर्तन एक कोड से दूसरे कोड में परिवर्तन को बताता है जबकि कोड-मिश्रण में एक भाषा की भाविक इकाईयां दूसरी भाषा की भाविक इकाईयों में स्थानान्तरित हो जाती है।

कोड-परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में Ronald Wandhagh ने लिखा है–

"Most speakers command several varieties of any langwage they speak.....people then, are usually required to select a particular code whenever they choose to sepak, and they may also decide to swicth from one code to another or to mix codes even within very short utterances and then they create a new code to a process known as code-switching"

(An introduction to sociolingwisties, P.100)

कहा जा सकता है कि कोड-परिवर्तन का प्रयोग स्वच्छन्दता से नहीं किया जाता वरन् स्थिति और संदर्भ से इसका नियंत्रण होता है।

कोड-परिवर्तन का उदाहरण–"Shut your mouth and get lost from here, I do not want to listen you any more. जब देखो बहानेबाजी करता है। झूठ बोलते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती''।

कोड-मिश्रण व कोड-परिवर्तन कई प्रकार से हो सकता है–

1. मातृभाषा व अन्य भाषा (विदेशी) मिश्रण;–जैसे हिन्दी व अंग्रेजी भाषा का मिश्रण।
2. मातृभाषा व अन्य स्वदेशी भाषा मिश्रण;–जैसे हिन्दी और बंगाली या हिन्दी व मराठी का मिश्रण।
3. मातृभाषा व बोली मिश्रण, ;–जैसे हिन्दी और अवधी या हिन्दी व पहाड़ी बोली का मिश्रण।

आज भारत में मातृभाषा के अतिरिक्त प्रयोक्ता जिस अन्य भाषा को महत्व दे रहा है, वह अंग्रेजी भाषा है। भाषा को आधुनिक प्रयोजनों के संदर्भ में विकसित करना वस्तुतः भाषा के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से संबद्ध है, जो विकास के वर्तमान दौर में नयी आवश्यकताओं के अनुरूप भाषा को समृद्ध करने पर आधारित है। वर्तमान युग में अंग्रेजी भाषा हिन्दी समुदाय के लिए एक आवश्यक अंग बन कर सामने आयी है, या इसे यूं भी कह सकते हैं कि अंग्रेजी का वर्चस्व आज हिन्दी पर हावी हो रहा है। जब हर भाषा-भाषी अंग्रेजी को अंतर्राष्ट्रीय भाषा मानकर सम्मान देता है तो उसकी भाषा में अंग्रेजी का प्रभाव आ जाना असामान्य बात नहीं है। इस प्रकार के प्रयोग की स्थितियां ही कोड-मिश्रण और कोड-परिवर्तन की स्थितियों को जन्म देती है।

यहां हम कोड-मिश्रण और कोड-परिवर्तन को हिन्दी-अंग्रेजी के संदर्भ में ही विवेचित करेंगे।

पत्रकारिता के क्षेत्र में हिन्दी का विकास अत्यंत द्रुत गति से हुआ है। आधुनिक पगकारिता विविध विषयों से अपने को जोड़ती है। हिन्दी विज्ञापनों के कुछ रूप हिन्दी के आधुनिक स्वरूप को उद्घारित करने में प्रामाणिक दस्तावेज की तरह देखें जा सकते हैं।

विज्ञापन ही है जो किसी वस्तु के लिए बाजार खड़ा करता है। हम देखते हैं कि विज्ञापन की अपनी भीतरी और बाहरी आवश्यकताओं के अनुसार उसमें प्रयुक्त होने वाली हिन्दी एक नया रूप ग्रहण कर रही है। कह सकते हैं कि विज्ञापन व्यावसायिकता और कलात्मकता के बीच संबंध स्थापित करता है। आधुनिक विज्ञापनों में विभिन्न भाषाओं के शब्दों का एक साथ होना देखा जा सकता है।

सुधीश पचौरी (मीडिया विश्लेषक) के अनुसार–''वहां एक भाषा कभी नहीं होती। दिखने वाली या सुन पड़ने वाली 'एक' भाषा बाहरी धोखा होती है। वहां हमेशा 'एक भाषा' में नाना भाषाओं का मिक्स मौजूद रहता है। हम मुस्तकिल तौर पर 'भाषाओं में' रहते हैं। सिर्फ 'भाषा में' नहीं रहते–भाषा सुविधा भर के लिए वचन होती है''

(जनसंचार माध्यम : भाषा और साहित्य, पृ॰ 190)

कोड-मिश्रण की स्थिति विज्ञापकों में साफ तौर पर देखी जा सकती है। जहां हिन्दी विज्ञापनों में 'इंग्लिश' का बहुत ही रोचक उपयोग किया जा रहा है।

जैसे–''दांतों में दर्द है। नया tooth paste try किया। दांतों के साथ experiment कभी नहीं'' यहां हिन्दी की व्याकरणिक संरचना में ही अंग्रेजी शब्दों को संयोजित किया गया है। Tooth paste, try, experiment ऐसे ही शब्द हैं जो क्रमशः संज्ञा, क्रिया विशेषण शब्द हैं।

बहुत सारे विज्ञापनों में पद्यात्मकता- तालबद्धता और तुकान्तता लाने के लिए मिश्रित शैली का प्रयोग किया गया है जैसे–

''धुलाई का हीरो (Hero)कर दे मैल को zero!''

''जो अंदर fit वह बाहर भी hit!''

हिन्दी-विज्ञापनों में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग आज चौकाता नहीं है, इसका प्रमुख कारण यह है कि उपभोक्ता वस्तुओं में से अधिकतर वस्तुओं का निर्माण करने वाली कंपनियां भारतीय न होकर विदेशी होती हैं अतः वस्तु के साथ-साथ उस विदेशी भाषा को भी सहज ग्रहण कर लिया गया है। कोड-परिवर्तन की स्थिति विज्ञापनों में न के बराबर है।

विज्ञापनों के साथ-साथ साहित्य में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। भाषा और साहित्य एक-दूसरे के पूरक हैं। किसी भी देश की साहित्यिक समृद्धि उस देश की भाषा पर निर्भर करती है। हिन्दी भाषा ने इस दायित्व को भली-भांति निभाया है। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा ही नहीं भारतीय साहित्य को वाणी देने वाली विशाल हृदय की भाषा है जिसके अंतर्गत सत्रह ग्रामीण बोलियां आती हैं जिनमें से अधिकांश बोलियों में विपुल साहित्य रचा गया है। दादू, रैदास, तुलसी, मीरा, जायसी, कबीर आदि महान् कवि इसके उदाहरण हैं।

''छिपे हुए प्रिंटिंग प्रेस को खोजो
जहां कि चुपचाप ख्यालों के परचे
छपते रहते हैं, बांटे जाते।
इस संस्था के सेक्रेटरी को खोज निकालो
स्कीनिंग करो-मिस्टर गुप्ता
क्रॉस एक्जामिन हिम थॉरोली !!

(अंधेरे में)

''चाय बाद में....'', वह अपने कोट की अंदरूनी जेब में कुछ टटोलने लगा-नोटबुक, वालेट, पासपोर्ट सब चीजें बाहर निकल आयीं, अंत में उसे टेबलेट्स की डिब्बी मिली, जिसे वह ढूंढ रहा था।''

(एक दिन का मेहमान)

''किसी को पता भी न चलेगा, वह कहां चला गया? लड़की थोड़ा-बहुत जरूर हैरान होगी, किंतु बरसों से वह उससे ऐसे ही अचानक मिलती रही थी और बिना कारण बिछड़ती रही थी ''यू आर कमिंग मैन एण्ड ए गोइंग मैन'' वह उससे कहा करती थी। पहले विषाद में और बाद में कुछ-कुछ हंसी में...''

(एक दिन का मेहमान)

अभी सुने गये वाक्यों में अंग्रेजी की आगत शब्दावली को लिप्यंतरित करके अपनाने के कारण हिन्दी की वाक्य-रचना का आधुनिक स्वरूप उद्घाटित हो रहा है जो कोड-मिश्रण व कोड- परिवर्तन की प्रक्रिया से बंध गया है। भाषा- विकास की दृष्टि से यह सहायक और स्वाभाविक प्रक्रिया मानी जाती है। ऊपर प्रयुक्त किये गये सभी अंग्रेजी शब्दों से हम सभी भली-भांति परिचित हैं। यही कारण हैं कि सुने गये वाक्य अटपटे न लगकर हमारी रोजमर्रा की भाषाई संप्रेषणीयता का ही हिस्सा हैं कविता, कहानी के अलावा आलोचनात्मक पुस्तकों में भी हिन्दी-अंग्रेजी मिश्रण मिलता है। उत्तर-संरचनावाद, आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता आदि नये सैद्धांतिक विषयों को समझने के लिए अंग्रेजी शब्दों का ज्ञान और उनका प्रयोग जरूरी हो गया है, कारण यह है कि इन सभी सिद्धांतों का आविर्भाव स्वदेश में न होकर विदेशी धरती पर हुआ है।

उत्तर-आधुनिक स्थितियां पश्चिम के समाज और दर्शन में सर्वप्रथम देखने को मिली, तो इस पर चिन्तन करने वाले विद्वानों के विचारों को जानने के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली को ग्रहण करना अपने आप ही आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कोड-मिश्रण और कोड-परिवर्तन हिन्दी भाषा के आधुनिक प्रयोजनों से संबद्ध है। नयी पीढ़ी में भाषा को लेकर किसी तरह का दुराग्रह नहीं है, बड़े सहज रूप से इस नयी पीढ़ी ने आपस में बोलचाल के लिए अपनी एक नयी भाषा गढ़ ली है, जिसमें हिन्दी-अंग्रेजी भाषा का मिश्रण है। स्वयं को अभिव्यक्त करने में युवा पीढ़ी भाषाई मिश्रण द्वारा अपने को सहज पाती है।

दैनिक हिन्दुस्तान की संपादक मृणाल पाण्डे ने सही कहा है–''of course, English attracts the young why should it not? In the age of the net and the ipod, the young will want to venture into the dominant cultures surrounding them. the Hindi belt wallahs of in today will also not stop at english, but go on to then salobel languages. for them, language is not just matter of words, but an invitation to fly to another exotic place. And no it does not spell 'death for the mother tongue'. but encourages more wlourful phrases and a graeter ability to express oneself to a larger number of people."

निश्चित रूप से विविध भाषाओं का समंजन भाषा प्रयोक्ता को रंगीन मुहावरों द्वारा स्वंय को उच्च क्षमता से युक्त कर बड़ी दुनिया से रूबरू होने का उत्साह देता है।

वास्तव में भाषा जितनी उदार होगी, और समय के साथ-साथ बदलती चली जायेगी, वह उतनी ही समृद्ध होती चली जायेगी।

सामाजिक संदर्भों में भी भाषा और समाज इस प्रकार अंतग्रहित है कि जो कुछ समाज में घटित होता है, उसके अनुसार ही भाषा अपना रूप परिवर्तन करती है, कोड-मिश्रण और कोड-परिवर्तन इसी सामाजिक आवश्यकता का परिणाम है।

संदर्भ सूची

1. तिवारी भोलानाथ : 'हिन्दी भाषा की सामाजिक संरचना' 1999, साहित्य सलाहकार दिल्ली।
2. चोपड़ा, नीलम : 'कोड मिश्रण और भाषा व्यवहार' प्रथम संस्करण, 1984, वरुण प्रकाशन, दिल्ली।
3. प्रो॰ हरिमोहन : 'सूचना-क्रांति और विश्व भाषा हिन्दी' 2004, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली।
4. पचौरी, सुधीश : 'जनसंचार माध्यम : भाषा और साहित्य प्रथम संस्करण, 2002, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली।
5. मुक्तिबोध : प्रतिनिधि कविताएं, संपादक-अशोक वाजपेयी पुनर्मुद्रित संस्करण, 2005, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
6. निर्मल वर्मा : प्रतिनिधि कहानियां 1996, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
7. 'Wardhaugh Ronald : An Introduction to sociolingaistics', fourth Edition, 2002, Blackwell Publishers. Hindustan Times, Tuesday, Dec. 07, 2006 Articls : (This Bharha loves languages) mrinal Panday.

हिंदी आलोचना और प्रो. विजयदेव नारायण साही

गजेन्द्र कुमार पाठक

स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, महाराजा कॉलेज, आरा (बिहार)

'आलोचना' के अक्टूबर, 1963 अंक में प्रो0 विजयदेवनारायण साही का एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसका शीर्षक था – 'मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति।' इस लेख में साहीजी ने लिखा था कि, ''आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रगतिवादियों के विषय में कहते हैं कि इनके सिद्धांत और उद्देश्य बहुत सुन्दर हैं, लेकिन ये लोग कम्युनिस्ट पार्टी के साथ जुड़े हैं। यही जरा खटकता है। अगर ये लोग दल द्वारा परिचालित होना छोड़ दें तो सब ठीक हो जाए। नि:सन्देह अपने इस आग्रह में द्विवेदी जी व्यापक लोक मंगल की भावना और उदार मानवतावाद से प्रेरित है। परन्तु हम विनम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहते हैं कि वे असम्भव की माँग कर रहे हैं।''

अपनी आलोचना-दृष्टि के निर्माण के संदर्भ में साही जी मार्क्सवादी आलोचना पद्धति का अध्ययन करते हुए कई प्रश्नों से टकरा रहे थे और अन्तत: इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जो आलोचक प्रगतिवाद का नकाब लगाए या 'सामाजिक यथार्थ' का जामा पहने जब भी साहित्य के अपने नियमों के विरुद्ध सीधी प्रतिच्छाया का आग्रह करेगा, साहित्य की शक्ति और श्रेष्ठता को आघात पहुँचाएगा। साही जी के निष्कर्षों से हम सहमत हों या असहमत हों लेकिन एक बात तो सबको स्वीकार करनी पड़ेगी कि उन्होंने मार्क्सवादी हिन्दी आलोचना के एकछत्र राज्य में असहमत होने और उसका विरोध करने का साहस किया।

सुना है कि एक जमाने में नामवर जी और साही जी जब भी किसी गोष्ठी में पहुँचते थे लोगों का हुजूम इन्हें सुनने के लिए टूट पड़ता था। कवि ज्ञानेन्द्रपति का तो आरोप यह भी है कि कविता के नये प्रतिमान के लिए नामवर जी ने सिर्फ सूत्र ही नहीं बल्कि पूरा शब्द विन्यास भी साही से ही लिया। जो भी हो यह प्रसंग इस बात का प्रमाण है कि नामवर और साही की जोड़ी ने हिन्दी आलोचना को एक नए शिखर तक पहुँचाया। साही जी के बाद कुछ दिनों तक नामवरजी का 'साथ' रामस्वरूप चतुर्वेदी ने निभाया लेकिन इसमें वह बात नहीं थी। नामवर जी तब भी और अब भी इस बात को स्वीकार करते हैं साही जी की प्रतिभा का कोई विकल्प नहीं है।

प्रो0 विजयदेवनारायण साही का जन्म 7 अक्टूबर 1924 ई0 को बनारस में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा बनारस में ही हुई। बाद में 1948 ई0 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम0ए0 किया।

'तीसरा सप्तक' के परिचय में लिखा है कि साही जी का परिवार जन्म के समय निम्न मध्यवर्ग का और बहुत बड़ा था। इसके कारण परिवार में कटुता भी रही। पेट और परिवार के लिए नौकरी की दरकार थी। अत: एम0ए0 के तुरन्त बाद आचार्य नरेन्द्र देव की वजह से काशी विद्यापीठ में अध्यापक हो गए। 1951 में फिर इलाहाबाद ने बुला लिया। वहाँ अध्यापन करते हुए 1970 में रीडर बने तथा 1978 में प्रोफेसर के पद पर पहुँचे।

साही जी बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। राजनीति में आचार्य नरेन्द्र देव और डा0 राम मनोहर लोहिया के करीबी थे तथा 1942 से ही कांग्रेस समाजवादी दल की गतिविधियों में शामिल थे। भदोही में बुनकरों के बीच ट्रेड यूनियन से जुड़े, दो-दो बार चुनाव लड़े और पराजित होते हुए भी राजनीति से जुड़े रहे।

साही जी का दूसरा सबसे बड़ा पक्ष साहित्य में संगठनकर्त्ता का है। प्रलेस के बरक्स इलाहाबाद में जो परिमल बना उसमें साही जी की अग्रणी भूमिका थी। इलाहाबाद के कॉफी हाउस, विश्वविद्यालय और परिमल के अलावा कहीं भी कोई गोष्ठी साही जी के बिना अधूरी थी, फीकी थी।

प्रो0 विजयदेवनारायण साही की ख्याति हिन्दी में कवि, आलोचक और समाजवादी चिन्तक के रूप में है। तीसरा सप्तक में ये विशिष्ट कवि के रूप में शामिल थे। 'आलोचना' और 'नयी कविता' जैसी पत्रिकाओं के सम्पादक मण्डल में थे। सब कुछ के बावजूद अपनी रचनाओं के प्रकाशन के मामले में लापरवाह थे। 5 नवम्बर 1982 को आकास्मिक निधन के दिन तक इनका सिर्फ एक कविता संग्रह 'मछलीघर' ही प्रकाशित हुआ था। बाकी अन्य रचनाएँ पत्नी कंचनलता साही और उनके मित्रों के प्रयास से मरणोपरांत प्रकाशित हुईं। 'साखी' और 'संवाद तुमसे' कविता संग्रह के अलावा लेखों के छः संग्रह भी साही जी के इस संसार से विदा लेने के बाद ही आए। एक तरह से देखें तो यह मुक्तिबोध जैसी स्थिति है। जीते जी अपनी किताबें न देख पाना - इस पीड़ा को हर आदमी नहीं समझ सकता।

आज साही जी की प्रकाशित रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि कवि के अलावा साहित्य में इनका आलोचकीय अवदान विशेष अध्ययन की मांग करता है। एक प्रखर आलोचक के रूप में साही जी सिर्फ किंवदन्ती पुरुष रहे हैं। उन्हें यथार्थ के धरातल पर उतारने की जरूरत है। हिन्दी के प्रायः सभी बड़े आलोचक आज मार्क्सवाद की तरफ झुके हुए हैं। वैसे में साही जी का मार्क्सवाद विरोधी स्टैण्ड आपपे आप में किस बात का सूचक है? साही जी मार्क्सवादी आलोचकों की कम्युनिस्ट परिणति से नाराज थे। लेकिन क्या वे स्वयं अपनी आलोचना में समाजवादी राजनीतिक परिणति से बच पाए ? ये सभी सवाल क्रम से विशेष अध्ययन की मांग कर रहे हैं।

साही जी मूलतः बहसधर्मी आलोचक थे। वे तर्कों का एक ऐसा जाल बुनते थे कि श्रोता या पाठक का उससे बाहर रह पाना असम्भव था। वरिष्ठ कवि कुँवर नारायण का मानना है कि, ''उनका भारतीय जीवन-बोध एक और अगर किसानी अर्थों में जमीन का है, तो दूसरी और अत्यंत उदात्त अर्थों में भारतीय, सांस्कृतिक, दार्शनिक और वैचारिक परम्पराओं से शक्ति खींचता है।

''भारतीय समाज और साहित्य की गहरी समझ साही जी के पास थी। भारत की जाति व्यवस्था की जटिलताओं से साही जी दुखी थे और मानते थे कि ''कभी-कभी मुझे लगता है कि पढ़ाई-लिखाई जाति व्यवस्था को हिन्दुस्तान में पुष्ट ही करती है, शिथिल नहीं।'' यह अलग से कहने की जरूरत नहीं है कि साही जी का यह निष्कर्ष आज भी उतना ही सही है।

जायसी पर साही जी का अध्ययन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। फारसी भाषा और साहित्य के गहरे अध्येता साही जी ने पद्मावत के 'सेक्युलर' पाठ की प्रस्तावना की थी। उनकी मान्यता थी कि ''हमने जायसी की मूल सर्जनात्मक वृत्ति तक पहुँचने में भी कुछ ही उपयोगी परिणाम निकाले हैं तो अब तक के सूफीवादी व्याख्याकारों के विनयपूर्वक प्रणाम करके हम जायसी की मानवीय उद्भावनाओं के मध्य में ही पद्मावती को रखना उचित समझेंगे।

पद्मावती को आध्यात्मिक प्रतीक का दर्जा देना न पूरे कथा-प्रबन्ध का अभीष्ट है, न जायसी की वास्तविक तलाश। अब हम अपनी उधेड़-बुन के उस केन्द्र में पहुँचते हैं जहाँ पूरी कथा की बनावट और जायसी की शिल्प-विधि के विश्लेषण की आवश्यकता है। वस्तुतः हमारी खोज पद्मावती की नहीं, पद्मावत की होनी चाहिए। अब तक की आलोचना में पद्मावती की खोज ने आलोचकों को पद्मावत की खोज से काफी हद तक विमुख ही रखा है।''

अपने मशहूर निबंध 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस में साहीजी ने छायावाद से लेकर अज्ञेय तक अर्थात् छायावाद और छायावादोत्तर कविता का गहन विश्लेषण किया है। साहीजी का मानना है कि, ''जिन राष्ट्रीय परिस्थितियों ने बंगाल में शरत्चन्द्र को जन्म दिया, उन्होंने हिन्दी में प्रेमचन्द्र को। कहने में जैसा भी विरोधाभास लगे- लेकिन प्रेमचन्द्र की आँखे कालिदास के अधिक निकट हैं। होशोहवास की दुरूस्ती की एक सीमा है जिसके बाहर छायावादी कवि निराला और प्रसाद भी कदम नहीं रखना चाहते। शरत् बाबू के 'देवदास' की तरह प्रसाद के कंकाल का 'विजय' भी, आदिम भावनाओं द्वारा ग्रस्त है, लेकिन भावना के उन तिमिराच्छन्न प्रदेशों का सफर नहीं करता जहाँ से बंगाल के लेखन की यात्रा शुरू होती है।''

साही जी की आलोचना का परिसर बहुत बड़ा है। वे हिन्दी की बात करते हुए संस्कृत, बंगाल और इंग्लैंड तक की यात्रा करते हैं। उनकी यह सांस्कृतिक और साहित्यिक यात्रा कहीं भी अस्वाभाविक नहीं लगती क्योंकि वहाँ सब कुछ सहज है।

धर्मनिरपेक्षता की खोज में हिन्दी साहित्य और उसके पड़ोस पर एक दृष्टि में साही जी की इस टिप्पणी पर गौर कीजिए - जिस ''आधुनिकता का पहला थपेड़ा हिन्दी में भारतेन्दु हरिचन्द्र को विचलित करता है। भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी साहित्य

के बाबा हैं। उनकी शिवधनुष जैसी प्रगतिशीलता के बारे में हिन्दी आलोचना के परशुराम कम्युनिस्ट आलोचक डॉ0 रामविलास शर्मा ने जो ललकारता हुआ श्रद्धा भाव व्यक्त किया है वैसी श्रद्धा पाने के लिए पंडित सुमित्रानन्दन पंत लाखों पुरस्कारों के बाद भी तरस गये।'' साही जी की भाषा शैली हिन्दी आलोचना के लिए एक मिसाल है। नामवरजी ने कबीर को हजारी प्रसाद द्विवेदी का कल्पसृष्टि कहा था।

उन्होंने 'दूसरी परम्परा की खोज' में स्वीकार किया था कि कबीर जैसे कवि का व्यक्तित्व-विश्लेषण द्विवेदी जी के मजबूत गद्य के बिना सम्भव ही नहीं था। इसी प्रकार मुझे लगता है कि मार्क्सवाद विरोधी स्टैण्ड पर चलने वाली हिन्दी आलोचना को खड़ा करना साही जी की शैली के बिना सम्भव ही नहीं था। एक ऐसी शैली जो श्रोता को ध्यान में रखकर लिखी जा रही है। नामवर जी और साही जी के भाषणों को ही यदि इकट्ठा करके प्रकाशित किया जाय तो मुझे लगता है कि हिन्दी आलोचना का एक नया रूप सामने आएगा। साही जी के मित्र उन्हें पक्के राग का गायक मानते थे। पक्के राग का गायक वह होता है, जो जल्दी में अपने राग का बंधान नहीं बाँध सकता। साही जी कभी भी न तो छोटे भाषण करते थे और न ही छोटा लेख लिखते थे। उनकी शैली ही ऐसी थी कि बात से बात निकलती चली जाय और उन बातों से लेख समाप्त होने के बाद भी नई बातें निकलने की सम्भावनाएँ बनी रहें।

साही जी ने इतिहास को साहित्य और सभ्यता का सबसे जरूरी अंग माना है। ठीक उसी तरह जिस तरह से वे राजनीति की अनिवार्यता को स्वीकार करते थे। इतिहास की जड़ता उन्हें पसंद नहीं थी और न ही इतिहास उनके लिए कभी सांस्कृतिक अतीत भर रहा। इतिहास उनके लिए उस अनिवार्य उपकरण की तरह है जो समकालीन राजनीति और जीवन की अनेक विसंगतियों की पहचान कराता है।

मुझे बराबर ऐसा लगता है कि हिन्दी आलोचना में शाही जी के यागदान पर जान बूझ कर एक खामोशी है। कई बार कई चीजों का विरोध करके उसके महत्व से इनकार किया जाता है तो कई बार चुप रहकर। विरोध का यह सबसे खतरनाक चेहरा है।

ऐसा क्या है कि हम सिर्फ एक ही चश्मे से अपने साहित्य और संस्कृति को देखने की जिद करें। हम असहमत हो सकते हैं। कोई चाहे जितना बड़ा आलोचक हो ऐसा तो नहीं कि वहाँ सब कुछ आँख मूँदकर स्वीकार कर लेने की स्थिति है।

विजयदेवनारायण साही की रचनाएँ

01. राजनीति और साहित्य (जनवाणी अगस्त 1950)
02. साहित्य में गतिरोध
03. मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति (आलोचना-9)
04. काव्यधारा एक युयुत्सु समीक्षा (आलोचना-15)
05. साहित्यकार और उसका परिवेश
06. जनवादी साहित्य - 1
07. जनवादी साहित्य - 2
08. हिन्दी नाटक - आरम्भिक समस्याएँ
09. लेखकों का सुख-दु:ख : उग्रजी के नाम एक खत
10. हिन्दी की दो पीढ़ियाँ और युग परिवर्त्तन (राष्ट्रवाणी जून - 1956)
11. आजीविका और आश्रय (राष्ट्रवाणी अगस्त - 56)
12. नितान्त समसामयिकता का नैतिक दायित्व - 1 (राष्ट्रवाणी अक्टूबर-56)
13. नितान्त समसामयिकता का नैतिक दायित्व - 2 (राष्ट्रवाणी नवम्बर-56)
14. मैदान पर्वतमालाएँ और राजनगर (राष्ट्रवाणी अगस्त-57)
15. हाथ में टूटी तलवारों की मूठ
16. शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट (विवेचना-1)
17. हिन्दी के सृजनात्मक लेखन में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग (कल्पना जून - 64)

18. लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर बहस (नयी कविता संयुक्तांक 6-7)
19. हिन्दी गीत परम्परा का नया उत्थान (आलोचना- 7)
20. सलीके के किस्सा कहने की दुलर्भ कला - 'अलग-अलग वैतरणी' (आलोचना अप्रैल-जून 69)
21. पाश्चात्य प्रभावों के संदर्भ में वर्तमान काव्य भाषा की समस्याएँ (आलोचना-33)
22. साहित्यिक 'अश्लीलता' का प्रश्न (आलोचना - 17)
23. विदेशी सहायता और देश पर उसका प्रभाव
24. लोहिया और फर्रूखबाद का उपचुनाव (क ख ग)
25. प्रशासकों, अध्यापकों और छात्रों में अलगाव और खाइयाँ (शिविरा दिसम्बर - 69)
26. सन्तप्त शहर में तीन दिन (जनवरी- 60)
27. गोदान ('उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द्र' में संकलित)
28. वर्धमान और पतनशील ('कला और साहित्य' में संकलित)
29. साहित्य क्यों ? (साप्ताहिक हिन्दुस्तान' अप्रैल - 70)
30. इतिहास और परम्परा (माया - 65)
31. पुनर्मूल्यांकन किस आधार पर ? ('विवेचना' - 3)
32. धर्म सापेक्ष और धर्म निरपेक्ष तत्वों की तलाश हिन्दी साहित्य और उसके आस-पास ('दिनमान' 3,10,17 अक्टूबर - 71)
33. जनतान्त्रिक समाजवाद-सन्देह और उसका कारण ('जनवाणी' - 50)
34. राजनीति में साहित्यकार ('दिनमान' 20, 27 जनवरी - 67)
35. सांस्कृतिक परिवर्त्तन में पश्चिमवाद की कसौटी ('दिनमान' जुलाई - 72)
36. स्त्रूगा की काव्य सन्ध्याएँ ('बेलग्राड' 31-8-73)
37. आकाशवाणी में परिवर्त्तन पर कुछ सोच विचार
38. 'जायसी' (गोरखपुर में भाषण)
39. भाषा का अवमूल्यन

English Writing

01. Westernism-Cultural changes A critique
02. Social laws & the writer
03. Secular and nonsecular elements in Hindi Literature
04. European Literature & Hindi Fiction
05. The Little man's tourist guide
06. Belief in modern Indian Literature
07. Rishikesh Badrinath & Beyond
08. Aspects of cultural change in the Indian scene
09. Pantji's case in the preface to Chidmbara
10. John Mansfield
11. The writer & State Patronage
12. The non commitment of Charles Lamb
13. Citizen Complains
14. The writer : His personality & freedom
15. Hindi poetry : An outsider's report

निराला की 'सरोज स्मृति'

डॉ॰ मनोज कुमार

व्याख्याता हिन्दी विभाग, सुमित्र महिला महाविद्यालय, डुमरांव

'सरोज स्मृति' श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' द्वारा लिखित एक शोक रचना है। 'सरोज स्मृति' की रचना उन्होंने सन् 1935 ई॰ में की थी।

नरेन्द्र शर्मा की उक्ति कि–'वह हिन्दी का लेखक था, खून सुखाकर लिखता था!'' ये पंक्तियां महाप्राण निराला पर सटीक लगती है। यह हिन्दी साहित्य का सौभाग्य है कि इसके कविता कानन में सरस्वती-पुत्र 'निराला' कबीर के समान रूढ़ियों पर प्रहार करने की सूक्ष्म दृष्टि से समन्वित होकर सूर की निःश्छल तन्मयता एवं भावुकता के साथ कवीन्द्र रवीन्द्र की मनः स्वीता तथा बिहारी का कला सौंदर्य लेकर अवतरित हुए, किंतु यह हिन्दी साहित्य का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि इस महात्मा का जीवन भग्न आशाओं और पराजित लक्ष्यों का समाकलन रहा है–

''दुख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूं आज जो नहीं कही।''

दरअसल 'सरोज स्मृति' उनके दुःखमयी जीवन की एक दारूण दर्द भरी दास्तान है। इस कविता में उनकी समस्त करुणा सिमट आयी है। आलोच्य कविता हिन्दी साहित्य का अद्वितीय शोक गीत है। डॉ॰ राम विलास शर्मा उसकी महत्ता दर्शाते हुए लिखते हैं कि–''यूरोप की भाषाओं में ऐसा शायद ही कोई प्रभावशाली गीत हो जिसे कवि पिता ने अपनी पुत्री के निधन पर लिखा हो'' हालांकि उनका अभिप्राय शोकगीत का प्रणयन नहीं था। रेखा खरे के शब्दों में–''इस रचना के मूल में शोक गीत जैसी एक नयी काव्य-विद्या (हिन्दी काव्य के संदर्भ में) के प्रणयन का स्पृहणीय साहस न होकर अपनी एक मात्र पुत्री सरोज की असामयिक मृत्यु से उत्पन्न गंभीर विषाद की कविता के स्तर पर निस्संग अभिव्यक्ति थी।''

कविता का आरंभ सरोज के देहावसान के चित्रण से होता है और कवि की दार्शनिक दृष्टि इस देहावसान की शोक की आवेगात्मक तीव्रता से परे दिव्य स्तर पर पहुंचा देती है–

''ऊनविंश पर जो प्रथम चरण,
तेरा वह जीवन-सिंधु-तरण,
तनये, लि कर दृक्पात तरुण,
जनक से जन्म की विदा अरुण।
गीते, मेरी, तज रूप-नाम,
वर लिया अमर शाश्वत विराम।
पूरे कर शुचितर सपर्याय,
जीवन के अष्टादशाध्याय'

आलोच्य कविता में निराला जी की घनीभूत वेदना अभिव्यक्त है, साथ ही साहित्यिकों के प्रति समाज के निर्दयता का भी प्रकाशन हुआ है। इसके उपरांत कवि के संघर्षपूर्ण जीवन के साथ-साथ नानी की छत्र छाया में पलने लगी, और विवाह योग्य होने पर कवि ने समाज की चिंता किए बिना उसका विवाह चपं॰ शिव शेखर द्विवेदी से कर दिया। विवाह के कुछ समय उपरांत वह भयानक रूप से बीमार पड़ी। निराला उस समय पचास रुपये मासिक वेतन पर 'सुधा' में काम करते थे। अर्थाभाव के कारण

वे पुत्री का उचित उपचार न करवा सके। पुत्री की मृत्यु ने उन्हें वेदना से विह्वल बना दिया और उनकी वह सघन वेदना फफक पड़ी।

''धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका।
जाना तो अर्थागमों पाय,
पर रहा सदा संकुचित काय।
लख कर अनर्थ आर्थिक पथ पर,
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।''

इसी समय कवि को अपने वे संघर्ष याद आते हैं, जो उसने साहित्य के पथ में पग-पग झेले हैं। पर वह कभी नतमस्तक नहीं हुआ। उसे टूटना पसंद था, झुकना नहीं। उन दिनों कवि की यह स्थिति थी कि प्रकाशक और संपादक उनकी रचनाएं अस्वीकृत कर देते थे। कवि उदास हो उठता है–

''लौटी ले कर रचना उदास,
ताकता हुआ मैं दिशाकाश।
बैठा प्रान्तर में दीर्घ प्रहर,
व्यतीत करता था गुन-गुन-कर।
संपादक के गुण यथाभ्यास
पास की नोचता हुआ घास।
अज्ञात फेंकता इधर-उधर,
भाव की चढ़ी पूजा उन पर।''

उस कविता में ऐसे ही तिक्त, भुक्त यथार्थ और कटु सत्यों की अभिव्यक्ति हुई है। कवि मानो जीवन संसार से क्लान्त हो गर्दन मोड़कर अपने गत जीवन का सिंहावलोकन कर रहा है। जिसमें उसे अपनी पराजय और क्लांत के चित्र दिखाई पड़ते हैं। इस कविता में निराला का उद्यायत- व्यक्तित्व पराजित होकर भी संघर्षरत दिखलाई पड़ता है।

डॉ॰ रामविलास शर्मा के शब्दों में ''इस कविता में निराला जी ने चार पंक्तियां ऐसी सच्ची लिखी हैं जिनमें सारा जीवन केंद्रित हो गया है। उनका एक रूप अद्यायत और उत्साहित वीर का है जो मार्ग में नियति को भी चुनौती देता है''

''पढ़ लिखे हुए शुभ दो विवाह
हंसता था, मन में बड़ी चाह।
खण्डित करने को भाग्य अंक
देखा भविष्य के प्रति अशंक।''

उपर्युक्त पंक्तियां हिन्दी में निराला ही लिख सकते थे और भविष्य के प्रति अशंक होकर देखना उन्हें ही शोभा देता है। परंतु दुर्भाग्य कहा जाएगा कि वह भाग्य अंक खण्डित नहीं कर सके। इसलिए कविता के अंत में उस उदात्त गर्जन के बाद उसका वेदना जर्जर-हृदय चित्त्कार उठा–

''मुझ भाग्यहीन की तू संबल,
युग वर्ष बाद जब हुई विकल।
दु:ख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूं आज, जो नहीं कही!

इस अंतिम अंश में निराला की समग्र वेदना सिमट आयी है। पर इसके बाद जैसे स्नेह कातर पिता अपने को और अधिक वश में नहीं रख पाता–

''हो इसी कर्म पर, वज्रपात,
यदि धर्म रहे नत सदा साथ।

इस पथ पर, मेरे कार्य सकल,

हों भ्रष्ट शीत के-से शतदल!

कन्ये, गत कर्मों का अर्पण,

कर, करता मैं तेरा तर्पण।''

ऐसा लगता है श्मशान में निराला नहीं मानों निराला का प्रेत 'सरोज का तर्पण' कर रहा है। डॉ॰ रामविलास शर्मा का निम्नोकित कथन यहां प्रासंगिक होगा–'सरोज स्मृति का अंत 'राम की शक्ति पूजा' के आशावाद से नहीं होता। निराला नत मस्तक झुककर अपने कर्म पर वज्रपात सहने के लिए तत्पर होते हैं। शीत के भ्रष्ट होते हुए सतदल के समान वह अपने विफल कार्यों से कन्या का तर्पण करता है। यर्थाथ जीवन की यह एक नयी और कटु अनुभूति थी जो निराला हिन्दी को दे रहा था। यह एक ऐसा महानाटक था जो पाठक के हृदय में करुणा और सहानुभूति की सृष्टि करता हैं।''

जहां तक से आलोच्य कविता के शिल्पगत वैशिष्ट्य का सवाल है, रेखा खरे का यह कथन प्रासंगिक है–''सरोज स्मृति में सम-रचनागत कसावट की निति पर कवि ने वैयक्तिक व्यथा को विविध जीवन स्थितियों की सापेक्षता में अभिव्यक्ति दी है और इस प्रकार शोकगीत की संज्ञा संयुक्त इस कविता में जीवन के संघर्ष से छन कर आयी साहस, विद्रोह, वात्सल्य, अवसाद, ग्लानि की मिली-जुली अनुभूतियां उद्‌भूत होती है।''

नव गति, नव लय, ताल छंद नव,

नवल कंठ, नव जलद मंडरव।

नव नभ के नव विहग वृन्द को,

नव पर नव स्वर दे–का श्रुति गान करने वाले निराला ने नि:संदेह अपने काव्य में इस सत्य को उतारा भी है। मुक्त छंद का विरोध होने पर भी उन्होंने छंद का बंधन काट कर काव्य को ज्योतिर्मय किया है। सरोज स्मृति मुक्तक छंद की प्रतिनिधि कविता है। इसमें स्वर का उत्थान-पतन और उसके सहज प्रवाह द्वारा भाव प्रदर्शन इसकी विशेषता है।

इस कविता की सबसे बड़ी विशेषता है–

इसका प्रवाह पूर्ण पाठ। कविता पाठ की स्वाभाविता अद्‌यंत बनी हुई है। डॉ॰ रामविलास शर्मा ने कविता स्वर प्रवाह के संबंध में लिखते हैं–''छंद वृहद रचनाओं में स्वर-प्रवाह में यथेष्ठ वैचित्रय रहता है। निराला तुकान्त छंदों की पंक्तियों की सीमा लांघते हुए भाषा की स्वाभाविक यति-गति के अनुसार पढ़ते हैं। सरोज स्मृति का पाठ करते हुए जहां विराम लगा होता है, वहीं रुकते हैं, चाहे विराम पंक्ति के बीच में हो चाहे अंत में।''

इस दृष्टि से 'सरोज स्मृति' शोक गीत होने के कारण रस प्रधान कविता है। इसमें कुल 138 पंक्तियां हैं जो शोक गीत के स्वीकृत स्वरूप से अधिक हो कर भी शोक गीत है, जो कि निर्विवाद है।

निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि भाव और शिल्प की दृष्टि से समस्त उत्संगों में अद्वितीया अनामिका कहलाने वाली आलोच्य कविता का महत्व आद्वितीय है। जहां कवि अपना दु:ख कहते-कहते स्वत:अवरुद्ध हो, स्तम्भित हो फफक पड़ता है, वहां इसकी अपरिमेय वेदना का विश्लेषण किसी समीक्षक की कलम के बाहर की बात है–दु:ख ही जीवन की कथा रही क्या कहूं? आज जो नहीं कही।

संदर्भ सूची

1. निराला कवि-छवि संपादक नंदकिशोर नवल- प्रकाशन संस्थान सन् 2004 ।
2. निराला की कविताएं मूल्यांकन और मूल्यांकन- स॰ परमानन्द श्रीवास्तव। नीलाम प्रकाशन-1996
3. निराला और मुक्बिोध चार लंबी कविताएं- नन्द किशोर नवल राधाकृष्ण प्र॰ 1993 ।
4. कविता के नये प्रतिमान-नामवर सिंह- राजकमल प्र॰ प्रथम स॰ 1968 ।
5. निराला की साहित्य साधना-भाग 2- डॉ॰ रामविलास शर्मा राजकमल प्र॰ ।
6. निराला कृति से साक्षात्कार पहला खण्ड- सारांश प्रकाशन नई दिल्ली।

भूमंडलीकरण के दौर में गबन

शिप्रा प्रभा

किसी भी बड़े रचनाकार की यह महती विशेषता होती है कि किसी भी काल, युग में उसकी कृतियां पुरानी नहीं पड़ती हैं। समय उन रचनाओं में अपने लिए नई अर्थव्यवस्थाएं, नये प्रयोजनों का संधान करता है। आज के उपभोक्तावादी फैशनपरस्त और आभूषणप्रिय समाज में प्रेमचंद का 'गबन' हमारे सामने नए द्वार खोलता है, विशेषत: तब जब हमें अपने छोटे-से नगर के मुख्य बाजार से हटकर मुहल्ले और कॉलोनी वाले बाजारों में हर वर्ष स्वर्णकारों की दो-चार नई दुकानें, भले ही बड़े शो रूम्स के मुकाबले व छोटी हों, खुलती दिखाई देती हैं और वे धड़ल्ले से चल भी निकलती हैं। मुख्य बाजारों के स्वर्णाभूषणों के बड़े व्यापारिक संस्थान तो खूब चलते ही हैं, नित्य वे अपनी शाखाएं नए-नए बाजारों, मॉल्स में खोलते रहते हैं।

'गबन' का पुनर्पाठ प्रेमचन्द के नये अर्थ का सन्धान करता दिखाई देता है। आज के उपभोक्तावादी समय में लालसाएं जिस तरह आसमान को छू रही हैं, आकाश ही उनकी सीमा है। जिस प्रकार विज्ञापन और विपणन की नयी-नयी नीतियां डिजाइनर आभूषणों और वेशभूषाओं के लिए लालसाएं जगा रही हैं–मनुष्य को अपने साधनों से बाहर जाकर आकर्षक उत्पादों को आयात करने के लिए तरह-तरह के भ्रष्टाचार, कदाचार, धंधलियों में संलिप्त करती जा रही हैं, इन्हीं स्थितियों का शिकार रमानाथ, जालपा और कुछ अंशों में रतन भी होते हैं–अपने साधनों की सीमा का ध्यान किये बिना 'सब कुछ' को प्राप्त करने की लालसा और जुगतें आज के समय की विडम्बना, विद्रूपमयी स्थितियां हैं। 'गबन' की कथा केवल प्रेमचन्द के समय (1930-31 ई॰) की न रहकर वर्तमान की कथा बन जाती है उसमें अतीत और वर्तमान एक बिंदु पर आ खड़े होते हैं।

'गबन' जिस रूप में आभूषण-प्रियता के खिलाफ खड़ा होता है, वह आज के उत्तर आधुनिक समय में बाजारवाद के खिलाफ एक पूरे आंदोलन का-सा रूप ले लेता है। वह जिस रूप में जालपा को 'प्यार करने की वस्तु से उपासना की वस्तु बनाने' का चरित्रांकन कौशल दिखलाता है, वह इस उपभोक्तावादी समय में त्राण की दिशा में एक प्रतिरोधी स्वर बनकर हमारे वर्तमान को एक दृष्टि प्रदान करता है। जालपा के चरित्र की गढ़न में प्रेमचन्द बहुत कुशल शिल्पी होने का परिचय देते हैं। वास्तविकता से पूरी तरह अनभिज्ञ स्त्री जब असलियत जान जाती है तो उसका रमणी-रूप ऐश्वर्य और भोग का पूरी तरह परित्याग कर एक सात्विकता में ढल जाता है, उसकी पूरी सोच एक रूपांतरण प्राप्त कर लेती है। उसे समझ में आ जाता है कि 'विलास वृत्ति संतोष करना नहीं जानती।' आज की 'स्व' का गौरव और दूसरों की ईर्ष्या ('ओनर्स प्राइड एण्ड नेवर्स एन्वी') के दर्शन को जीने वाली पीढ़ी को जालपा का चरित्र एक संदेश देता है।

गहनों से पेट न भरने और स्वर्णाभूषणों की दुकान पर खचाखच भीड़ के लिए प्रेमचन्द का यह कथन कितना सामयिक हो उठता है–''सब घरों का यही हाल है। जहां देखो–हाय गहने! हाय गहने! गहने के पीछे जान दे दें, घर के आदमियों को भूख से मारें, घर की चीजें बेचें। और कहां तक कहूं, अपनी आबरू तक बेच दें। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सबको यही रोग लगा हुआ हैं' यदि यह रोग न भी लगे तो आज उपभोक्तावाद को बढ़ावा देती कंपनियां, बैंक-सभी आपको ऋण देने के लिए आमादा बैठे हुए हैं–कई-कई फोन आपको किये जाते हैं, ब्याज-मुक्त कार, टी॰ वी॰, फ्रिज, ए॰ सी॰ घर बैठे ले लो।

बैंक आपसे मनुहार कर रहे हैं कि हमसे 'लोन' ले लो और प्रेमचन्द समझा रहे हैं–'कर्ज से बड़ा पाप दूसरा नहीं। न इससे बड़ी विपत्ति है। जहां एक बार धड़का खुला कि आये दिन शराब की दुकान पर नजर आओगे।' प्रेमचन्द यूरोप की इस जीवन-पद्धति से प्रभावित नहीं होते-''यूरोप के लोग धनी हैं, उन्हें लुटाना शोभा देता है, हमें नहीं, हम दरिद्र हैं, हमारी कमाई का एक पैसा भी फिजूल खर्च न होना चाहिए।'' आज ओढ़ने-पहनने और सजने में जीवन की जो प्राथमिकताएं बदल गयी हैं, वह चिंता 'गबन' में भी है–''जिन्हें सवेरे का जलपान तक मयस्सर नहीं होता, उन पर भी गहनों की सनक सवार है।'' गहने आज गहनों तक ही सीमित नहीं रहे, शरीर-प्रसाधन के वैविध्य-भरे उत्पादों का अम्बार नये-नये आकर्षण जगा रहा है।

जालपा का रतन के यहां पार्टी में जाने की तैयारी करना, सहसा ही 'किटी' पार्टियों के माहौल की तुलना कराने लगता है। आज विदेशी वस्तुओं, तरह-तरह के उत्पादों, का जो आकर्षण अभिजनों-एलीट्स में बढ़ रहा है, प्रेमचन्द स्वदेशी वस्तुओं और विदेशी वस्तुओं की तुलना कर, इस समस्या से जूझते हैं–''विलायती शराबें उड़ाओ, विलायती मोटरें दौड़ाओ, विलायती दवाइयां पियो, परदेश के नाम को रोये जाओ।''

कभी आश्चर्य होता है यह देख कर कि प्रेमचन्द की क्रांतिदर्शी रचनाकार कैसे आगत की इतनी सजीव-सटीक कल्पना कर सका है। 'स्वराज' की परिकल्पना पर वे अपने वक्त के नेताओं-कुलीनों को लताड़ते हैं–''तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाठ बनाये घूमोगे, इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा। अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जाएगा, तब तो तुम गरीबों को पीसकर पी जाओगे।'' प्रेमचन्द का भद्र समाज आज के भद्र समाज से कुछ बहुत ज्यादा अलग नहीं था, अंतर केवल भावगत आया है, प्रवृत्तिगत स्थितियां जस की तस है।

प्रेमचन्द के विचारों, की प्रगतिशीलता और आधुनिकता पूर्ण दृष्टि से परिचय के लिए उनके 'स्त्री-विमर्श' को गहरे पैठ कर देखना चाहिए। जालपा, रतन, जग्गो जैसे चरित्रों के माध्यम से उन्होंने स्त्री-स्वातन्त्र्य और अस्मिता के ऐसे सवाल खड़े किए हैं जिनसे आज 'स्त्रीवाद' निरंतर जूझ रहा है। स्त्री की स्वाधीनता को वह देश की सभ्यता का मापक मानते हैं, रतन की वकील पति इस मान्यता की प्रतीति कई तरह से देता है। वह न केवल विधवा विवाह के पक्षधर हैं उन्हें विदेशों की भांति 'सत्तर वर्ष की वृद्धाओं' के 'युवकों से विवाह' पर भी आपत्ति नहीं है। शायद ऐसी खुली दृष्टि इधर से स्त्रीवादी विमर्श के उपन्यासों में भी नहीं है–'मनुष्य को कभी किसी सहगामिनी' की जरूरत होती है तो वह बुढ़ापे में, जब उसे हरदम किसी अवलंब की इच्छा होती है, जब वह परमुखापेक्षी हो जाता है।'

'गबन' में हमारे समय के लिए, हमारी समस्याओं में पैठ के लिए और कई प्रसंग हैं। जग्गो के यहां की 'प्रेम की रोटियां' जिनमें 'अमृत का निवास' है, रमा को खिलाकर प्रेमचन्द छुआछूत और जातीयता की संकीर्ण दीवारों को तोड़ने का उपक्रम करते हैं। रमा को पुलिस के चंगुल में दिखाते हुए वे आज के पुलिसिया हथकण्डों को साक्षात् कर देते हैं। भारतीय पुलिस का सनातन चरित्र उजागर हो उठता है। कथा के विन्यास में विचारों की मधुवेष्ठित (शुगर कोटेड) खुराक देने में प्रेमचन्द का सानी नहीं। इस कला का एक बहुत उत्कृष्ट रूप तब दिखाई देता है जब प्रेमचन्द अपने गहन-चिंतन को कुछ सहज उपमाओं, दृष्टांतों, सूक्तियों आदि में मोतियों के रूप में पाठक को देते हैं–'विजय बहिर्मुखी होती है, पराजय अंतर्मुखी', 'भूखा आदमी इच्छापूर्ण भोजन चाहता है, दो-चार फुलकों से उसकी तुष्टि नहीं होती', 'वियोगियों के मिलन की रात बटोहियों के पड़ाव की रात है, जो बातों में कट जाती है।' अद्‌भुत कथा-कौशल में बुनी गयी यह औपन्यासिक कृति आज भी नयी है, कल भी रहेगी।

संदर्भ सूची

1. बाल मनोवैज्ञानिक प्रेमचन्द- विजय कुमार शर्मा।
2. भारतीय जनजागरण और प्रेमचन्द्र का उपन्यास- सत्यवती मितल।
3. हिन्दी पत्रकारिता- प्रेमचन्द और हंस - रत्नाकर पांडेय।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता का सामान्य परिवेश

शशांक शेखर

शोध छात्र–वीर कुंवर सिंह, विश्वविद्यालय, आरा

'छायावादोत्तर हिन्दी कविता' को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है, इसे 'जवानी का काव्य' अगंभीर काव्य, मस्ती का काव्य कहकर सतही व्याख्या की गई है। मुझे इस प्रसंग में नामवर सिंह का वह कथन याद आता है। उस काल के संश्लिष्ट एवं जटिल रूप को न देखकर अपनी सुविधा के लिए हम उस पर एक इकहरा ढांचा आरोपित करते हैं।

उन्होंने यह भी कहा है कि उत्तर छायावादी या छायावादोत्तर काल को केवल पांच-छः गीतकारों के नाम के साथ जोड़कर देखना ठीक नहीं है, क्योंकि यह वही काल है, जिसमें निराला का एक महत्वपूर्ण परिवर्तित रूप दिखलाई पड़ता है, जिसमें प्रगतिवादी का उदय हुआ, प्रयोगवाद का उदय हुआ, 'तार-सप्तक' रचा गया।[1] उत्तर छायावाद युग की कविता की यह महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जा सकती है कि हिन्दी कविता का विकास ''काव्य शैली'' की ही दिशा में न होकर काव्य की अर्थ भूमियों के प्रसार की दिशा में भी हुआ। निराला 'कुकुरमुत्ता', महँगू महँगा रहा, जैसी कविता लिखकर समाज के निम्नवर्ग की दारूण स्थिति का वर्णन कर रहे थे, पंत ने तो युगांत की घोषणा ही कर दी थी।

मेरी कोशिश छायावादोत्तर कविता का मूल्यांकन करना या उपलब्धियां गिनाना नहीं है। मेरी कोशिश है उस काल की सृर्जनात्मकता को समझना और युग के मिजाज की पड़ताल करना है। कवि मानस और काव्य संवेदना की पड़ताल के लिए 1936 से 1946 तक के संपूर्ण साहित्यिक परिदृश्य को रेखांकित करने की आवश्यकता है। क्योंकि यह परिवर्तन आकस्मिक नहीं हुआ सिर्फ कवियों के भावबोध ही नहीं बदले, विषयवस्तु के साथ-साथ रूप-तत्त्व में भी परिवर्तन हुआ। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि ''वर्तमान हिंदी कविता का प्रवाह अनेक धाराओं में होकर चल रहा है।''[2]

हम गिरजा कुमार माथुर के इस कथन से सहमत हैं कि ''छायावादोत्तर काल में हिन्दी कविता में जितनी 'उथल-पुथल' हुई और जिन विविध रितियों से वह झकझोरी गयी उतना आलोड़न पहले किसी काल में नहीं हुआ।''[3]

डॉ॰ नन्दकिशोर नवल ने इसी संदर्भ में लिखा है ''उत्तर छायावादी कवि विगत शताब्दी के चौथे दशक में उभरकर सामने आए थे। यह दशक बहुत ही उथल-पुथल से भरा हुआ था। प्रथम स्वतंत्रता दिवस, द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन, गांधी-इरविन समझौता, आंदोलन की वापसी, कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों का निर्माण और पतन, साम्प्रदायिकता की वृद्धि तथा समाजवादी विचारों का प्रसार ये घटनाएं देश में घट रही थीं। इसी तरह अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति यह थी कि एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के देशों में साम्राज्य-विरोध जोर पकड़ रहा था और यूरोप में न केवल फासिज्म का उदय हो चुका था, बल्कि द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत भी हो चुकी थी। उत्तर-छायावादी कवियों ने पूर्ण गंभीरता से आशा-निराशा से भरी इन्हीं परिस्थितियों को वाणी दी और हिन्दी कविता को देश और विश्व के व्यापक यथार्थ से जोड़कर उसे जनता तक पहुंचा दिया, क्योंकि इसी में उसकी सार्थकता थी।''[4]

उत्तर-छायावादी परिदृश्य की प्रतिनिधि मानसिकता की सहज अभिव्यक्ति है:–

हम दीवानों की क्या हस्ती, है आज यहां कल वहां चले।

मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहां चलें।।

बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन', दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', गोपाल सिंह नेपाली, राम गोपाल शर्मा 'रुद्र' में भी यह मस्ती पाई जाती है। इन्हीं कवियों में 'कलक्टर सिंह केसरी', आरसी प्रसाद सिंह, जानकी वल्लभ शास्त्री और हंस कुमार

तिवारी को शुमार करना संगत प्रतीत होता है क्योंकि बिहार की रचनात्मकता को विकसित और प्रतिष्ठित करने में इनकी अहम् भूमिका है।

आरसी प्रसाद सिंह की प्रसिद्ध कविता 'जीवन का झरना' की पंक्तियां देखें–

यह जीवन क्या है? निर्झर है,

मस्ती ही इसका पानी है।

सुख दुख के दोनों तीरों से

चल रहा राह मनमानी है।

'वैरागी का गीत' कविता में रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' लिखते हैं 'मैं तोड़ चला सारे बंधन, सब छोड़ चला जो प्यारा है। 'लो आज सभी कुछ लो साथी। यह सब कुछ आज तुम्हारा है।' उल्लासमय फक्कड़पन यानी मस्ती के आलम के गीतों की प्रवृत्ति को समाज विरोधी नहीं कह सकते क्योंकि ये कवि व्यक्तिगत अनुभूतियों के स्तर पर सही व्यवस्था की जकड़न का विरोध करते हैं। इनमें से अधिकांश कवि कवि सम्मेलनों में बहुत लोकप्रिय हुए। नामवर सिंह ने तथ्यात्मक टिप्पणी की है ''बच्चन को जो लोकप्रियता मिली, वह पंत के लिए केवल सपना थी।''[5] विजयदेव नारायण साही ने ऐतिहासिक तथ्य का बोध कराया है ''बच्चन और भगवती चरण वर्मा दोनों ही 'लोकप्रियता' में बेजोड़ हैं। कहते हैं कि किसी समय देवकी नन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' लिखकर हजारों (या लाखों?) लोगों को उर्दू छोड़कर हिन्दी पढ़ने को विवश कर दिया था। कविता में यदि उस क्रांति का कोई जोड़ है तो वह बच्चन की 'मधुशाला' है। अधिक से अधिक पाठकों को सामयिक कविता का चस्का लगाने का श्रेय जितना अकेले बच्चन को है, उतना किसी अन्य कवि को नहीं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। उसी अनुपात में पिछले अस्सी वर्षों में कविता का जितना व्यापक शौक तीसरे दशक ने पैदा किया, उतना शायद किसी अन्य युग में संभव नहीं हुआ।''[6]

हरिवंश राय बच्चन की कविताओं को 'हालावाद' की संज्ञा दी गई है। उमर खैय्याम के जीवन-दर्शन नियतिवाद और भोगवाद का प्रभाव बच्चन एवं अन्य छायावादोत्तर कवियों पर परिलक्षित होता है।

विजयदेव नारायण साही ने गंभीर प्रश्न उठाया है ''न जाने क्यों बच्चन के मधुकलश की चर्चा उतनी नहीं हुई, जितनी उनकी मधुशाला, निशा निमंत्रण और एकान्त संगीत की। न सिर्फ उस पुस्तक मे उस युग की काव्यात्मक अनुभूति की काफी बड़ा खजाना है, बल्कि उस काल की प्रधान कालात्मक-समस्याओं की कुंजी भी है, जिसके बगैर उस युग को नहीं समझा जा सकता। यों भी, मेरी समझ में हिन्दी की लंबी कविताओं में-मधुकलश की कविताएं बेजोड़ हैं।[7]

विजयदेव नारायण साही ने जिन तथ्यों के आधार पर उत्तरछायावादी कवियों को अगंभीर और जवानी का कवि बताया है उसे ठीक से विश्लेषित भी किया है एक शोधार्थी के रूप में महसूस करता हूं कि यह एक तर्कसंगत साक्ष्य बनता है जिसकी व्याख्या भी उसी रूप में की गई है। विजयदेव नारायण साही ने कहा है ''बेशक बच्चन, दिनकर आदि में रोमांटिक कवियों जैसा भावना का तनाव और निपट गंभीरता नहीं मिलती। वस्तुतः गंभीरता का ह्रास इस नयी 'सहज' मनोभूमि की विशेषता है। इतना ही नहीं, मनुष्य का मन भी खण्डित हो गया है। मन के विभाजन का आविष्कार इस युग की विशेषता है।''[8]

विजयदेव साही ने इस प्रसंग में यह भी लिखा है ''बच्चन की रूपकोत्तियां, दिनकर का रिटॉरिक, भगवतीचरण वर्मा की लापरवाही दीवानगी, नवीन का वलबला, अंचल का उबाल, नरेन्द्र शर्मा का नफीस ऐश्वर्य-इन सब में गंभीरता के अभाव की छाया है। कुल मिलाकर लगता है, जैसे अंग्रेजी कवि लार्ड बायरन के पचासों टुकड़े कर दिये गये हों और उनमें से कुछ-कुछ टुकड़े इन तमाम कवियों की 'जवानी' में अलग-अलग जज्ब कर दिये गये हों।''[9] उस युग की मनोभूमि को जानने के लिए पंडित नेहरू की विराट रिक्तता के एहसास को समझना, छानबीन करना आवश्यक है।

विजयदेव नारायण साही ने लिखा है ''यह विराट् रिक्तता सिर्फ नेहरू की नहीं, उस युग में पूरे देश की केंद्रीय समस्या है, जिसका उत्तर देने की, या जिस पर भावनात्मक विजय प्राप्त करने की कोशिश उस युग की हिन्दी कविता करती है: और जिस प्रयास में 'साधारण मानव' का रूप निर्मित होता है। बच्चन के मधुपायी में वह रिक्तता है, भगवतीचरण के बीजगुप्त में भी यह रिक्तता है, प्रगतिवादी चीख में भी वह रिक्तता है, इतना ही नहीं, उसी युग में लिखी गयी प्रसाद की 'कामायनी' के

मनु में भी वही रिक्तता है, जो कहीं गहरे गुजलक मार कर बैठी है।''[10] नामवर सिंह ने इसी प्रसंग में लिखा है कि जिस अशांति, घुटन, कुंठा, कशमकश, निरुपायता आदि का अनुभव नेहरू कर रहे थे, वही गूंज इस दौर के नए बुद्धिवादी कवियों में भी सुनी जा सकती है। इसके आगे महत्वपूर्ण वक्तव्य दिया है कि ''वस्तुत: छायावादी नैतिक विजन'' का जादू टूटने पर हृदय और बुद्धि के अलगाव के रूप में मन का जो विभाजन हुआ उससे उत्पन्न 'रिक्तता' और 'संकट' की चुनौती 1938 के आसपास के सभी कवियों के सामने थीं।''[11] रामस्वरूप चतुर्वेदी ने गंभीर तात्विक दृष्टि का परिचय देते हुए लिखा है ''इन कवियों की मन: स्थिति कई प्रकार के तत्वों से बनी थी। एक ओर लंबी पराधीनता की निराशा, दूसरी ओर जवानी का अधीरज, बीच में प्रणय, स्वाधीनता और मानव मुक्ति के सपने। इन सबने मिलकर उत्तर-छायावादी कवियों में एक खास तरह का नियतिवाद विकसित कर दिया था। भाग्य की व्यक्तिगत अवधारणा में इतिहास की व्यापक शक्ति को जोड़ने पर नियति का रूप बनता है।''[12]

नामवर जी कहते हैं कि अज्ञेय ने युग के औसत मिजाज के बारे में उल्लेखनीय बातें कहीं है और 1937-38 के समय को संशय का युग, अस्वीकार का युग तथा आत्म-अन्वेषण का युग कहकर युग के मिजाज को काफी हद तक परिभाषित किया।''[13]

यह विचार नकारात्मक नहीं बल्कि विचारणीय है। नामवर सिंह ने लिखा है कि अज्ञेय से महत्वपूर्ण यक्ष यथार्थवादी रुझान एकदम अनदेखा चला गया है इसके आगे इन्होंने लिखा है ''प्रगतिशील साहित्य की इस यथार्थवादी भूमिका की उपेक्षा करके 1938 के संक्रमण-युग को समझना असंभव है। तथ्य है कि हिन्दी कविता को उस समय जो कवि नया मोड़ देने का प्रयास कर रहे थे, वे चाहे तार-सप्तक में संकलित हुए हों या उससे बाहर रहे हों, सभी किसी-न-किसी रूप में प्रगतिशील चेतना से अपने-आपको संबद्ध अनुभव करते थे।''[14]

शिवदान सिंह चौहान का कथन भी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है ''उत्तर छायावादी युग के अनेक तरुण कवि प्रगतिवादी प्रेरित नये जीवनादर्श और जनमंगल के उत्साह भरे गीत गाते हुए सामने आये। इनमें नरेन्द्र शर्मा तो थे ही शिवमंगल सिंह 'सुमन' केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, नागार्जुन, रांगेय राघव, रामदयाल पाण्डेय प्रमुख थे। अनेक छायावादी ढर्रे के तरुण कवियों शंभूनाथ सिंह 'रसिक', विद्यावती 'कोकिल', आदि में प्रगतिशील विचारों की अनुगूंज सुनायी दी।

गांधीवादी कवियों-सोहनलाल द्विवेदी, सुधीन्द्र आदि ने भी नये विषयों पर कविताएं लिखी, यहां तक कि चेतना से आक्रांत अनेक प्रयोगवादी कवि गिरजा कुमार माथुर, गजाननमाधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, प्रभाकर माचेव, रामविलास शर्मा आदि भी प्रगतिशील धारा से अप्रभावित न रह सके। दूसरे महायुद्ध के पांच-छ: वर्षों के बीच हिन्दी में प्रगतिशील कविता का ही सर्वाधिक जोर रहा।

.....लेकिन तरुण प्रगतिशील कवि स्वतंत्र रूप से किसी नये काव्यादर्श का अभी सम्यक् विकास भी न कर पाये थे कि उन्होंने राजनैतिक दलबंदी की मतवादों और संप्रदायिक संकीर्णताओं में पड़कर अपनी काव्य प्रतिभा को स्वयं ही कुंठित कर डाला।''[15]

कहना न होगा कि उत्तर छायावाद युग की कविता का विकास छायावाद के ''काल्पनिक रोमान, व्यक्तिवादी निराशा और आध्यात्मिक पलायन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ।'' सन् 30 से 35 तक का समय एक प्रकार से संक्रांति का समय था जिसकी परिणति निराशा में हो रही थी। सामाजिक तथा राजनीतिक स्तर पर इस समय की भावभूमि का विश्लेषण किया जाए तो तत्कालीन समूचा युग एक निराशात्मक परिणति में विलीन होता हुआ लक्षित होता है और बच्चन, अंचल तथा नरेन्द्र शर्मा की कविताओं में व्यक्त रुग्णाक्षयी निराशा, पस्ती, मृत्यु-पूजा आदि प्रवृत्तियां इसी स्थिति का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रतीत होती है।

अपने युग के निराशावाद की व्याख्या करते हुए 'प्रवासी के गीत' के वक्तव्य में नरेन्द्र शर्मा का कहना है-''ब्रिटिश सत्ता के कारण हमारे समाज के वर्गीकरण कुछ ऐसे ढंग से हुआ कि हमारे कवियों तथा अन्य साहित्यिकों को किसी भी वर्ग में स्थान न मिल सका.....ऐसी अवस्था में कवियों का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था। निराशावादियों और नियतिवादियों के आगमन से हिन्दी गीतिकाव्य का उत्तरार्ध शुरु होता है।''[16]

छायावादी काव्यधारा के समानांतर राष्ट्रीय भावनाओं की एक काव्यधारा चल रही थी जिसे डॉ॰ नागेन्द्र ने राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता कहकर छायावादोत्तर युग की स्थायी उपलब्धि माना है। डॉ॰ नामवर सिंह ने लिखा है कि ''जिस प्रकार आजादी की

लड़ाई के दिनों में प्रसाद, निराला आदि छायावादी कवियों ने मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी आदि राष्ट्रवादी कवियों से बेहतर राष्ट्रीय कविताएं लिखीं, उसी तरह नए कवियों ने भी इस विषय पर अंग्रेजों से बेहतर रचना की।''[17]

माखनलाल चतुर्वेदी की ''पुष्प की अभिलाषा'', श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता ''झांसी की रानी'', मैथिलीशरण गुप्त की ''साकेत'', दिनकर की ''कुरुक्षेत्र'', परशुराम की प्रतीक्षा ''हुंकार'', संग्रह की कविताओं का एक अपना वैशिष्ट्य है जिसे युग के परिप्रेक्ष्य में बेहतर समझा जा सकता है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने स्वाधीनता आंदोलन की विविध मनः स्थितियों पर उद्‌बोधपरक और मार्मिक कविताएं लिखी हैं। ''आज खड्‌ग की धार कुंठिता''और ''कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ'' आदि प्रसिद्ध कविताएं हैं।

नरेन्द्र शर्मा के ''मिट्‌टी और फूल'' रक्त चन्दन और अग्निश्य की अनेक कविताएं यह बतलाती हैं कि उत्तर छायावादी कवियों में तीव्र प्रेम और श्रृंगार भावना के साथ-साथ बहुत तीक्ष्ण सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना भी था। नरेन्द्र शर्मा स्वाधीनता आंदोलन के सिलसिले में जेल गए और पंत के साथ रुपाभ पत्रिका का संपादन भी किया।

विश्वयुद्ध के दिनों में बच्चन ने ''आकुल अंतर'' और विकल विश्व'' नाम से गीत मालाएं लिखी हैं जिसमें शायद ''विकल विश्व'' अप्रकाशित है। बंगाल के अकाल पर ''बंगाल का काल'' और ''बापू'' की हत्या पर 204 गीत बच्चन ने लिखें हैं, जिसमें ''सूत की माला'' और ''खादी के फूल'' बहुत प्रसिद्ध हैं।

'बच्चन' ने बापू के मृत्यु पर लिखा है देखें

यह गांधी मरकर पड़ा नहीं धरती पर,

यह उसकी काया, काया होती है नश्वर

गांधी संज्ञा वह है जो जग में अजर अमर दी उसने केवल जीवन की चादर उतार।

सोहन लाल द्विवेदी ने भारतीय जनता पर गांधी के प्रभाव का वर्णन इस प्रकार किया है:-

चल पड़े जिधर दो पग मग में चल पड़े कोटि पग उसी ओर।

नरेन्द्र शर्मा का काव्य संग्रह 'रक्त चंदन' दिनकर की बापू सभी में गांधी जी की हत्या से उपजे शोक को बड़ी मार्मिकता से अंकित किया है।

आजादी बाद भारत की सबसे बड़ी घटना राष्ट्रपिता की हत्या है और सबसे बड़ी समस्या है राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार का आबाध प्रवेश। 1934 में कांग्रेस से इस्तीफा देते हुए अपने ऐतिहासिक वक्तव्य में गांधी जी ने संस्था में बढ़ते हुए दूषण की चर्चा की थी।''[18]

इस दौर के बौद्धिक नए कवियों पर जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण का प्रभाव लक्षित होता है। सन् 1927 में जब करीब डेढ़ वर्ष के उपरांत यूरोप से नेहरू भारत लौटे तो वह समाजवादी विचारों से काफी प्रेरित थे। आते ही उन्होंने कांग्रेस में युवक दल की स्थापना की भी और समाजवादी विचारों के प्रचार में भी योगदान दिया। 1951-59 के बीच नेहरू युग के अंत विरोध असली रूप में सामने आने लगे और कुछ ही दिनो बाद यह स्पष्ट हो गया कि जिसे स्वाधीनता प्राप्ति के आरंभिक दौर में 'सत्य' समझा जा रहा था, वह वस्तुतः 'भ्रम' था।

नामवर जी ने लिखा है कि ''कहना होगा कि ऐतिहासिक 'भ्रम' के बावजूद नई कविता ने उनके महत्वपूर्ण रचनात्मक कृतियों की सृष्टि की। किंतु इस युग का श्रेष्ठ एवं सार्थक कृतित्व वह है जो इस 'भ्रम' से कम से कम ग्रस्त थे या एकदम मुक्त था।''[19]

इस तरह विचारपूर्वक छायावादोत्तर हिन्दी कविता का अनुशीलन करने से जो तथ्य सामने आता है कि सन् 37 में 'रुपाभ' का प्रकाशन छायावाद की परिसमाप्ति की सूचना देता है तथा नयी प्रतिभाओं के लिए नयी दिशाएं प्रशस्त करता हुआ प्रतीत होता है। 'हंस', 'विशाल-भारत' जैसी पत्रिकाएं इस परिवर्तन का उद्‌घोष करती हैं।

अज्ञेय द्वारा सम्पादित सप्तकों का ऐतिहासिक महत्व है, जिसने काव्य धारा को मोड़ने का प्रयास ही नहीं किया बल्कि काव्य को गरिमा भी प्रदान की।

अपनी बात मैं नामवर सिंह के कथन से समाप्त करना चाहूंगा क्योंकि यह मुझे संगत प्रतीत होता है। छायावादोत्तर काल की यह सार्थक काव्य-सर्जना उस नई कविता के गिर्द हुई है जो उस काल की मुख्य काव्यधारा रही है–स्पष्ट ही यहां नई कविता से आशय प्रगति और प्रयोग दोनों के कल्पित कगारों को तोड़ती हुई समग्र नई काव्य धारा से है।''[20]

सहायक ग्रंथ-सूची

1. उत्तर छायावाद और रामगोपाल शर्मा 'रूद्ध'–नंद किशोर नवल प्रकाशन संस्थान पृष्ठ 20 प्रथम संस्करण 2008
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास–रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ 502 प्रकाशन सं॰ सन् 2002
3. नयी कविता का भविष्य–गिरजा कुमार माथुर आलोचना (प्रै॰) 12 पृष्ठ 42
4. उत्तर छायावाद और रामगोपाल शर्मा 'रूद्ध'–नंद किशोर नवल पृष्ठ 19
5. कविता के नये प्रतिमान–नामवर सिंह राज कमल प्र॰ पृष्ठ 87
6. नयी कविता खण्ड (1) लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर बहस पृष्ठ 199
7. वही, लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर बहस पृष्ठ 203 लोक भारती प्रकाशन प्र॰ सं॰ 2000
8. वही, लेखक विजयदेव नारायण साही पृष्ठ 203 प्रथम संख्या 2000
9. वही, पृष्ठ संख्या 219
10. वही, पृष्ठ संख्या 200
11. कविता के नये प्रतिमान–नामवर सिंह पृष्ठ 87 राजकमल प्रकाशन
12. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-पृष्ठ 189 रामस्वरूप चतुर्वेदी लोक भारती प्रकाशन
13. कविता के नये प्रतिमान–डॉ॰ नामवर सिंह पृष्ठ 84 राजकमल प्रकाशन
14. वही, पृष्ठ 85
15. काव्यधारा पृष्ठ 44 सन् 1954 शिवदान सिंह चौहान
16. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास पृष्ठ 189 लोक भारती प्रकाशन
17. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ 63 नामवर सिंह राजकमल प्रकाशन
18. डॉ॰ पट्टाभि सीतारामय्या, कांग्रेस का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 464 पर उद्धत
19. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ 91 नामवर सिंह
20. वही, पृष्ठ 64

भारतीय राजनीति में गाँधी जी का योगदान

डॉ० राजीव सिंह कनौजिया

एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, राजकीय स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, रामनगर, नैनीताल, उत्तराखण्ड

गाँधी जी जब दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे तो उस समय प्रथम महायुद्ध चल रहा था। गाँधी जी इस युद्ध में सरकार को सहायता देने के पक्ष में थे। अत: उन्होंने स्थान-स्थान पर भाषण देकर भारतवासियों को सरकार की सहायता करने की प्रेरणा दी। इसके कुछ समय बाद उन्होंने अहमदाबाद के पास साबरमती आश्रम की स्थापना की तथा लोकहित कार्यों में तन-मन से जुट गये। उन्होंने चम्पारन के किसानों पर नील खेती कराने वाले अंग्रेजों के अत्याचार की बहुत आलोचना करते हुए जाँच समिति की माँग की। जाँच समिति ने फैसला मजदूरों के पक्ष में दिया। तत्पश्चात् वे अहमदाबाद के मजदूरों की दशा सुधारने की ओर उन्मुख हुए। अहिंसापूर्ण साधनो तथा संगठन, हड़ताल आदि के द्वारा उन्होंने मजदूरों के कष्टों को दूर कराने क लिए पंच फैसले की माँग को स्वीकृत कराने में सफलता प्राप्त की। इसके बाद उन्होंने गुजरात के किसानों के हितों के रक्षार्थ खेड़ा सत्याग्रह किया और अन्त में सफल रहे। अब वे कांग्रेस के कार्यों में भी पूर्ण रूप से भाग लेने लगे थे।

गाँधी जी दक्षिण अफ्रीका में-सन् 1893 में गाँधी जी को एक मुकदमे की पैरवी करने के लिए दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा। वे वहॉ एक वर्ष के लिए ही गये थे। वे वहाँ निवास कर रहे भारतीयों की दुर्दशा को देखकर दक्षिण अफ्रीका में बीस वर्षों तक रहे। उस समय वहाँ रहने वाले भारतीयों के साथ बहुत दुर्व्यवहार किया जाता था। उन पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाते थे। गाँधी जी ने इस परिस्थितियों से संघर्ष करने हेतु वहाँ के भारतीयों को संगठित किया और उन्हें उनके अधिकारों का ज्ञान करवाया। तत्पश्चात् साम्राज्यवादी सरकार के पास प्रार्थना भेजा, जिसमें उन्होंने भारतीयों के साथ किए जाने वाले गलत व्यवहार की घोर निन्दा की। सन् 1907 में उन्होंने सरकार के ^'Asiatic Registration' के विरूद्ध सत्याग्रह किया। इस आन्दोलन में अनेक वीर मारे गये और सैकड़ों बन्दी बना लिए गए। अन्त में जीत गाँधी जी की गई। सन् 1914 में सरकार ने उपरोक्त अधिनियम वापस ले लिया और भारतीयों से कुछ प्रतिबन्ध हटा लिये गये। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने अपने आन्दोलनकारी साथियों से कहा कि "अंग्रेज लोग चाहते हैं कि हमारी लड़ाई मशीनगन के स्तर पर चले उनके पास शस्त्र है, हमारे पास नहीं हैं। उन्हें परास्त करने का हमारे पास केवल एक ही उपाय हैकि हम इस लड़ाई को ऐसे शस्त्रों से लड़े जो उनके पास नहीं हैं।

गाँधी जी का स्वतन्त्रता आन्दोलन में सहयोग- भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को सफल बनाने का श्रेय पूर्णत: गाँधी जी को जाता है। राजी शहानी ने लिखा है कि-"आधुनिक काल के किसी व्यक्ति ने अंग्रेजों को अपने अड्डे से बाहर निकालने में सफलता प्राप्त नहीं की। नैपोलियन ने प्रयत्न किया, लेकिन असफल रहा, हिटलर को भी निराशा का मुँह देखना पड़ा, लेकिन गाँधी ने बिना रक्त-पात के ही अंग्रेजों को भारत छोड़ने पर विवश कर दिया। गाँधी जी की यह सफलता उनके अद्वितीय राजनीतिज्ञ होने का प्रमाण है।" निम्न शीर्षकों द्वारा उनका स्वतन्त्रता आन्दोलन में सहयोग स्पष्ट किया जा सकता है-

1. **आन्दोलन को व्यापक बनान**- गाँधी जी के राजनीति में प्रवेश करने से पूर्व स्वतन्त्रता आन्दोलन की प्रगति बहुत मंद थी। कांग्रेस में उदारवासियों का जोर था, जिनका ब्रिटिश सरकार की न्याय प्रणाली व वैधानिक आन्दोलन में पूर्ण विश्वास था। लेकिन आन्दोलन का वैधानिक रूप व्यापक न था। गाँधी जी ने ही इसे व्यापक रूप प्रदान किया।
2. **महात्मा गाँधी का जीवन-वृत्त**- महात्मा गाँधी आधुनिक भारत के महान निर्माता थे। वे एक उच्च कोटि के राष्ट्र-नायक तथा समाज सुधारक थे। साथ ही वे एक उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ थे। इन गुणों के कारण ही वे जनप्रिय नेता बने और 'राष्ट्रपिता' कहलाये। वे जाति, समाज, देश और काल की सीमा से परे मात्र मानवता का महान संदेश

देकर युग प्रर्वतक बने। जे0एच0होम्ज के अनुसार-"गाँधी जी की गणना विगत युगोंके महान् व्यक्तियों में की जा सकती है। वे अल्फ्रेड, वैलिस, वांशिगटन तथा लफैटे की तरह एक महान् राष्ट्र निर्माता थे। उन्होंने कर्लाकसन, बिलर्बफोस, गैरिसन और लिंकनकी भाँति दासतासे मुक्त कराने का महान कार्य किया। वे सेंट फ्रांसिसी थ्यूरो और टालस्टाय की तरह अहिंसा के उपदेशक और बुद्ध, ईस्ट तथा आरोस्ट की तरह आध्यात्मिक नेता थे।" गॉधी जी का मानना था कि - इस प्रकार अपने शरीर के पोषण और आश्रितों की रक्षा के लिए की गयी हिंसा पाप नहीं होती है। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष दशाओं में शिशुओं को भीषण पीड़ा से मुक्ति दिलाने के लिए उनकी हत्या को भी गॉधी जी पाप नहीं मानते हैं। उनका यह कहना है कि '' प्राण लेना सदा हिंसा नहीं हैं। अनेक अवसरों पर जीवन लेने में ही हिंसा होती हैं।''[1]

3. **आन्दोलन को नया रूप प्रदान किया**-उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को नया रूप प्रदान किया। सर्वप्रथम गाँधी जी न ही सैन्य अस्त्र-शस्त्रों के स्थान पर अहिंसा, शान्ति, सत्य को आन्दोलन के अस्त्र-शस्त्र बनाये। इन्हीं अस्त्रों के द्वारा गाँधी जी ने एक बहुत बड़ा राष्ट्रीय विश्व के एक सशक्त साम्राज्यवादी राज्य के विरूद्ध किया और अपने उद्देश्य में सफल रहे। गॉधी जी की अहिंसात्मक प्रवृति की तरफ ध्यान आकृष्ठ करते हुए डॉ0 रामनाथ सुमन ने अपनी पुस्तक अहिंसा और सत्य के संबंध में लिखा है-'' एक महाजन लोगों की विवशता का लाभ उठाकर चीटीं को आटा डालते हैं। फलाहार करते हैं, फिर भी उस मॉसाहारी की अपेक्षा अधिक हिंसक है, जो मॉसाहार करते हुए भी ईमानदार हैं और किसी को धोखा नहीं देते हैं। इस प्रकार गॉधी जी ने जीवन हिंसा विवेचना करते हुए अहिंसा की परिभाषा और सीमा में नवीन क्रान्तिकारी परिवर्तन और विस्तार किया है।''[2]

4. **जन-आन्दोलन के रूप में बदलना**- गाँधी जी के कांग्रेस में आने से पूर्व काँग्रेस मध्यम वर्ग की संस्था थी, किन्तु गाँधी जी ने इस संस्था को जनता की संस्था बनाया, तब भारत की अधिकांश जनता ने इस आन्दोलन में भाग लिया।गाँधी जी काविचार था कि किसी देश का शासन उसकी सैनिक शक्ति पर नहीं वरन् जनता के सक्रिय सहयोग पर आधारित होता है। इसलिये उन्होंने असहयोग, सविनय अवज्ञा को आन्दोलन के साधनों के रूप में स्वीकार किया। असहयोग और सविनय अवज्ञा करते समय उन्होंने इस बात परबल दिया कि सत्याग्रही को अहिंसक होना चाहिये।

5. **राजनीति को धार्मिक बनाना**- गाँधी जी का कहना था कि राजनीति को धर्म से पृथक करने से राजनीति निराधार हो जाती है। उन्होंने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि-"मेरे लिये धर्म के बिना राजनीति एक मृत्युजाल के समान है क्योंकि यह आत्मा को मार देती है।"[3] इसीलिये उन्होंने सदैव राजनीति के नैतिक पहलू पर बल दिया। वे राजनीति को धर्म से जोड़कर देखते थे।

6. **जनता में जागरण**- गाँधी जी का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य भारत की अशिक्षित जनता में जागृति उत्पन्न करना था। इस जागृति के कारण ही राष्ट्रीय आन्दोलन सफल हो सका। गाँधी जी ने अपने शांतिपूर्ण उपायों के द्वारा ही जनता में जागृति उत्पन्न की।

महात्मा गाँधी के योगदान सम्बन्धी विचार धारा को भिन्न रूपों में देखा जा सकता है-गाँधी जी के राज्य सम्बन्धी विचार-

गाँधी जी एक आध्यात्मिक विचारक थे। उन्होंने राजनीति का आध्यात्मीकरण किया और धर्म तथा राजनीति में समन्वय स्थापित किया। उनके राज्य सम्बन्धी विचार नैतिकता से परिपूर्ण हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गाँधी जी के राज्य सम्बन्धी विचार टालस्टाय जैसे अराजकतावादियों से प्रभावित हैं। गाँधी जी ने अपने समय में अनेक राज्यों की गतिविधियाँ देखी थी और उनकी हिंसा तथा बर्बरता का भी गहरा अनुभव किया था। इसलिये वे राज्य के विरोधी बन गये थे और उन्होंने एक राज्य विहीन आदर्श समाज अथवा राम-राज्य की कल्पना की थी।

राज्य एक बुराई-

गाँधी जी 'टालस्टाय' के अराजकतावादी विचारों से बहुत प्रभावित थे। टालस्टाय की भाँति वे भी राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते थे, जो मानव-जीवन के नैतिक मूल्यों पर आघात करता है। गाँधी जी ऐतिहासिक, आर्थिक तथा नैतिक आधार पर

भी राज्य को निरर्थक समझते थे। आध्यात्म से प्रभावित होने के कारण गाँधी जी यह चाहते थे कि मानव के समस्त कार्य स्वत: और स्वेच्छा से किये जाने चाहिये, परन्तु राज्य रूपी संस्था इस कार्य में बाधा उत्पन्न करती है और इसी कारण गाँधी जी राज्य के विरोध में अग्रलिखित तर्क प्रस्तुत करते है-

1. **राज्य हिंसा का प्रतीक**- गाँधी जी का कहना है कि राज्य हिंसा का प्रतीक होता है। उनके अनुसार चाहे राज्य का स्वरूप कितना ही लोकतान्त्रिक क्यों न हो, उसका मूल हिंसा ही है। इसमें शोषण का भाव निहित होता है और शोषण सदा निर्धनों का होता है। गाँधी जी के शब्दों में- "राजय की शक्ति में वृद्धि को मैं सबसे अधिक भय की दृष्टि से देखता हूं, क्योंकि यद्यपि वह शोषण को कम करके भलाई करते हुये दिखाई पड़ता है तथा व्यक्तित्व का विनाश कर, जो प्रगति का मूल है, मानव जाति को सबसे बड़ी क्षति पहुँचता है। राज्य हिंसा का संगठित रूप है, व्यक्ति की एक आत्मा होती है, परन्तु राज्य तो एक आत्माहीन मशीन है, उसे हिंसा से कभी अलग नहीं किया जा सकता है, जिसके कारण उसका जन्म हुआ है।"

2. **राज्य व्यक्गित स्वतन्त्रता का विरोधी**- गाँधी जी का मत है कि राज्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रबल विरोधी है। उसे व्यक्ति के कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। वे थ्यूरो के इस मत से सहमत हैं कि वही शासन सर्वोत्तम है, जो कम से कम शासन करता है। गाँधी जी का कहना है कि-"वह राज्य पूर्ण तथा अहिंसात्मक है, जिसमें जनता पर सरकार का कम से कम शासन है। विशुद्ध अराजकता का निकटतम दृष्टिकोण अहिंसा पर आधारित लोकतन्त्र है।"

3. **राज्य साध्य नहीं, साधन**- गाँधी जी के विचार में राज्य एक साधन है, साध्य नहीं। गाँधी जी के अहिंसात्मक राज्य का उद्देश्य सर्वोदय या सर्वहित है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अहिंसक राज्य व्यक्ति को अधिक से अधिक विकास के अवसर प्रदान करेगा। आधुनिक राज्य, जिसकी उत्पत्ति ही हिंसा से हुई है, निर्धनों का शोषण करता है। राज्य स्वशासन में हस्तक्षेप करता है।

4. **राज्य के कार्य में विस्तार**- गाँधी जी के अनुसार, आधुनिक राज्य का कार्य-क्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता रहा है।

उनकी कल्पना से अहिंसात्मक राज्य में जीवन की सरलता, विकेन्द्रीकरण, वर्ग-संघर्ष काअभाव तथा असैनिकवाद होगा। राज्य के कार्यों में कमी हो जायेगी तथा वे स्वैच्छिक संस्थाओं में हस्तान्तरित हो जायेगी। राज्य शक्ति का भी कम से कम प्रयोग करेगा।

5. **आदर्श समाज**- गाँधी जी सभी अपराधों को परिस्थिति जन्म मानते थे। उनका कहना था कि अहिंसक आदर्श समाज में व्यक्ति अपराध रहित हो जायेंगे। दण्ड व्यवस्था तथा बल प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि गाँधी 'बैकनिन' तथा 'प्रिन्स क्रोपोटकिन' के समान हिंसावादी अराजकतावादी नहीं थे। वे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिये हिंसा को आवश्यक नहीं समझते थे। गाँधी जी एक आदर्श अहिंसक राज्य अथवा रामराज्य की कल्पना करते थे। उनका राम-राज्य स्वराज्य का आदर्श है, इसका अर्थ न्याय और प्रेम का राज्य है, अहिंसक स्वराज्य अथवा जनता का राज्य है। गाँधी जी का विश्वास था कि सब धर्मों का लक्ष्य एक ही है। उन्होंने स्वयं कहा था- "धर्म एक ही है। मैं राजनीति में उसी सीमा तक प्रवेश करता हूँ, जहाँ तक वह मेरी धार्मिक प्रवृत्ति के विकास में सहायक है। यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूँ तो केवल इस कारण कि राजनीति ने हमें साँप की कुण्डलियों के समान जकड़ लिया है तथा चाहे हम जितना भी प्रयास करे इससे छुटकारा पाना बड़ा मुश्किल है। मैं इस साँप से लड़ना चाहता हूँ तथा ऐसा प्रयत्न करूँगा कि राजनीति में धर्म का प्रवेश समा जाये। अन्यत्र उन्होंने यह लिखा है कि '' मैनें यह विशेष देखा और किया है कि अहिंसा सामाजिक वस्तु है, केवल व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। पिण्ड मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं पिण्ड भी है, बृह्माण्ड भी है। वह अपने बृह्माण्ड का बोझ अपने कंधे पर लिए फिरता है। जो धर्म व्यक्ति के साथ समाप्त हो जाता है, वह मेरे काम का नहीं है। मेरा यह दावा है कि सारा समाज अहिंसा का आचरण कर सकता है।''[3]

गाँधी जी के मतानुसार धर्म का सम्बन्ध जीवन क किसी एक अंग विशेष से नहीं है, बल्कि यह सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त है। अत: हमारे सामाजिक, बौद्धिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सभी प्रकार के कार्य धर्म द्वारा उत्प्रेरित होने चाहिये।

गाँधी जी का विश्वास था कि राज्य शक्ति के ऊपर आधारित है और उसने अपनी शक्ति के द्वारा अत्यधिक भौतिकवादी अभ्यास का सृजन किया है। उन्होंने अनुभव किया कि हमारी शैक्षिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्रियाओं को धार्मिक भावना से उत्प्रेरित करने का एकमात्र उपाय राजनीति का आध्यात्मीकरण है। राजनीति में उन्होंने सत्य और अहिंसा का प्रवेश किया।

गाँधी जी की धर्म सम्बन्धी धारणा से तात्पर्य सत्य की खोज से है, जो कि हर मानव का कर्त्तव्य है। स्वयं गाँधी जी ने लिखा है- "धर्म मूलत: नैतिकता है।जब नैतिकता स्वयं व्यक्ति में प्रतिबिम्बित है तब यह धर्म हो जाती है, क्योंकि यह उसको उसकी परीक्षा की घड़ी में उसे पकड़े रहती है, उसका साथ देती है एवं उसे शक्ति प्रदान करती है।" इस प्रकार धर्म और नैतिकता सत्य का प्रतीक मात्र है।

धर्म के मूल तत्व-

1. गाँधी जी के अनुसार धर्म का मूल तत्व सर्वोच्च नैतिकता है। धर्म के राजनीति में प्रवेश करने से ऐसे भयंकर परिणाम नहीं हो सकते, जो कि उसमें साम्प्रदायिकता के आ जाने से हो सकते हैं।
2. गाँधी जी के अनुसार विश्व के समस्त धर्म समान हैं, क्योंकि वे सब एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। सभी ध र्मों में सत्य का अंश विद्यमान है और सभी धर्म किसी न किसी अर्थ में अपूर्ण हैं, इसीलिये किसी एक धर्म को दूसरे धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं समझा जा सकता। इसीलिये किसी व्यक्ति का धर्म परिवर्तन कराने का प्रयास एक भारी भूल है।
3. सच्चा धर्म व्यक्ति को अन्त:करण की शुद्धि करता है ओर उसको श्रेष्ठ सृष्टि के साथ अपनी एकता अनुभव करने में योग देता है। उसका स्वरूप नैतिक होता है।
4. गाँधी जी के अनुसार धर्म मानव स्वभाव का स्थायी तत्व है। कोई भी मनुष्य उसके बिना जिन्दा नहीं रह सकता। जो लोग अपने अहंकार के कारण यह दावा करते है कि हमारा धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, वे उन मनुष्यों के समान हैं, जो यह कहते हैं कि हम श्वास लेते हैं, किन्तु हमारे नाक नहीं हैं।

गाँधी जी के सत्य एवं अहिंसा पर विचार-

गाँधी जी का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्त पर आधारित है। वे सत्य और अहिंसा के उपासक थे और जीवनपर्यन्त उन्होंने सत्य एवं अहिंसा का पालन किया।

1. सत्य-गाँधी जी 'सत्य' का बड़ा व्यापक अर्थ लगाते थे। 'सत्य' शब्द उत्पत्ति 'सत' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ होता है अस्तित्व अथवा होना। गाँधीजी के अनुसार 'सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है।' उनका मत था कि सत्य और अहिंसा में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जो व्यक्ति दूसरों को दु:ख पहुँचाता है। वह सत्य की अवहेलना करता है। वे हिंसा को असत्य मानते थे क्योंकि उनके विचार में हिंसा जीवन की एकता तथा पवित्रता को नष्ट कर देती है।
2. अहिंसा-गाँधी जी अहिंसा और प्रेम को पर्यायवाची मानते थे। वे कहते थे कि -"अहिंसा का मूलभूत आधार यह है

कि यह व्यक्तिगत लाभ के अलावा समस्त विश्व को लाभ पहुँचाता है।" अहिंसा ऐसी स्थूल चीज नहीं है, जैसी बतायी गयी है। बेशक किसी प्राणी को चोट न पहुँचाना अहिंसा का एक अंग है, परन्तु वह तो उसका छोटे से छोटा चिह्न है। अहिंसा का सिद्धान्त हर बुरे विचार से, अनुचित जल्द-बाजी से, झूठ बोलने से, घृणा से और किसी का बुरा चाहने से भी भंग होता है। दुनिया के लिये जो वस्तु जरूरी है, उस पर अधिकार जमाने से भी इस सम्बन्ध का खण्डन होता है, अहिंसा की व्याख्या करते हुए गाँधी जी लिखते हैं, 'Ahinsa is the furthest limit of humility.'k~ श्री0 एन0 के0 बोस ने लिखा है कि "अहिंसा एक एकात्मक शक्ति है। प्रेम ओर धैर्य इसकी आधारशिला हैं। पूर्ण सत्य और अहिंसा में कोई भेद नहीं है, फिर भी समझने के लिये सत्य साध्य और अहिंसा साधन मान ली गई है। प्रेम और अहिंसा भिन्न नहीं है। प्रेम का शुद्ध व्यापक स्वरूप अहिंसा है।"

"अहिंसा के बिना सत्य की खोज और प्राप्ति असम्भव है। अहिंसा और सत्य आपस में इतने ओत-प्रोत हैं कि इन्हें एक दूसरे से अलग करना लगभग असम्भव है। अहिंसा साधन है, सत्य साध्य है। साधन तभी साधन है, जब वह हमारी पहुँच के भीतर है और इसीलिये अहिंसा को जीवन का सिद्धान्त मान लेते हैं, तो वह हमारे सारे जीवन में व्याप्त हो जानी चाहिये। केवल विशेष मौकों पर ही हमें उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। यह मानना गहरी भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिये ही अच्छी है, जन समूह के लिये नहीं।"

"यंग इण्डिया" में गाँधी जी ने लिखा है कि- "अहिंसा मेरा ईश्वर है और सत्य मेरा ईश्वर है। जब मैं अहिंसा की खोज करता हूँ तो सत्य कहता है कि इसे मेरे द्वारा प्राप्त करो।" गाँधी जी ईश्वर को प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन अहिंसा पालन को बताते थे।

1. **कायरता अहिंसा नहीं है**- गाँधी जी कायरता और हिंसा क बीच चुनाव में हिंसा की ही सलाह देते थे। वे लिखते हैं- "मैं यह जरूर मानता हूँ कि जहाँ केवल कायरता और हिंसा के बीच चुनाव करना हो, वहाँ मैं हिंसाकी सलाह दूँगा। मैं चाहूँगा कि भारत अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये भले ही शस्त्रों का आश्रय ले, मगर कायर बनकर अपनी बेइज्जती का निसहाय साक्षी न बना रहे। परन्तु मेरा विश्वास है कि हिंसा से अहिंसा कहीं श्रेष्ठ है। क्षमा में सजा की अपेक्षा अधिक वीरत्व है। क्षमा वीर का आभूषणहै, परन्तु दण्ड देने की शक्ति होने पर भी दण्ड न देना सच्ची क्षमा है। जब कोई निसहाय प्राणी क्षमा करने का दम भरता है, तब वह निरर्थक है, परन्तु मैं भारत को निसहाय नहीं मानता। बल शीरीरिक क्षमता से नहीं आता, वह अजेय संकल्प शक्ति से आता है।"

2. **अहिंसा और निर्भयता**- अहिंसा और कायरता का कोई मेल नहीं है। मैं पूरी तरह से अस्त्र सुसज्जित मनुष्य के हृदय में कायर होने की कल्पना कर सकता है। हथियार रखना कायरता नहीं तो कुछ एक का होना तो जाहिर करता है, परन्तु सच्ची अहिंसा, शुद्ध निर्भयता बिना असम्भव है। गाँधी जी एक आदर्शोन्मुख यथार्थवादी व्यक्ति थे। उनका अहिंसा का सिद्धान्त केवल ऋषियों और विशेष मनुष्यों के लिए नहीं था, वरन् वह सामान्य जन के लिये भी था। उनके विचार में अहिंसा मानव जीवन का नियम है और हिंसा पशु जीवन का। अहिंसा में कष्ट सहन की भावना होती है। गाँधी जी के अनुसार बुराई का विरोध हिंसा के स्थान पर आत्मिक शक्ति के द्वारा करना चाहिये। यह विरोध बुराई करने वाले को उसकी गलती का अहसास करायेगा और इस प्रकार समस्या हमेशा के लिए सुलझ जायेगी।

गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के सिद्धान्त के बारे में मशरूवाला का कहना है कि, "दूसरे जीव को न मारना ही अहिंसा नहीं है, यह तो अहिंसा का स्थूल अर्थ है। केवल प्राण न लेने से अहिंसा पूरी नहीं होती है, अहिंसा का सम्बन्ध मन की शुद्धि से है। जिस शुद्धि में कही द्वेष की गन्ध तक न हो, वह अहिंसा है। दूसरे के शरीर या मन को पीड़ा न पहुँचाना ही अहिंसा धर्म नहीं है। इसे साधारणतया अहिंसा धर्म का बाह्य लक्षण कह सकते हैं।"

अहिंसा गाँधी जी के लिये राजनीतिक हथियार से कुछ आगे की चीज थी। अहिंसा गाँधीवादी दर्शन का विशिष्ट अंग है। गाँधी जी युद्ध के विरोधी थे। उनका कहना था कि "हिंसा अधिनायकवाद की ओर ले जाती है और अहिंसा विशुद्ध लोकतन्त्र की ओर। अहिंसा सभी स्तरो पर व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों पर व्यवहार में लायी जा सकती है। अहिंसा, प्रेम और धैर्य एक एकात्मक शक्ति है- मानव को यह विश्वास दिलाया जा सकता है कि वह सत्य और नैतिकता के साथ आचरण कर सकता है।"

गाँधी जी के सत्याग्रह पर विचार-गाँधी जी थ्योरो के विचारों से बहुत प्रभावित थे। थ्योरो के विचारों का उनकी विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा। थ्योरो ने अपने समय में दास-प्रथा का विरोध किया था। विरोध करने में उन्होंने अहिंसा धर्म का पालन किया था। गाँधी जी ने उन्हीं के समान अहिंसा धर्म का राजनीति में प्रयोग किया। सत्याग्रह अहिंसा का ही पहला पहलू है।

गाँधी जी ने इस सिद्धान्त को सबसे पहले दक्षिणी अफ्रीका में अपनाया था। अहिंसा और सत्य इसके मूल तत्व हैं जो पहले प्राचीनकाल से प्रचलित हैं। गाँधी जी ने इन प्राचीन सिद्धान्तों को एक नया अर्थ प्रदान किया और साथ ही साथ उनके प्रयोग के क्षेत्र को बहुत विस्तृत बना दिया। उनकी मौलिकता इस बात मे है कि उन्होंने अहिंसा के प्राचीन सिद्धान्त के आधार पर एक नवीन पद्धति विकसित की और उसका प्रयोग एक बहुत बड़े पैमाने पर मानव जीवन के समस्त क्षेत्रों में बुराई का प्रतिरोध करने के लिये किया। सत्याग्रह मानव-जाति को गाँधी की सबसे अधिक मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण देन है।

1. सत्याग्रह का अर्थ

गाँधी जी के शब्दों में, "सत्याग्रह आत्मा की शक्ति है। सत्य पर आग्रह है, यह दूसरों को कष्ट देकर नहीं बल्कि स्वयं कष्ट उठाकर विरोध पर विजय प्राप्त करना है। यह सत्य के लिये तपस्या है।" सत्याग्रह सामाजिक एवं राजनीतिक अन्याय के विरूद्ध लड़ने का एक नैतिक साधन है। सत्याग्रह सत्य और अहिंसा के ऊपर आधारित कार्यवाही है। दूसरे शब्दों में, सत्य का पालन करते हुए विपक्षी के समक्ष अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना ही सत्याग्रह है। गाँधी जी के शब्दों में' सत्याग्रह में अपनी ही बलि देनी होती है। इस बात को सभी स्वीकार करेंगे कि पद से आत्मबलि ऊँची वस्तु है।'[4]

2. सत्याग्रह की विशेषतायें-

(i) सत्याग्रह सत्य, अहिंसा और प्रेम पर आधारित एक कार्यवाही है।

(ii) सत्याग्रह में एक व्यक्ति अपने विरोधी को कष्ट पहुँचाये बिना स्वयं कष्ट सहन करने की क्षमता रखता है। वह विरोधी के पशुबल का सामना अपने आत्मबल व नैतिक शक्ति के आधार पर करता है।

(iii) सत्याग्रही अत्याचारी से घृणा नहीं करता, परन्तु उसकी आज्ञा का पालन करेन से इन्कार करता है और अपनी कष्ट उठाने की क्षमता से उसको थका देने का प्रयास करता है।

(iv) सत्याग्रह के नैतिक शस्त्र का प्रयोग सभी व्यक्तियों के द्वारा और सभी परिस्थितियों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(v) सत्याग्रह के नैतिक शस्त्र का प्रयाग सभी व्यक्तियों के द्वारा और सभी परिस्थितियों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(vi) सत्याग्रह पाप को पापी से पृथक् करता है और स्वयं पापी के हित में पाप का प्रतिरोध करता है। इसका परिणाम यह होता है कि स्वयं पापी ही अपने आप को अपने पाप से पृथक समझने लगता है, अपनी बुराई को महसूस करने लगता है और अन्त में उसका परित्याग कर देता है। अत: सत्याग्रह केवल सत्याग्रही की ही आत्मशुद्धि नहीं करता, वरन अपने विरोधी को बुराई से मुक्त करके उसका कल्याण करता है।

3. सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में अन्तर

जितनी व्यापकता गाँधी जी के आन्दोलन में है, उसको निष्क्रिय प्रतिरोध अभिव्यक्त नहीं करता। यद्यपि दोनों ही आन्दोलन असहयोग, सविनय अवज्ञा और उपवास के तरीको को अपनाते है तथापि यदि आन्तरिक रूप में देखे तो दोनों में बड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है।

1. सत्याग्रह एक नैतिक शस्त्र है। यह आत्मा की प्रबल शक्ति है। इंग्लैण्ड से निष्क्रिय प्रतिरोध का आन्दोलन नॉन-कन्फर मिस्टों ने चलाया था। यह केवल समयानुकूल परिस्थितियों कोदेखकर एक राजनीतिक अस्त्र है।
2. सत्याग्रह सबल व्यक्तियों का अस्त्र है। इसमें शत्रु का प्रेम और धैर्य से विजय किया जाता है। इसमें घृणा और विद्वेष का जरा भी विचार नहीं रहता है। इसमें सत्याग्रही विरोधी को हानि पहुँचाने की जरा भी कल्पना नहीं करते हैं। सत्याग्रह में किसी भी स्थिति में हिंसा का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। निष्क्रिय प्रतिरोध में अहिंसा एक नीति का प्रश्न है। गॉधी जी ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि ''यह शस्त्र बल से उल्टा है.....मिशाल के लिए मान लिजिए सरकार ने एक कानून बनाया जो मुझ पर लागू होता है, वह मुझे पसन्द नहीं है। अब यदि हम सरकार पर हमला करके उसे वह कानून रद्द करने को मजबूर करूँ, तो मैं शरीर बल से काम लिया। पर मैं कानून को मंजूर ही न करूँ उस मानने की जो सजा मिले उसे खुशी से भुगत लूँ तो मैनें आत्मबल से काम लिया। अथवा सत्याग्रह से किया।''[5]

4. सत्याग्रहियों के लिये नियम-

(i) सत्याग्रहियों को गिरफ्तार होना चाहिये।

(ii) उन्हें अपने सेनापति के आदेशों का हृदय सेपालन करना चाहिये, कोई बात मन में छुपाकर नहीं रखनी चाहिए।

(iii) सत्याग्रही को शत्रु के प्रति मन, वचन, कर्म में हिंसा का भाव नहीं रखना चाहिये। सत्याग्रही में मौत का कष्ट हँसते-हँसते सह लेने की शक्ति होनी चाहिये।

(iv) सत्याग्रही को किसी पर क्रोध नहीं करना चाहिये, बल्कि उसे विरोधी का क्रोध सहन करना चाहिये।

(v) सत्याग्रही को विरोधी का अपमान नहीं करना चाहिये।

5. सत्याग्रही के लिये आवश्यक गुण-

(i) सत्याग्रही का ईश्वर पर अटल विश्वास होना चाहिये, क्योंकि वही एकमात्र अटूट आधार है।

(ii) उसकी सत्य और अहिंसा में श्रद्धा होनी चाहिये। मानव के स्वभाव के अन्दर बसने वाली भलाई में उसका विश्वास होना चाहिये। इस भलाई को सत्य और प्रेम क द्वारा स्वयं दु:ख सहकर जागृत करने की वह सदा आशा रखे।

(iii) वह शुद्ध जीवन बिताने वाला हो तथा अपने लक्ष्य के लिये अपनी जान कुरबान करनेको हमेशा तैयार रहे।

(iv) वह निर्व्यसनी हो और सभी प्रकार की नशीली वस्तुओं से दूर रहे, जिससे उसकी बुद्धि सदा निर्मल एवं चंचल न रहे।

(v) सत्याग्रही आदतन खद्दरधारी और साथ ही सूत कातने वाला हो। भारतवर्ष के लिऐ यह एक जरूरी चीज है।

सत्याग्रह के स्वरूप-सत्याग्रह के रूप है-

1. **असहयोग**- "असहयोग एक पीडिघ्त प्रेम का विस्तार है। यद्यपि सत्याग्रह के शस्त्रागार में असहयोग मुख्य अस्त्र है, तथापि यह नहीं भूलना चाहिये कि यह सत्य एव न्याय के साथ विरोधी के सहयोग को प्राप्त करने का एक साधन है।" इस असहयोग का कार्यक्रम निम्नलिखित था-

(i) उपाधियों का त्याग तथा अवैतनिक पदों से त्यागपत्र देना।

(ii) सरकारी दरबारों और कार्यक्रमों में भाग न लेना।

(iii) ब्रिटिश कचहरी का बहिष्कार।

(iv) विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार आदि।

2. **सविनय अवज्ञा**- सविनय अवज्ञा सत्याग्रह का अन्तिम अस्त्र है। सविनय अवज्ञा अहिंसात्मक असहयोग का उग्र रूप है, परन्तु इस प्रकार का उपयोग केवल 'जन-आन्दोलन' के लिये ही है। गाँधी जी ने 'सविनय अवज्ञा' को सशस्त्र क्रान्ति का एक पूर्ण प्रभावशाली एवं रक्तहीन स्थानापन्न कहा है। यह सरकारी कानून के विरूद्ध अर्थात् अहिंसात्मक आचरण को प्रकट करती है।

गाँधीवाद और समाजवाद-गाँधी जी को समाजवादी कहा जाये या न कहा जाये, यह एक विवादाग्रस्त प्रश्न है। गाँधी जी स्वयं अपने को एक महानतम समाजवादी मानते थे, परन्तु मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के अनुसार यदि गाँधी जी को देखा जाये तब तो वह समाजवाद से बहुत दूर हैं, परन्तु यदि सही अर्थों देखा जाये तो गाँधी जी बहुत बड़े समाजवादी थे। गाँधी जी का समाजवाद द्वन्दवादी भौतिकवाद पर आधारित ने होरक भारतीय परम्परा पर आधारित है।

गाँधी जी ने स्वयं समाजवाद की परिभाषा करते हुए कहा है, "समाजवाद एक सुन्दर शब्द है और जहाँ तक मुझे मालूम है, समाजवादी में समाज के सब सदस्य समान होते हैं। कोई छोटा, कोई बड़ा नहीं होता, कोई ऊँचा नहीं, कोई नीचा नही। जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर में सिर ऊँचा नहीं होता क्योंकि यह शरीर के सिरे पर है और तलवे नीचे होते हैं क्योंकि वे पृथ्वी को स्पर्श करते हैं। ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार से व्यक्ति के शरीर में अंग समान होते है, उसी प्रकार से समाज के सदस्य समान है।"

गाँधी जी की उपरोक्त धारणा उनके समाजवादी सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करती है। गाँधी जी सही अर्थों में एक सच्चे समाजवादी थे। उनके समाजवाद का स्वरूप रचनात्मक था। उनके समाजवाद के स्पष्ट लक्षण निम्नलिखित हैं-

1. समाज में हर व्यक्ति का कल्याण अपरिहार्य है।
2. समाजवादी सिद्धान्त में विश्वास
3. व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध
4. वर्गहीन एवं जातिहीन समाज में विश्वास
5. शोषण का विरोध
6. समाज में व्यक्ति का पूर्ण अस्तित्व
7. प्रतिस्पर्धा का विरोध
8. सामाजिक न्याय पर बल
9. शारीरिक श्रम को उचित महत्त्व
10. आत्मा की एकरूपता पर बल
11. वर्ग संघर्ष की अपेक्षा वर्ग सहयोग पर बल समाजवाद का वास्तविक अर्थ है- शोषण से मुक्ति, असमानता को दूर करना तथा सामाजिक न्याय की स्थापना। मार्क्सवादी अर्थ में गाँधी जी समाजवादी नहीं थे-यदि हम मार्क्स को सच्चा समाजवादी मानते हैं तथा उसके प्रतिपादित सिद्धान्तों को समाजवाद का आधार मानते हैं तो गाँधी जी, समाजवादी

नहीं थे। यद्यपि गाँधी जी का लक्ष्य मार्क्स से मिलता है, क्योंकि मार्क्स गरीबों, पीड़ित एवं शोषित क हामीथे, ठीक उसी प्रकार गाँधी जी भी पीड़ितों, गरीबों एवं मजबूरों के हितों के रक्षक थे। परन्तु गाँधी मार्क्सवादी समाजवादी की तरह वर्ग-संघर्ष में विश्वास नहीं करते थे। मार्क्सवादी समाजवादी तथा अन्य समाजवादी विचारधारायें हिंसा पर आध ारित समाज टिक नहीं सकता और यह स्थायी समाज न होगा।" उनकी धारणा थी कि हिंसा की प्रतिक्रिया हिंसा होगी ओर हिंसा का यह दौर चलता ही रहेगा। परन्तु मार्क्स का समाजवाद बिना वर्ग-संघर्ष के नहीं बढ़ता। वर्ग-संघर्ष मार्क्स के समाज का आधार है और बिना वर्ग संघर्ष के पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त नहीं किया जा सकता। उनके शब्दों में "अशुद्ध साधनों से प्राप्त होने वाला साध्य भी अशुद्ध ही होता है। इसलिए राजा का सिर काट डालने से राजा और प्रजा बराबर नहीं हो जायेंगे। मालिक का सिर काटने से मालिक और मजदूर बराबर नहीं होगें। हम असत्य से सत्य को प्राप्त नहीं कर सकते। सत्य आचरण द्वारा ही सत्य को पाया जा सकता है..... अत: सत्य परायण अहिंसक और शुद्ध हृदय समाजवादी ही भारत और संसार में समाजवादी समाज स्थापित कर सकेंगें।"[6]

गाँधी मार्क्सवाद के दूसरे मुख्य सिद्धान्त, "आर्थिक निर्णयवाद" में भी विश्वास नहीं करते थे। मार्क्सवादी समाजवाद के अनुसार आर्थिक तत्व इतिहास का संचालक है, परन्तु गाँधी चूकि एक आध्यात्मिक एवं धार्मिक व्यक्ति थे, अत: वे आर्थिक तत्व को ही सब कुछ नहीं मानते थे। उनका कहना था कि व्यक्ति के लिये 'भौतिक कल्याण' के साथ-साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक कल्याण की भी उतनी ही आवश्यक है।

सन्दर्भ-

1. हिन्दी नवजीवन- दैनिक समाचार पत्र: 28-10-1966
2. श्री रामनाथ सुमन: अहिंसा और सत्य: पृष्ठ 12
3. हरिजन सेवक पत्रिका: 22-06-1940
4. हिन्द स्वराज: पृष्ठ 85
5. मोहन चन्द दास करम चन्द गॉधी: हिन्द स्वराज-1958 पृष्ठ 84-5
6. हरिजन पत्रिका: 13-07-1946

राष्ट्रीय कवि पंडित श्याम नारायण पांडेय और श्री माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० पुनीता कुशवाहा

एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी, राधेहरि राज०स्ना० महाविद्याल, काशीपुर-उधम सिंह नगर, उत्तराखंड

प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का आदर्श रूप होता है। साहित्य और समाज में अन्योन्याश्रित संबंध है। समाज में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है और युग के अनुरूप साहित्य का रूप भी बदलता रहता है। इतिहास साक्षी है कि अपने समय के घटनाक्रम, परिस्थिति, परिवेश एवं वातावरण से प्रभावित होकर को युग विशेष का वरदान कहा गया है, और इसी कारण साहित्य समाज का दर्पण कहलाता है। इसीलिए रचनाकार की रचना में युग की विशेषताएं तथा युगीन परिस्थितियां प्रतिबिंबित होती हैं। पंडित श्याम नारायण पांडे आधुनिक काल की राष्ट्रीय वीर काव्य धारा के श्रेष्ठ कवि हैं। उनके काव्य की यही विशेषता तथा महत्ता है कि उनका स्वयं का एक स्कूल (पांडेय स्कूल-पांडेय -परिपाटी स्थापित हो गया है।'' स्कूल से तात्पर्य किसी आचार्य अथवा रीति के अनुसरण करने वाले उन शिष्यों (अनुगामियों) का समूह जो विशिष्ट रीति, शैली, ढंग अथवा विचारों से जुड़े हुए हों'' वह वे वीर काव्य- गगन के सूर्य हैं, जिनसे वीर रस के हर कवि ने किसी न किसी रूप में प्रेरणा का ही साहित्य का सृजन होता है। प्रत्येक रचनाकार अपने युग-युग के परिवेश तथा परिवेश गत चेतना से प्रभावित होता है। परिवेशगत चेतनाएं कवि के मन को उद्वेलित करती हैं। उसकी रचनाओं को प्रभावित करती हैं। उसके मन मस्तिष्क को प्रेरित करती हैं। युग की परिस्थितियां उसके हृदय को आंदोलित कर उठती हैं। अत: वाणी पूर्णतया उन्मुक्त एवं स्वतंत्र नहीं रह पाती। युग जग्य परिस्थितियां कवि की वाणी को इतना अधिक नियंत्रित कर लेती हैं, कि वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने युग विशेष के गीत गाया करता है। इसीलिए महाकवि प्रकाश प्राप्त किया है। अत: उनके काव्य की तुलना आधुनिक काल के राष्ट्रीय चेतना के वीर रस के कवि श्री माखनलाल चतुर्वेदी जी से करना समीचीन और युक्तियुक्त है। श्री माखनलाल चतुर्वेदी और पंडित श्याम नारायण पांडे दोनों भारतीयता एवं राष्ट्रीयता की जागरूक कवि हैं। पांडेय जी राष्ट्रीय महाकवि हैं, परंतु चतुर्वेदी जी राष्ट्रीय कवि ही नहीं प्रौढ़ गद्य लेखक, संपादक ,पत्रकार तथा गद्य प्रतिष्ठित किया।''[1]

'प्रभा', प्रताप' और 'कर्मवीर' के लेखन तथा संपादन काल में चतुर्वेदी जी के इस रूप में दर्शन होते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन के सभी छोटे बड़े आंदोलन को चित्रित करना चतुर्वेदी जी के राष्ट्रीय क्रियाकलापों को विस्तार देता है। काव्य तथा राष्ट्रीय संग्राम स्थल दोनों ही क्षेत्रों में चतुर्वेदी जी का प्रवेश एक साथ हुआ। अत: आरंभ से ही उनके शैलीकार भी हैं। दोनों कवि परतंत्रता की दशा पर क्षोभ और दुख व्यक्त करते हैं। चतुर्वेदी जी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन से घनिष्ठ रूप से जुड़े रहे हैं। अत: उनके काव्य में राजनैतिक राष्ट्रीयता का स्वर हैं। इसके विपरीत पांडेय जी का स्वतंत्रता आंदोलन से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। वह वास्तव में अतीतोन्मुखी राष्ट्रीयता के कवि हैं। छायावाद की राष्ट्रीय धारा के मूल स्रोत के रूप में माखनलाल चतुर्वेदी का नाम सबसे प्रमुख है। उनकी समाज तथा राष्ट्रीय आंदोलन को ही प्रमुखता देने की वृत्ति, विदी युग की विरासत है। चतुर्वेदी जी वास्तविक जगत तथा भाव जगत दोनों में ही सक्रिय रूप से कर्मरत राष्ट्रीय व्यक्ति थे। वह विद्यार्थी जीवन से ही क्रांतिकारियों के संपर्क में आ गए थे और विदेशी आतंक को उखाड़ फेंकने की भावना उनकी नसों में व्याप्त हो गई थी । सन् 1918 में वे एक शस्त्र धारी क्रांतिकारी सैनिक के रूप में राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेते रहे। सन 1920 में "कर्मवीर'' में उनके द्वारा लिखे गए लेख से उनकी देशभक्ति तथा वीर भावना पर प्रभाव पड़ता है।'' चतुर्वेदी जी की राष्ट्रीय मनो भावनाएं एक ही

संकल्पात्मक भाव में केंद्रीय भूत हो गई थी। यह संकल्पात्मक भाव था, आतताई को खदेड़ कर भगाना, इसके लिए उन्होंने उद्विग्नता के साथ--साथ बौद्धिकता को भी अपनाया। राष्ट्र की तत्कालीन परिस्थितियों के बीच अहिंसात्मक पद्धति ही उपयुक्त थी। अत: उन्होंने उसे स्वीकार किया। आत्म बलिदान को ही देश हित में सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य के रूप में उन्होंने काव्य में राष्ट्रीय स्वर प्रस्फुटित हुआ। जब वे कविता का मात्र अभ्यास कर रहे थे, उसमें भी उनकी राष्ट्रीय भावना अभिव्यक्ति पाने को विकल थी। उनकी अनेक रचनाएं कारावास के दिनों में लिखी गई है। राजनीतिक आंदोलन के समय जो शासन की क्रूरता और देश के दीवानों के बलिदान की घटनाएं घटीं, उनमें से अनेक इनकी रचनाओं की प्रेरणा बनीं। चतुर्वेदी जी की कृतियों का पहला संग्रह "हिमकिरीटनी है'' इसमें कवि की राष्ट्रीय भावना के विभिन्न आयाम स्पष्ट रूप से परिलक्षित किए जा सकते हैं। समस्त रचनाओं की मूल प्रेरणा भूमि कवि के अंतर्मन में व्याप्त वह राष्ट्र पर्व है, जो सामान्य सौजन्यता से ऊपर उठकर आंतरिक रागात्मकता से पोषित हैं। चतुर्वेदी जी की रचनाओं का ि,तीय संकलन "हिमतरंगिनी'' है। इस संकलन में अनेक रचनाएं जेल में लिखी गई हैं। इनमें से कुछ कविताएं ईश्वर- भक्ति तथा राष्ट्र -भक्ति का सम्मिलित रूप व्यक्त करती हैं। "उठ अब ऐ मेरे महाप्राण'' में कवि राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए क्रांति की लहर पर जागृति की अमर तान बनने का संकल्प करता है। "आत्म बलिदान, "सूली पर चढ़ने का उत्साह'', "यह अमर निशानी किसकी है'' आदि रचनाएं स्वतंत्रता संग्राम की मन स्थितियों का

द्योतन करती हैं। "युगचरण'' कविता संग्रह में भी सन 1917 से लेकर सन 1953 तक की अनेक राष्ट्रीय कविताएं हैं।'' पुष्प की अभिलाषा "नामक प्रसिद्ध रचना में पुष्प वनमाली से प्रार्थना करता है---

''मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।।''[2]

जिससे वीरों के चरणों की रज का स्पर्श करके मैं अपने को धन्य धन्य समझूं। इसी प्रकार के उदगार पंडित श्यामनारायण पांडेय जी के प्रखर राष्ट्रीय महाकाव्य जौहर में व्यक्त हुए हैं। इस महाकाव्य की कथानक का विकास एक पुजारी और पथिक के वार्तालाप से प्रारंभ होता है --

''थाल सजाकर किसे पूजने, चले प्रात ही मतवाले।
कहां चले तुम राम नाम का, पीतांबर तन पर डाले।।
मुझे न जाना गंगासागर, मुझे ना रामेश्वर काशी।
तीर्थराज चित्तौड़ देखने को मेरी आंखें प्यासी।।''[3]

स्पष्ट है जौहर की अंतिम चिंगारी में पांडेय जी ने अपने जीवन की मुख्य घटनाओं का वर्णन करते हुए ऐसा संकेत दिया है कि यह पुजारी द्रुमग्राम (डुमराव) का निवासी है और वह पुजारी कोई और नही वरन् स्वयं पांडेय जी ही हैं।'' जौहर'' में हिंदू सती के तेज की साक्षात् मूर्ति पद्मिनी के माध्यम से भारतीय नारी के बलिदान, सतीत्व और गौरव को चित्रित किया है। पांडेय जी जौहर काव्य के द्वारा जाति अभिमान का उद्घोष करते हैं। वह अपने अतीत के वीरों और वीरांगनाओं के माध्यम से निर्बल और शिथिल जाति के प्राणियों में नवजागरण और नव जीवन शक्ति का संचार करना चाहते हैं। पांडेय जी के शब्दों में-'हल्दीघाटी' लिखकर मैंने जनता के सामने एक भारतीय पुरुष का आदर्श रखा और जौहर लिखकर भारतीय सती नारी का इसलिए नहीं कि कोई छंदों के प्रवाह में झूम उठे। बल्कि इसलिए कि भारतीय पुरुष प्रताप को समझें और भारतीय नारियां पद्मिनी को पहचानें।''[4]

हल्दीघाटी के नायक महाराणा प्रताप देश की स्वतंत्रता के लिए अनवरत संघर्ष करते हैं। उन्हें भयंकर से भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। परंतु प्रताप का उत्साह कभी मन्द नहीं होता। अंतत: अकबर को परास्त करके प्रताप को विजयश्री प्राप्त हो जाती है। प्रताप की जन्मभूमि स्वतंत्र हो जाती है ---

मेवाड़ हंसा, फिर राणा ने ,जब ध्वजा किले पर फहराई।
मां धूल पोंछकर राणा की, सामोद फूल सी मुस्काई।।''[5]

चतुर्वेदी जी तथा पांडे जी दोनों ने उद्बोधन गीत लिखे हैं। उनके काव्य में देश तथा राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए बलिदान होने तथा सर्वस्व त्याग की प्रखर चेतना तथा उत्कट उमंग है। दोनों कवियों में धीरे विदेशी सत्ता के विनाश की भावना है, उनके गीतों में विद्रोह की और क्रांति का शंखनाद है। उनकी ओजपूर्ण वाणी राष्ट्रहित हेतु बलिदान करने का संदेश देती हैं।

''एक पुकार हुई, मूरत पर, उठे सहस्त्रों शीश चढ़े।
जहां एक का नाम पुकारा, वहां नित्य दस बीस शीश चढ़े।।''[6]

वीरांगना महारानी पद्मिनी का चित्तौड़ से सात सौ डोलों के प्रयाण के समय का प्रसिद्ध वीर गीत उत्साह की साकार व्यंजना प्रस्तुत करता है यथा-

''तुम अजर बढ़े चलो, तुम अमर बढ़े चलो ।
तुम निडर बढ़े चलो, आन पर चढ़े चलो ।।
यह आन -बान है, राजपूत शान है।
लक्ष्य जानकर चलो वक्ष तान कर चलो ।।''[7]

राष्ट्र की क्रांति के ज्वार में चतुर्वेदी जी बालक से लेकर बूढ़ों तक, योद्धाओं से लेकर विद्वानों तक सभी का पूर्ण सहयोग चाहते हैं।'' आदेश "कविता में वे बालकों को निर्देश करते हैं, कि वास्तविक परीक्षा तो कर्म स्थल की है, जहां शत्रु के कड़े से कड़े प्रहारों द्वारा भी धीरज धारण कर आगे बढ़ना उनकी वास्तविक सफलता की कसौटी है। बालक ही देश के उज्जवल भविष्य के निर्माता हैं। अत: वे भीरुता से मुक्त विश्व को राष्ट्र वीणा सुनाने में समर्थ वालकों की आकांक्षा व्यक्त करते हैं। भारतवर्ष के इतिहास में भी युवक शक्ति की प्रलय कारिणी क्षमता प्रत्येक पद पर देखने को मिलती है। वे राष्ट्र की संगठनवद्ध जनचेतना को देखकर शत्रु दल को पूर्ण विश्वास के साथ ललकारते हैं। चतुर्वेदी जी का जोश उग्रतावादी विचारधारा से प्रेरणा पाकर, दुष्ट विनाश के लिए शक्ति- साधना का समर्थन पाकर तथा राष्ट्र के जन समूह में विश्वास अर्जित कर उफान प्राप्त कर लेता है-

''रण वेदी पर बलि वेदी पर, श्रम वेदी पर जहां रहें।
लेकर शीश हथेली पर, उठ आएं, बोलो कहां रहें।।''[8]

पांडेय जी रचित शिवाजी महाकाव्य के नायक शिवाजी के ऊपर बचपन से ही इस प्रकार के संस्कार पड़े कि उन्हें अपनी मातृभूमि की परतंत्रता और जन-जन की पीड़ा सताने लगी। वह मातृभूमि के उद्धार के लिए लालायित हो उठे। राष्ट्रसंत समर्थ गुरु रामदास शिवाजी को जीवन के कल्याण का आशीर्वाद देते हैं- ''वहीं भारत माता का एकमात्र अवलंब है'' कहकर उन्हें स्वराज्य की नींव डालने के लिए प्रेरित करते हैं----

''उठो गरज कर बागी बनो, जननी के अनुरागी बनो।
जन्म भूमि की करुण पुकार, निर्मल यश के भागी बनो ।।
तुम स्वराज्य की डालो नींव, तनिक न हिचको झिझको उठो।।''[9]

इसी संदर्भ में सन 1963 ईस्वी में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो पांडे जी की ओजस्वी वाणी ज्वालामुखी की भांति आग उगल उठी-

''यह तुंग हिमालय किसका है, उत्तुंग हिमालय किसका है।
भारत का यौवन गरज उठा, जिसमें पौरूष है उसका है।
गद्दारों के सीने में जो, संगीन घुसाए उसका है।।''[10]

चतुर्वेदी जी की राष्ट्रीय काव्यधारा समयानुसार सक्रिय रही है। स्वतंत्रता के पश्चात चतुर्वेदी जी की राष्ट्रीय कविता स्वतंत्रता के उल्लास को व्यक्त करती हुई नव निर्माण की भूमिका निर्मित करती है। भारतवर्ष के नवनिर्माण का उनका स्वप्न रामराज्य की झांकियाँ प्रस्तुत करता है, परंतु देश के कृषक, मजदूर जनता का दुख तो चतुर्वेदी जी को यह अनुभव कराने लगता है कि आजादी अभी अधूरी है। यह तो मात्र राजनीतिक स्वतंत्रता है। कवि की यह क्षुब्ध दशा उसे शासक वर्ग की स्वार्थपरता, पद लोलुपता के प्रति व्यंग्य वर्षा करने को बाध्य करती है। इन व्यंग्यों में राष्ट्र के प्रति कर्तव्य की प्रेरणा जनता में भरने का उपक्रम स्पष्ट है--

दस वर्षों के शिशु आसन पर, हम बूढ़े पर बैठे ऐसे,
''मीठी सुरसी मीठे रुपए, मीठे सपने कैसे कैसे,

मेरा लड़का, तेरा नाती, उसकी भावज उसकी बेटी,

तू सच्च है, पक्ष रहित है, अबे तू परोस, दे, रोटी।।''[11]

आज चाटुकारों का युग है। जो जितना अधिक चाटुकारिता करने में निपुण है, वही सांसारिक सुखों को प्राप्त करता जाता है। अपने स्वार्थों की पूर्ति करता जाता है। चाटुकारिता के समक्ष व्यक्ति की प्रतिभा, विद्वान के पांडित्य और साधु की सज्जनता का कोई मूल्य नहीं। अत: शिवाजी महाकाव्य प्रणेता पंडित श्यामनारायण पांडेय शिवाजी के माध्यम से एक आदर्श राज्य के बारे में कहते हैं-

''दुर्जन पुरस्कृत हों न सज्जन जन दंडित न हों।

हो मूर्ख का आदर न, अपमानित कहीं पंडित न हों।।

विश्वास अधिकारी न कर बैठें, किसी अनजान का।

सहसा आनादर हो न जाए, वेद विहित विधान का।।''[12]

दोनों कवियों में विदेशी शासन के विनाश की उत्कट भावना है। उनके गीतों में विद्रोह एवं क्रांति के स्वर हैं। उनकी ओजपूर्ण वाणी राष्ट्र हित हेतु बलिदान करने का संदेश देती है। चतुर्वेदी जी की राष्ट्रीय काव्य रचना में उनकी संघर्ष मूलक राष्ट्रीयता देश काल के अनुरूप दिशा में प्रवाहित होती रही है-

"ग्रह झुकते तारागण झुकते, सब झुकते जिस ओर ।

विद्रोही हम, आजमाते उस भू पर अपना जोर।।''[13]

वीरगीतों द्वारा स्वाधीनता के दीवानों को बलिदान पथ पर अग्रसर करने की राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत कुछ कविताएं पांडेय जी के 'आरती' संग्रह में संकलित हैं। अपने भारतीय वीरों को शिवाजी की वीरता, कुंवर सिंह के बलिदान, भगत सिंह की निडरता और सुभाषचंद्र बोस के जय हिंद के उद्घोषों की याद दिलाता है---

''शिवा की आन पर गरजो, कुंवर बलिदान पर गरजो।

बढ़ो दर से पहाड़ों को, भगत की शान पर गरजो।।

बढ़ो जय हिंद नारों से, कलेजा थर थरा दें हम।

किले पर तीन रंगों का फरेरा फर फरा दें हम।।''[14]

दोनों कवियों ने युवा पीढ़ी को कर्तव्य परायणता तथा कर्मण्यता का संदेश दिया है। चतुर्वेदी जी ने युगानुरूप अतीत के पात्रों में परिवर्तन किया है। चतुर्वेदी जी में गांधीजी के सत्याग्रह आंदोलन, असहयोग एवं हिंसा आदि के चित्रण हैं। चतुर्वेदी जी की राष्ट्रीय काव्य रचना के अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि "समसामयिक घटनाओं और राष्ट्र की हलचल को ग्रहण करने के बावजूद भी उनकी नैसर्गिक भाव प्रवणता उनके काव्य में जाकर उसे आकर्षक रूप में डालती रही है।''[15] देश बीती तथा आपबीती अनुभूतियों को चित्रित करने वाली उनकी अनेक रचनाएं साहित्य की अमूल्य निधि है। जबकि पांडेय जी ने परंपरा का पालन तथा युगानुरूप परिवर्तन भी किया है। यथा 'जौहर' की पद्मिनी वीरांगना नेत्री भी है और एक भारतीय राजपूत सती नारी भी।

निष्कर्षत: पांडेय जी का वीर काव्य स्वाभिमान, स्वतंत्र प्रियता, उत्साह, शौर्य, साहस, जिजीविषा आदि से परिप्लाप्वित है। राष्ट्रीय चेतना उनकी भावभूमि की मेरुदंड है। उत्कट देश प्रेम, राष्ट्रीयता, ओजस्विता, क्रांतिकारी भावना, वीरता, कर्म तप, त्याग, आशावादिता तथा उज्जवल भविष्य के विश्वास से आपूरित पांडेय जी का साहित्य युग युगीन काव्य का रूप धारण कर लेता है तथा वे हिंदी के शाश्वत साहित्य में उच्च स्थान रखने के अधिकारी हो जाते हैं। वे शाश्वत साहित्य के प्रणेता हैं। वह जनता जनार्दन के कवि हैं। राष्ट्रकवि हैं। सारांश में दोनों कवियों की राष्ट्रीय भावना का ऐतिहासिक महत्व है, तथा दोनों कवि राष्ट्रीय काव्यधारा के सुदृढ़ स्तंभ हैं। वास्तव में दोनों का काव्य राष्ट्रीय चेतना को अग्रसर करने में सहयोग देता है तथा दोनों कवियों का काव्य उच्च कोटि की राष्ट्रीय काव्यधारा की अपूर्व धरोहर है।

संदर्भ ग्रंथ-

1. रामखिलावन तिवारी, ''राष्ट्रीय काव्यधारा के संदर्भ में माखनलाल चतुर्वेदी का विशेष अध्ययन'' पृष्ठ 340
2. आज के लोकप्रिय हिंदी कवि, पृष्ठ 81 "आधुनिक कवि 6 माखनलाल चतुर्वेदी''
3. पंडित श्याम नारायण पांडेय, जौहर, पहली चिंगारी पृष्ठ 3-4
4. पंडित श्याम नारायण पांडेय, जौहर, अग्निकण पृष्ठ 22
5. पंडित श्याम नारायण पांडेय, हल्दीघाटी सप्तदश सर्ग पृष्ठ 192
6. माखनलाल चतुर्वेदी, वेणु लो गूंजे धरा पृष्ठ 104
7. पंडित श्याम नारायण पांडे,'' जौहर आठवीं चिंगारी पृष्ठ 80
8. माखनलाल चतुर्वेदी, वेणु लो गूंजे धरा पृष्ठ 74
9. पंडित श्याम नारायण पांडेय, शिवाजी पृष्ठ 58
10. पंडित श्याम नारायण पांडेय, आधुनिक कवि 17 पृष्ठ 120
11. आज के लोकप्रिय कवि, आधुनिक कवि, माखनलाल चतुर्वेदी पृष्ठ 144
12. पंडित श्याम नारायण पांडे, शिवाजी पंचदश सर्ग 174
13. माखनलाल चतुर्वेदी, हिमकिरीटनी पृष्ठ 7
14. पंडित श्याम नारायण पांडेय, 'आरती' काव्य संग्रह पृष्ठ 92, आधुनिक कवि 17, पृष्ठ 109
15. डॉ0 अश्फाक शिकलगर, छायावादी काव्य में राष्ट्रीयता पृष्ठ 112

मीडिया और संस्कृति

डॉ० हीरा नंदन प्रसाद

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, जे० एन० कॉलेज धुर्वा, राँची

संस्कृति का संबंध संस्कारों से है। संत विचारक, लोकगायक, लोकनृत्यकार, लोक नाटकारों की गतिविधियों ही संस्कार कहलाती हैं। संस्कार से संस्कृति जन्म लेती है। संस्कृति जीवन की पूर्ण इकाई है। 'संस्कार रूपी बीज से संस्कृति का कर्म रूपी वट वृक्ष उत्पन्न होता है।[1] चेतना, चिंतन, कर्म और धर्म संस्कृति के चार पाए हैं। तीज-त्यौहार, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, पूजा-अर्जना, मंत्र-तंत्र, दान-पुण्य, रिश्ते-नाते आदि सबके सब संस्कृति के ककार हैं और मीडिया प्रचार तंत्र। माता-पिता की संस्कार के जन्मदाता है।

आर्यों का भारत में आगमन हुआ। यहां के मूलनिवासियों की चित्र कला व वास्तुकला पर आर्यों ने दखल दिया। वर्ण व्यवस्था का उदय हुआ। आर्य एवं अनार्यों में युद्ध हुआ। अनार्य यानी यहां के मूलनिवासी पराजित हुए। जबरदस्ती मूलनिवासियों पर अपने विचार थोपने शुरू किए। मूलनिवासियों की पुरानी संस्कृति नई संस्कृति में तब्दील हो गई। यानी यक्ष और रक्ष दो प्रकार की संस्कृतियां बन गई। यक्ष संस्कृति वैदिक संस्कृति बनी। इसको ब्राह्मण संस्कृति भी कहा गया। मूल निवासियों की रक्ष संस्कृति कहलाई। रक्ष शब्द से रक्षक बना। आर्यों ने रक्षक को रक्षक बना दिया क्योंकि इनका भाषा पर कब्जा था। वर्ण व्यवस्था विकृत हुई उसे कर्म के स्थान पर जन्म से जोड़ दिया गया जिससे समाज में ऊँचे-नीच की भावना अस्पृश्यता और विषमता का बीजा रोपण हुआ।

संस्कृति पर अपने विचर प्रकट करते हुए डॉ. तेज सिंह कहते हैं कि श्रमण संस्कृति पर आधारित है इसलिए यह श्रम जीवी वर्ग दलित-पिछड़े वर्ग की अपनी संस्कृति है। इस प्रकार यह बहुजन समाज को संस्कृति है। जबकि ब्राह्मण-संस्कृति परजीवी यानी ब्राह्मण वर्ग की संस्कृति है और इस तरह अल्पजन की संस्कृति है। श्रमण-संस्कृति समतावादी संस्कृति है जो स्वतंत्रता, बन्धुत्व, समानता, अहिंसा और परस्पर सहयोग और स्नेह पर आधारित संस्कृति रही है। जबकि ब्राह्मण संस्कृति, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक भेदभाव, वैमनस्य, घृणा, ऊँच-नीच, श्रेष्ठता-हीनता, छुआछूत और हिंसा पर आधारित संस्कृति रही है। हिन्दुत्वाद इसी ब्राह्मणवादी संस्कृति पर पनपा और विकसित हुआ है।[2] सच कहा जाए तो यह ब्राह्मणवादी संस्कृति दलितों के शोषण का आधार बनी और लोकतंत्र की विरोधी भी।

यूरोप में ईसाई और इस्लाम में शताब्दियों तक युद्ध हुआ। भारत में आर्यों के आक्रमण से तक्षशिला वे नालनंदा विश्वविद्यालियों की मूर्तियां नष्ट हुई। हड़प्पा की संस्कृति नष्ट हुई। द्रविड़ संस्कृति को आर्यों ने नष्ट किया। महाभारत काल में भी मनुष्य ने संस्कृति पर हमला बोला। कुल मिला कर मनुष्य ने संस्कृति को नष्ट करने का लम्बा इतिहास रचा। हालांकि मनुष्य ने संस्कृति को जन्म दिया और नष्ट भी किया पर संस्कृति को नष्ट करने में कुछ प्राकृतिक कारण भी रहे।

बजार की संस्कृति उपभोक्ता और पदार्थ के आपसी रिश्तों पर निर्भर है। उदारीकरण के इस युग में बाजार ने संस्कृति का भी मूल्या निर्धारित कर दिया है। अब संस्कृति का स्वरूप बाजार की आवश्यकताओं के अनुरूप प्रस्तुत किया जा रहा है। मीडिया बाजार का विज्ञापन करता है, क्योंकि मीडिया के सरोकार बाजार की आवश्यकताओं से जुड़े हैं। इसलिए इनके आपसी रिश्ते संस्कृति के बाजारीकरण के मुख्य कारण बन गए हैं।

आज मीडिया समाज को अभिप्रेरित एवं उत्प्रेरित कर रहा है। मीडिया बाजार के हाथ खेल रहा है अपनी संस्कृति को नष्ट कर रहा है। हम धीरे-धीरे पश्चिमी संस्कृति को अपनाते जा रहे है और अपनी सदियों पुरानी संस्कृति को भूलते जा रहे है। आखिर क्यों?

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने 14 अक्टूबर, 1956 को बौद्ध धर्म ग्रहण किया था। नागपुर में दीक्षाभूमि पर जो शैलाव है वह बौद्ध संस्कृति का प्रतीक है सम्राट अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की थी, इसलिए उनकी विजय, विजयदशमी के नाम से जानी जाती है। इसके बाद समूचे देश में विजयदशमी राम व रावण की विजय के रूप में मनायी जाने लगी। जगह-जगह रावण के पुतले बना कर उनमें आग लगाना एक विद्वान आदमी का अपमान है। रावण राक्षस नहीं था वह रक्ष संस्कृति का प्रवर्तक था। नाड़ी विशेषज्ञ था। चार वेद छह शास्त्रों का ज्ञाता था।

कुल्लू मनाली का दशहरा हो या इलाहाबाद का कुंभ मेला। दिल्ली की दीवाली हो या मथुरा की होली। चौत्यभूमि हो या अमृतसर के गुरुदारे, ईद, किसमस की भीड़ को हम टेलीविजन पर देख कर ऐसा महसूस करते हैं जैसे कि हम साक्षात् रूप में वहां खड़े हैं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने एक देश से दूसरे देश की, एक राज्य से दूसरे राज्य की तथा एक समाज से दूसरे समाज की संस्कृति से परिचय कराया है। जगह-जगह जो शैलाव दिखाई देता है वह हिन्दू संस्कृति का प्रतीक है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने हमें इंग्लैंड, अमेरिका, जापान, आदि देशों की संस्कृति को घर बैठे दिखा दिया है।

दीपावली को हम खुशियों का त्यौहार मानते हैं। अपरोक्ष रूप से धन मं आग लगाते हैं। बम-पटाके छोड़ कर वातावरण को दूषित करते हैं। एक अनपढ़ सनातनी की आज्ञा से एक ही दिन लाखों शादियां करके यातायात को अवरूध करते हैं। खुद परेशान होते हैं और दूसरों को परेशान करते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में महिला की नग्न तस्वीरें छप रही हैं। टेलीविजन पर खुलेआम सेक्स परोसा जा रहा है। रेडियो अपनी आवाज से सेक्स को उग्र कर रहा है। हमस ब बड़े चाव से पत्र-पत्रिकाएं पढ़ रहे हैं। टेलीविजन पर सेक्स बढ़ने के सूत्र देख रहे हैं।

भारतीय संस्कृति में आचरण प्रमुख है।[3] पर यह कौन-सा आचरण है कि हजारों रुपये के बम-पटाके खरीद कर आग दें। प्रदूषण बढ़ाओ। दमा के लोगों की फौज बढ़ाओ। यह कहां की नैतिकता है? और कहां की संस्कृति 1 सच कहा जाए तो आर्यों ने देश के मूलनिवासियों को सांस्कृतिक गुलाम बना रखा है। सांस्कृतिक गुलामी से आज भयानक स्थिति पैदा हो गई। माननिक गुलामी से हम अपने अच्छे-बुरे की भी पहचान नहीं कर पा रहे हैं। अपनी संस्कृति को भूलते जा रहे हैं। अपनी उपलब्धियों को भूल रहे हैं। यहां तक कि अपनी भाषा को भी भूलते जा रहे हैं। संस्कृति देश की प्रगति में बाधक है और सहायक थी। वरिष्ठ पत्रकार मोहनदास नैमिशराय तो यहां तक कहते हैं कि त्यौहार परिवर्तन के विरोधी रहे हैं तथा संस्कृति से जुड़ी रूढ़ियों और परंपराओं के समर्थक।

पहले मीडिया के प्रशिक्षण केन्द्र नहीं थे पर मीडिया का स्तर उच्च कोटि का था। मगर आज मीडिया के प्रशिक्षण केन्द्र कुकुर मुत्ते की तरह उग रहे हैं। अधिकांश प्रशिक्षण वे लोग दे रहे है जिन्हें पत्रकारिता की ए-बी.सी.डी का पता नहीं। भूमंडली करण ने पत्रकार को भौतिकवादी बना दिया है। इसलिए पत्रकार को सुख-सुविधा पहले चाहिए। बाद में और कुछ। ऐसे लोगों ने पत्रकारिता को मिशन से व्यवसायिक बना दिया है। इसलिए मीडिया में गिरावट आ रही है। 'राष्ट्रीय संस्कृति जो हमें स्वाधीनता आंदोलन से और फिर राष्ट्र निर्माण के प्रयासों से विरासत के रूप में मिली है।[4] वह आज धूमिल हो रही है। इसकी वजह यही है कि हम अच्छा पत्रकार तैयार नहीं कर पाए।

बकौल अजय तिवारी संस्कार से संस्कृति का संबंध होता है।[5] अच्छे संस्कार हमें मीडिया के प्रशिक्षण केंद्रों में नहीं दे पाए। इसलिए संस्कृति पर हमला मीडिया के माध्यम से हुआ। मीडिया ने भाषा बदली, हमारे खान-पान, वेश-भूषा के तौर तरीके बदले। कलाएं बदली क्योंकि कलाएं भी संस्कृति का उत्पाद है।[6] प्रो. सुधीश पचौरी तो यहां तक कहते है कि जो भी प्रकृति है उसके बाहर उसके अतिरिक्त जो भी मनुष्यकृत है उसे संस्कृति कहा जा सकता हैं। आज संस्कृति पर बहस नहीं होती। बाजारवाद पर बहस होती है। बाजारवाद एक बौखलाहट वाला शब्द है। जो भारतीय संस्कृति के लिए गलत है। मीडिया के छात्रों को जैसा पढ़ाओगे वे आगे चलकर वैसा ही काम करेंगे। उनके लिए संस्कृति कोई मायने नहीं है। उन्हें तो सिर्फ नोट चाहिए।

जब भाषा का एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से जोड़ती है तो समाज बन जाता है। इस समाज को श्रेष्ठ बनाने के लिए मनुष्य दिन-प्रतिदिन खोज करता है। कागज पर शब्दों से खेलता है। लिखे व बोले हुए शब्दों से सूचनांए बनती हैं। समाज गतिमान होता है। जब नैतिकता शब्दों का जामा पहनती है तब उसकी सार्थकता बढ़ती है। मीडिया से लोकचेतना जन्म लेती है। समाज की साफ-सुधरी झलक हमें दिखाई देने लगती है। जनता की इच्छाशक्ति बढ़ती हैं वह एक के बाद एक घटनाएं सुनने को लालायति होती है। घटना सुनना ही नहीं बल्कि जनता निदान भी चाहती है। घटनाएं सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षिक, आर्थिक इत्यादि हो सकती हैं। मीडिया उपरोक्त घटनाओं को प्रस्तुत करके जनता को अपना दास बना लेता है।

समाज एक उपवन है बच्चे, युवा वृद्ध इस उपवन के तने हैं। हवा पश्चिम से भी चलती है और पूर्व से भी। पत्रकार, संपादक अपने रचना-कार्य से इस उपवन को सींचते हैं। अर्थ देते हैं। अर्थ से मूल्य बनता है। मूल्य से समाज। कहने का तात्पर्य यह है कि ये तीनों तने सोचने के लिए विवश होते हैं। जीने का एक नया अंदाज बदलता है और बोलने का भी। क्योंकि अंधेरे में कोई नहीं रहना चाहता, सबको उजाला चाहिए। उजाजा दिखाना मीडिया का काम है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया दृश्य और आवाज दोनों को लेकर आता है, लेकिन हिंट मीडिया शब्द तक ही सीमित रह जाता है।

समाचार से लेकर सीरियल विज्ञापन तथा फिल्म से बच्चे, युवा तथा वृद्धों का गहरा संबंध जुड़ गया है। मनुष्य की गतिविधियां ही समाचार बन जाती हैं। और उनका परिवेश सीरियल तथा फिल्मों के माध्यम से दिखाई देने लगता है। इनकी कथा, संवाद, वेश-भूषा, गीत-संगीत आदि सभी समाज को सीधा-सीधा प्रभावित करते हैं। बुजुर्ग हमारा मार्ग दर्शन करते थे। जीने की राह दिखाते थे। उनका जीवन अनुभव भरा था। वह हमारे लिए वरदान था। पर अब ऐसा नहीं है। मार्गदर्शन व जीने का काम फिल्मों ने ले लिया है। इसलिए समाज का छोटे से लेकर बड़ा तबका तक फिल्मी अंदाज में एक-दूसरे से बतिया रहा है। युवा शिक्षित होने के स्थान पर पथभ्रष्ट होता जा रहा है। वर्तमान में टेलीविजन चौनल बुजुर्गों का माथा फिरवा रहे हैं। वृद्ध आश्रमों में उन्हें जाने के लिए मजबूर कर रहे हैं। सामाजिक रूचि को व्यावसायिक वृक्ष के नीचे ले जाकर खड़ा कर दिया है। अब समाज पहले जैसा समाज नहीं रहा।

समाज में हो रहे दिन-प्रतिदिन परिवर्तनों को देखकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के तेवर बदल रहे हैं। इसलिए नैतिकता व मानवता का प्रश्न बार-बार उठता है। जिस उद्देश्य को लेकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया शुरू हुआ था वह अब कोसों पीछे चला गया है। बच्चों के हाथों में पेन की जगह रिमोट आ गया है। वह किताबें के पन्ने पलटने की बजाए टेलीविजन पर बार-बार दृश्य बदल रहा है। फिल्मी संस्कार अब चर्चा के विषय बन गए हैं। अश्लीलता को महेश भट्ट कलात्मक कहने लगे हैं। यह कलात्मकता हमारी युवा पीढ़ी को कितना लील गई इसको हमस ब बखूबी जानते है। दारू के बल पर गीत व संगीत बज रहा है। कविता को नासूर लग गया है। कपड़े बनाने वाला रेडियो सुन रहा है और टेलीविजन पर देवदास फिल्म की नायिका एवं वर्मा राय की पोषाक देख रहा है। बंदर बया का घोंसला तोड़ रहा है। साहित्य संवेदना क्षीण हो गई है।

देश को एक श्रेष्ठ नागरिक देने वाली महिला से उम्मीदें थीं वे अब बालू देश को एक श्रेष्ठ नागरिक देने वाली महिला से उम्मीदें थीं वे अब बालू के टीले की तरह नष्ट हो रही हैं। महिलाएं फिल्मी अभिनेत्रियों को देखती हैं, वैसी ही सपने संजोती हैं सच कहा जाए तो हम ज्ञान की रूपी वटवृक्ष के नीचे से आगे बढ़ गए हैं। वहां हम न बारिश से बच पाएंगे और न धूप से। सिनेमा की चकाचौंध में जल्दी ही भौरे की तरह अपने भविष्य को नष्ट कर लेंगे।

संदर्भ

1. डॉ0 सोहन पाल सुमनाक्षर, आदिम जाति चमार इतिहास धर्म व संस्कृति, भारतीय दलित साहित्य अकादमी, टैगोर पार्क मॉडल टाउन, दिल्ली, पृ0- 233
2. अरुण, महापण्डित दशानन रावण, विश्वभारती पब्लिकेशन 1/378/4 ठ अंसारी रोड नई दिल्ली, पृ0- 74
3. शांति स्वरूप बौद्ध संपादक, धम्य दर्पण 100 अंक, भारतीय बौद्ध महासभा दिल्ली प्रवेश-बुद्ध बिहार अम्बेडकर भवन, रानी झाँसी रोड, नई दिल्ली, पृ0- 55
4. विजन विजन भारतीय संस्कृति श्री नटराज प्रकाशन/ए-507/12 साउथ गावड़ी, एक्स, दिल्ली पृ0- 53
5. डॉ0 एस. एस. सिंह देव निर्मोही, ऋग्वैदिक असुर और आर्य, राधा पब्लिकेशन 423/1ठ अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0- 62
6. सं-श्रीकांत सिंह, मीडिया विमर्श अंक मई 2007, ।-2 अनमोल फ्लैट्स अवंति बिहार कॉलोनी रायपुर, पृ0- 06

पथ के साथी मैथिलीशरण गुप्तः एक संस्मरण

डॉ० कृष्णा कुमारी

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग मार्खम कॉलेज ऑफ कॉमर्स, वि० भा० वि०, हजारीबाग, (झारखण्ड)

संस्मरण का शाब्दिक अर्थ होता है – 'सम्यक स्मरण'। किसी व्यक्ति, घटना, दृश्य, वस्तु की आत्मीयता के साथ स्मरण करना संस्मरण कहलाता है। इसमें व्यक्ति के निजी अनुभव सम्मिलित होते हैं। संस्मरण में किसी के सम्पूर्ण जीवन या सम्पूर्ण घटनाओं का चित्रण नहीं होता है अपितु जीवन की किसी एक या कतिपय घटनाओं का रोचक वर्णन होता है। लेखक अपने अनुभव से उस घटना का ऐसा मार्मिक वर्णन करता है कि पाठक उस अभिव्यक्ति से अभिभूत हो उठता है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में इसका उल्लेख इस प्रकार है – ''संस्मरण में लेखक अपने समय के इतिहास को लिखना चाहता है, परन्तु इतिहासकार के वस्तुपरक विवेचन से यह बिल्कुल अलग है। संस्मरण – लेखक जो कुछ देखता है, जिसका वह स्वयं अनुभव करता है उसी का वर्णन करता है। उसके वर्णन में उसकी अपनी अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ भी रहती है।''[1]

संस्मरण में लेखक अपनी संवेदनाओं के अनुरूप चित्रण करता है। इसमें आत्मीय भाव एवं भावप्रवणता की प्रधानता होती है। इसमें कल्पना का स्थान नहीं होता है। यहाँ सब कुछ यथार्थ रूप में दिखलाई पड़ता है। डॉव्म् शरण बिहारी गोस्वामी ठीक ही लिखते हैं – ''अतीत की अनंत घटनाओं में से जब कलाकार किसी अधिक स्मरणी या अविस्मरणीय घटना को अपने व्यक्तित्व में रंगकर रोचक शैली में यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है तब संस्मरण लोकोपयोगी बनता है। उसमें इतिहास का पुट अधिक और कल्पना का कम। संस्मरण में देखा, अनुभव किया और परखा हुआ तथ्य अथवा सत्य उभर कर अपनी ओर आकृष्ट करता है। संस्मरण का मूल उद्देश्य पाठक को अपने विषय की एक गहरी छाप देना होता है।''[2]

हिन्दी के लोकप्रिय संस्मरण लेखकों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पद्म सिंह शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, आचार्य शिवपूजन सहाय आदि के नाम लिये जाते हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका में अनेक संस्मरण लिखे। पद्म सिंह शर्मा ने भी अनेक संस्मरण लिखे। पद्म सिंह शर्मा के संस्मरण 'पद्म पराग' में संकलित हैं जो अत्यन्त उच्च कोटि के हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'संस्मरण' तथा 'हमारे अपराध' शीर्षक से अत्यन्त आकर्षक शैली में संस्मरण लिखे। इस युग के अन्य संस्मरण लेखकों में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह का नाम उल्लेखनीय है। संस्मरणमूलत रचनायें लिखने में वे अप्रतिम है। रामवृक्ष बेनीपुरी की रचना 'माटी की मूरतें' में ग्रामीण जीवन के सुन्दर संस्मरण हैं। ''शिवपूजन सहाय के संस्मरण तथा रेखाचित्र 'वे दिन वे लोग' में संकलित हैं। कला विनोद के पुष्ट मुहावरेदार भाषा में लिखित उनके संस्मरणात्मक रेखाचित्रों में चित्रोपमयता का गुण कूटकूट कर भरा हुआ है।''[3]

महादेवी वर्मा के संस्मरण उनकी पुस्तक 'अतीत के चलचित्र', 'पथ के साथी' आदि में संकलित हैं। 'अतीत के चलचित्र' में ग्यारह संस्मरणात्मक रचनायें हैं। इसमें सात रचनायें विभिन्न स्त्रीपात्रों की मार्मिक कथाव्यथा पर केन्द्रित है। ये संस्मरण कथाएँ लेखिका के लिए इनकी आत्मीयता और महत्ता की अधिकारिणी है। वे स्वयं कहती हैं – ''प्रस्तुत संग्रह में ग्यारह संस्मरण कथाएँ जा सकी हैं। उनसे पाठकों का सस्ता मनोरंजन हो सके, ऐसी कामना करके मैं इन क्षत-विक्षत जीवनों को खिलौनों की हाट में नहीं रखना चाहती। यदि इन अधूरी रेखाओं और धुँधले रंगों की समष्टि में किसी को अपनी छाया की एक रेखा भी मिल सके तो यह सफल है।''[4]

अतीत के चलचित्र' में नारी की व्यथा-कथा के संस्मरण अत्यन्त भावुक एवं मर्मस्पर्शी हैं। इस संबंध में डॉ० आशा गुप्ता लिखती है - ''स्त्री-पुरुष के संबंधों को लेकर महादेवी जी का वक्तव्य किसी किताबी ज्ञान पर आधारित नहीं है अपितु वह इस चिरन्तर सत्य तक मौलिक जीवन के तथ्यों के सहारे पहुँची है। यही कारण है कि उनके संस्मरण अधिकांशत: नारी की अभिशप्तावस्था और परवशता का चित्र उपस्थित करते हैं।''[5]

'पथ के साथी' शीर्षक उनका संस्मरण हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकारों पर लिखे गये हैं। इस संस्मरणात्मक ग्रंथ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, सियारामशरण गुप्त आदि पर संस्मरण हैं। मैथिलीशरण गुप्त शीर्षक संस्मरण का आरम्भ वे उनकी हस्तलिपि का उल्लेख करते हुए करती हैं। गुप्त जी को भारतीय संस्कृति में गहरी आस्था थी। तभी तो वे 'श्री गणेशाय नम:' का स्मरण कर अपनी लेखनी को आगे बढ़ाते हैं। महादेवी वर्मा गुप्त जी के इस भक्तिपरक स्वभाव से परिचित थी। आगे वह लिखती हैं- ''मैं गुप्त जी को कब से जानती हूँ इस सीधे-से प्रश्न का मुझसे आज तक कोई सीधा-सा उत्तर नहीं बन पड़ा। प्रश्न के साथ ही मेरी स्मृति के एक धूमिल पृष्ठ पर उँगली रख देती है। जिस पर न वर्ष, तिथि आदि की रेखाएँ हैं और न ही परिस्थितियों के रंग। केवल कवि बनने के प्रयास में बेसुध एक बालिका का छायाचित्र उभर आता है।''[6]

महादेवी जी अपनी बाल्यावस्था में तुकबंदी और समस्या-पूर्ति करती थीं। एक बार एक सवैया में समस्या-पूर्ति के प्रयत्न में कई दिवस व्यतीत हो गए। उन्हीं दिनों 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित गुप्त जी की रचनाओं से उनका नयानया परिचय हुआ था। बोलने की भाषा में कविता लिखने की सुविधा ने उन्हें खड़ी बोली की ओर आकर्षित किया। अत: समस्या-पूर्ति के स्थान पर वे विचित्र प्रकार की तुकबंदी करने लगी। वे जो कुछ भी लिखतीं, उसके अंत में 'अहो' जैसा तुकान्त रख उसे खड़ी बोली का जामा पहना देतीं। महादेवी का खड़ी बोली की तुकबंदी से जिस प्रकार परिचय हुआ, उसे ही वे गुप्त जी से परिचय मानती हैं।

मैथिलीशरण गुप्तजी का जन्म ऐसे परिवार में हुआ जिसकी प्रतिष्ठा के ऊँचेपर्वत के चारों ओर अर्थ-संकट की खाई गहरी होती जा रही थी। बाहरी रूप से देखने में वे अत्यंत साधारण दिखाई देते हैं परन्तु उसकी बंधी दृष्टि और मुक्त हँसी ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें सबसे अलग कर देती है। ''उनकी दृष्टि और हँसी उन्हें किसी के निकट अपरिचित नहीं रहने देती कभी कभी तो उनका देखना और हँसना इस तरह साथ चलता है कि दृष्टि हँसती सी लगती है और इसी से दृष्टि का आलोक बरसता जान पड़ता है। वे स्वभाव से प्रसन्न और विनोदी हैं, पर इस प्रसन्नता और विनोद की चंचल सतह के नीचे गहरी सहानुभूति और तटस्थ विवेक का स्थायी संगम है जिस पर सबकी दृष्टि नहीं जाती है।''[7]

महादेवी जी मैथिलीशरण के पिताजी के व्यक्तित्व और स्वभाव की झाँकी प्रस्तुत करते हुए लिखती हैं - ''लम्बी तलवार साथ रखने वाले कवि-पिता जीवन में सखी संप्रदाय के उपासक थे, जिसमें नारी की साधना ही इष्ट-पूजा है। उनकी तलवार यदि एक युग की वीर गाथा है, तो उनकी रहस्य रामायण दूसरे युग का प्रेम-गीत। उनकी वर्णव्यवस्था में आस्था यदि एक युग की धरोहर थी, तो मुस्लिम बालक मुंशी अजमेरी को छठा पुत्र मान लेना दूसरे युग का वरदान।''[8]

मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व में संतुलन मिलता है पर उसमें चरम सीमाओं पर ऐसा आगपानी भी है जो कोई समझौता नहीं करता। उनके संबंध में एक व्यक्ति का मत दूसरे का विरोध हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं हैं बिजली के पॉजीटिव और नेगेटिव तारों के समान कोमलकठोर तार उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में साथ-साथ फैले हुए हैं। उनके जीवन और साहित्य में उन तारों के संयोग का ही उजाला है। आज भी हमारा शिक्षा-यंत्र विद्यार्थी के व्यक्तित्व को तोड़-मरोड़ कर एकांगी बना लेता है किन्तु शिक्षा संबंधी परीक्षाओं से शीघ्र मुक्ति पा जाने के कारण गुप्तजी के व्यक्तित्व को अपने संस्कार और वातावरण के अनुसार विकास की सुविधा प्राप्त हो गई और परीक्षा में हथौड़े के नीचे अपनी प्रतिभा को गढ़ने के प्रयत्न में उन्होंने उसे चूरचूर नहीं होने दिया। इस प्रकार शिक्षा संबंधी परीक्षाओं से मुक्ति पाकर अपने व्यक्तित्व को अपने संस्कार और वातावरण के अनुसार विकसित करने की सुविधा प्राप्त कर ली। जीवन की पुस्तक के हर पृष्ठ को उन्होंने जिज्ञासु विद्यार्थी के समान पढ़ा और उसकी प्रत्येक परीक्षा में वैध उपायों से ही उतीर्ण होने का प्रयत्न किया।

गुप्तजी के जीवन में दु:ख भी आये। तीस वर्ष की अवस्था होने के पूर्व ही वे दोबार विधुर हो चुके थे। उनकी दस संतानों में से एक है जिसकी शिक्षा-दीक्षा के बारे में चिन्तित होकर एक बार उन्होंने महादेवी से प्रार्थना की - 'यदि आप उसका भार ले सके तो उसे भेजने का प्रबंध किया जाये।

गुप्तजी एक भक्त कवि हैं राम कथा के प्रति उनकी असीम आस्था है। उन्होंने साहित्य से ऐसी कथाएँ चुनी हैं जो लोक-हृदय में प्रतिष्ठा पा चुकी हो, पर उस परिधि के भीतर हर चरित्र का कुछ नया निर्माण उनका अपना है। वे रामायण को नहीं भूलते, पर रामायणकार जिन्हें भूल गया उन चरित्रों को अपने ढ़ंग से स्मरण करते हैं। सारांश यह है कि उनके साहित्य में जो नूतनता है उसका आधार पुराना है और जो पुराना है, उस पर रंग नया है। उन्होंने महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेख 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' से प्रभावित होकर 'साकेत' जैसे महत्वपूर्ण महाकाव्य की रचना की। इस महाकाव्य के आरम्भ में ये अत्यन्त विनम्र भाव से भगवान राम के प्रति भक्ति प्रकट करते हैं -

''राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।''[9]

गुप्त जी स्वभाव से नम्र हैं, पर यह विनय उनकी वैष्णवता का ऐसा पानी है जो बड़ेबड़े जहाजों को संभाल सकता है, किन्तु छोटे-से पत्थर का भी भार सहन नहीं कर सकता। जीवन के पिछले पहर ने उन्हें ऋण से जो मुक्ति मिली है उस तक पहुँचने के लिए उन्होंने अर्थ-संकट का भार भी झेला है। उन दिनों की स्मृति मात्र से उनकी आँखें सजल हो जाती हैं पर अपने स्वाभिमान की ज्ञान पर उन्होंने कभी आँच न आने दी। याचक की सहनशीलता उनमें नहीं हैं, पर आत्मीय जनों का अनुरोध अस्वीकार करने की दृढता का भी उनमें अभाव है। एक बार कला-भवन के लिए अर्थसंकट के उद्देश्य से जब एक शिष्ट-वाचक-मंडल की योजना बनाई गई और उसमें उनका नाम भी लिख दिया गया तो मानों एक प्रकार से उन पर आतंक की छाया पड़ गई। वैसे गुप्तजी सभा-सम्मेलन आदि की अध्यक्षता से भी कम नहीं घबड़ाते।

गुप्तजी एक स्पष्टवादी व्यक्ति के रूप में जाने जाते हैं। स्पष्टवादिता के कारण उन्हें किसी प्रकार की मंत्रणा में सम्मिलित करना खतरे से खाली नहीं है। किस अवसर पर किस बात को कैसे छिपा लेना चाहिए इस कला से वे अपरिचित हैं। परिणामत: जहाँ मौन रहना चाहिए वहाँ वे सब कुछ कह देंगे। जो बात उनके हृदय में है, उसे वे तुरंत कह देते है। किसी भी वर्ग के व्यक्ति के सम्मुख उसके दोषों की व्याख्या करने से वे नहीं हिचकते। ऐसी मुखर स्पष्टवादिता प्राय: लौकिक सफलता से मेल नहीं खाती। इस प्रकार उनकी दृष्टि में वही रहता है जो उनके हृदय में है और हृदय में वहीं रहता है जो वचन में है। हम उन विचारों से सहमत हों या असहमत पर उनके सम्बन्ध में किसी भ्रम या उलझन में नहीं पड़ सकते।

महादेवी वर्मा साहित्यकार संसद के लिए भवन खरीदने के संस्मरण का वर्णन इस प्रकार करती है। एक बार साहित्यकार संसद के लिए गंगा तट पर एक भवन खरीदने का निश्चय हुआ। महादेवी जी ने वह स्थान गुप्तजी को दिखाया, तब वे रास्ते भर जो कुछ कहते रहे उसका आशय था कि मुझे ऐसे क्रयविक्रय का अनुभव नहीं है। फिर भी वे गृहस्वामी से बात करके कम में तय करा देंगे किन्तु गंगा के तट पर बड़े कमल सा रखा हुआ मंदिर देख कर वे सब कुछ भूल गए।

गुप्तजी का शोषण प्रकाशकों ने किया। आर्थिक दृष्टि से गुप्तजी की आज की जो स्थिति है, उसका श्रेय इंडियन प्रेस को भी है जिसने रंग में भंग छाप कर उन्हें कुछ नहीं दिया। वास्तव में अर्थसंकट में गुप्तजी की स्थिरता अपने पिता और अग्रज की व्यवस्था के कारण हुई। गुप्तजी व्यक्तिगत सुखदु:खों में विचलित कम होते हैं पर किसी निर्दोष के प्रति किये गये अन्याय पर वे उत्तेजित हो जाते हैं। सन् 42 के आन्दोलन में पुलिस ने बिना किसी कारण उन्हें तथा उनके अग्रज को बंदी बना लिया। जेल में कलेक्टर ने अपने कवि बंदी से पूछा - 'आप कुछ कहेंगे?' तो वे उग्रता से बोले - 'आपका दिमाग खराब हो गया है, आपसे क्या बाते करे! आप निर्दोषों को पकड़ते घूमते हैं। हमारा क्या, हम तो लेखक ठहरे, यहाँ सब देखेंगे और इसके खिलाफ लिखेंगे।'

महादेवी वर्मा उनके खपरैल घर की स्थिति के संबंध में लिखती हैं। उनकी हवेली के समीप उनका नीम की टेढ़ीमेढ़ी बल्लियों पर खपरैल से छाया हुआ शयनकक्ष है। उसके बाहर तुलसी चौरा और गेंदें के पौधे तथा भीतर पत्थर के चबूतरे पर कविता लिखने के लिए रखी हुई दो तीन स्लेटें और एक छोटा डेस्क देखकर गाँव की प्राथमिक पाठशाला की भ्रांति होती हे। परिचित-अपरिचित सभी प्रकार के अतिथि वहाँ देवता बन जाते हैं। बैठक के एक ओर स्वर्गीय मुंशी अजमेरी के बैठने का कोना आज खाली है पर गुप्तजी का हृदय अपने प्रिय बंधु की चर्चा से भरा रहता है। गुप्तजी एक सहृदय व्यक्ति हैं। वे सबकी समस्याएँ सुनते हैं, सबके काम आने की उनमें इच्छा रहती है। उनके कारण ही चिरगाँव में राम का नाम-स्मरण अभिवादन बन गया। किसी का बनता हुआ मकान देखना, किसी की नई दुकान का निरीक्षण करना, किसी के छप्पर के सम्बन्ध में सलाह देना, किसी के खेत की बात पूछना आदि कार्य वे सहज भाव से करते चलते हैं। बंगदर्शन के प्रकाशन के अवसर पर जब अन्य कवियों की अस्वीकृति पाने के लिए भी कई-कई पत्र लिखने पड़े थे तब मेरे पहले पत्र के उत्तर में गुप्तजी तार आया - 'कविता भेजता हूँ।'

महाकवि निराला के साथ उनके संबंध का उल्लेख करते हुए महादेवी वर्मा कहती हैं कि एक दिन अस्तव्यस्त रहने वाले निरालाजी से उन्होंने सहज भाव से कह दिया - 'हम इस बार आप के पास ठहरेंगें।' तब अपने लिए असावधान निराला में नया घड़ा मंगवा कर गंगा-जल लाने की सावधानी आ गई। थोड़ी देर बात करने वाले भी जिनका रूख देखते रहते हैं उन्हीं निराला से गुप्तजी आधी रात तक सुख-दु:ख की कथा कहते-सुनते रहे और उन्हें समझाते-बुझाते रहे। साहित्यकार राय कृष्णदास के साथ भी उनके संबंध रहे। राय कृष्णदास के साथ गुप्तजी के संबंधों की चर्चा करते हुए महादेवी वर्मा लिखती हैं - ''राय कृष्णदास द्वारा आयोजित उनकी हीरक जयन्ती के समारोह ने ऐसा सुयोग उपस्थित कर दिया कि गुप्तजी दस हजार की थैली साहित्यकार संसद को देकर कुछ आश्वस्त हो सके। उनकी आत्मीयता साहित्यिक वर्ग की विविधता से न सीमित होती है और न घटती-बढ़ती है। चाहे कोई सुकुमार हो चाहे उग्र, चाहे रहस्यवादी चाहे स्पष्टवादी उनकी आत्मीयता सब पर बादल की तरह बरस जाती है।''[10]

इस प्रकार महादेवी वर्मा के इस संस्मरण में हिन्दी के ख्यातिलब्ध साहित्यकार मैथिलीशरण गुप्त के पारिवारिक, सामाजिक एवं साहित्यिक संबंधों का मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है। ये प्रसंग उनके व्यक्तित्व को गौरव प्रदान करते हैं। इन सबों के चित्रण में महादेवी वर्मा की रचनात्मक प्रतिभा निखर उठी है।

संदर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग - 1 पृष्ट - 870; सम्पादक - डॉ० धीरेन्द्र वर्मा।
2. हिन्दी संस्मरण - डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी; पृ० - 32
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास - स० डॉ० नगेन्द्र; पृ० - 714
4 अतीत के चलचित्र - महादेवी वर्मा, पृ० - 10
5 महादेवी वर्मा - डॉ० आशा गुप्त, पृ० - 24
6 पथ के साथी - महादेवी वर्मा, पृ० - 20
7 वही; पृ० - 23
8 वही; पृ० - 26
9 साकेत - मैथिलीशरण गुप्त; (पुस्तक के आरम्भ में)
10 पथ के साथी - महादेवी वर्मा, पृ० - 33

कबीर के अध्ययन की परम्परा

प्रेम नाथ गौतम

शोध छात्र, इलाहाबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

'कबीर' क्या हैं? कबीर को हम किस रूप में जानते हैं? कबीर को दुनिया किस रूप में जानती है? सब से महत्वपूर्ण सवाल यह है कि हिन्दी साहित्य में कबीर किस रूप में मौजूद हैं? हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी कबीर को किस रूप में जानता है? हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी को कबीर के बारे में इस देश के विश्वविद्यालयों में इन रूपों में पढ़ाया जाता रहा है –

1. कबीर हिन्दू थे
2. कबीर वैष्णव भक्त थे
3. कबीर के गुरु ब्राह्मण रामानंद थे
4. कबीर ने हिन्दू मुस्लिम में एकता स्थापित करने का काम किया था
5. कबीर एक ब्राह्मणी विधवा के गर्भ से पैदा हुए थे
6. कबीर निरक्षर थे

पर क्या कबीर के बारे में हिन्दी साहित्य में स्थापित उपरोक्त मान्यताएँ सच हैं? हिन्दी साहित्य में कबीर के बारे में स्थापित उपरोक्त मान्यताओं का कोई ऐतिहासिक आधार है? क्या उपरोक्त मान्यताएँ कबीर की खुद की वाणियों से मेल खाती हैं? सच बात तो यह है कि कबीर के बारे में स्थापित उपरोक्त मान्यताओं का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। इस से बढ़ कर दुर्भाग्यपूर्ण सच यह है कि कबीर के बारे में साहित्य में लिखी और पढ़ायी जा रहीं इन मान्यताओं की ऐतिहासिकता की जाँच परख की कोशिश तक नहीं की गई। कारण यह है कि इस देश में शोध की कोई प्रवृत्ति नहीं रही है। इस देश में इतिहास लेखन की परम्परा नहीं रही है। इतिहास के नाम पर इस देश के लोग स्मृति और पुराण ही जानते रहे हैं। इस देश में लिखने पढ़ने का ढेका द्विजों ने ले रखा था। द्विज भी ब्राह्मण के लिखे को ही आँख मूंद कर आगे बढ़ाते रहे।

ब्राह्मण इतिहास का विरोधी होता है। वह इतिहास को दबाने के लिए दो तरीके अपनाता है –एक तो इतिहास से बिल्कुल अलग हट कर पुराण रचता है और दूसरा प्रक्षिप्त और किंवदंतियाँ गढ़ कर इतिहास को निस्तेज करता है। कबीर के साथ ब्राह्मण ने अपना दूसरा तरीका अपनाया है। उस ने किंवदंतियाँ गढ़ कर कबीर के इतिहास को धूमिल कर रखा था और प्रक्षिप्त रच कर कबीर वाणी को दबा रखा था। ऊपर की सारी मान्यताएं ब्राह्मण लेखकों द्वारा गढ़ी हुयीं किंवदंतियाँ हैं। इन किंवदंतियों की जाँच परख और कबीर की मूल वाणी, कबीर के आंदोलन पर ऐतिहासिक रूप से बहस हिन्दी जगत में सर्वप्रथम प्रखर दलित चिन्तक डा. धर्मवीर द्वारा खडीघ की गई। कबीर के बारे में द्विज लेखकों द्वारा जो मान्यताएँ गढ़ी गई थीं डा. धर्मवीर ने उन्हें किंवदंतियों के रूप में चिन्हित किया और उन पर जबरदस्त प्रश्न खड़े किए। स्थिति यह हो गई है कि कबीर पर अब कोई भी बात डा. धर्मवीर के अध्ययन को इग्नोर कर नहीं की जा सकती।

डा. धर्मवीर के कबीर विषयक विमर्श की शुरुआत साल 1997 में आई उन की किताब 'कबीर के आलोचक' से हुई। इस किताब ने हिन्दी साहित्य जगत में भूचाल ला दिया था। कबीर को पढ़ने समझने की एक नई दृष्टि इस किताब ने प्रदान की। इस किताब में उन्होंने कबीर पर सब से पहले कलम चलाने वाले ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर द्विज लेखकों की खबर ली जिन के नाम इस प्रकार हैं – अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, डा. श्याम सुंदर दास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा. परशुराम चतुर्वेदी और डा. राम निवास चंडक। इन सभी हिन्दू लेखकों ने कबीर को हिन्दू फोल्ड के भीतर लाने के उद्देश्य से कबीर पर अपनी लेखनी चलाई थी। कबीर को हिन्दू सिद्ध करने के लिए इन द्विज लेखकों ने तरह तरह की जनश्रुतियों,

किंवदंतियों और प्रक्षिप्तों का सहारा लिया जिन का उल्लेख लेख के शुरुआत में किया गया है। इन द्विज लेखकों का उद्देश्य असली कबीर को खोजने का नहीं था। बल्कि कबीर के सहारे उन्होंने अपना मंतव्य पूरा करना चाहा था। किताब 'कबीर के आलोचक' कबीर के बारे में फैली जनश्रुतियों का ऐतिहासिक परीक्षण करती है और कबीर के बारे में सभी प्रकार की किंवदंतियों और प्रक्षिप्तों का खंडन करती है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में देश स्वतंत्रता आंदोलन में संघर्षरत था ऐसे में सवाल है कि द्विजों को कबीर पर लिखने की आखिर क्या जरूरत पड़ गयी थी? इस के बारे में बताते हुए डा. धर्मवीर लिखते हैं –"यूरोप के विद्वानों ने कबीर के साहित्य को समझने का आरंभ बहुत पहले कर दिया था जिसके क्रम में रेवरेंड जी. एच. वेस्टकाट की 'कबीर एंड द कबीर पंथ' के शीर्षक से अंग्रेजी में पुस्तक आई थी। इस पुस्तक का महत्व इस दृष्टि से समझा जाना चाहिए कि उन्होंने हिंदी के विद्वानों से पहले कबीर को समझने की शुरूआत की थी। यह पुस्तक सन् 1907 में पहली बार प्रकाशित हुई थी। आश्चर्य की बात है कि हिंदी वालों ने इस पुस्तक के बाद ही कबीर पर लिखना शुरू किया था। डॉ. राम स्वरूप चतुर्वेदी ने भी इस बात को माना है कि '...बंगला तथा हिंदी लेखकों के अध्ययन ईसाई मिशनरियों के कबीर विषयक कार्य के गहरे दबाव में हुए थे।'"[1]

इस देश के आज के दलित पीछे अस्पृश्य, अछूत, अन्यज आदि नामों से जाने जाते रहे हैं। अस्पृश्य, अछूत के रूप में दलितों के खिलाफ हजारों साल से सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, शैक्षिक, आर्थिक दमन और अत्याचार होते आ रहे हैं। इन दमन और अत्याचारों के खिलाफ दलित इतिहास में लगातार आंदोलनरत भी रहे हैं। चूंकि दलितों को कलम थामने नहीं दी गई इसलिए वे अपना इतिहास लिखित रूप में संरक्षित नहीं कर सके। अंग्रेजों ने इस देश के इतिहास को खोजने का काम शुरु किया। इसी क्रम में उन्होंने कबीर पर लिखा। अंग्रेज लेखक कबीर के बारे में क्या लिख रहे थे? इस बारे में डा. धर्मवीर लिखते हैं –"...कबीर के विदेशी विद्वानों की एक अच्छी विशेषता यह है कि वे कबीर को उनकी दलित जुलाहे जाति से और कबीरपंथ से जोड़ कर देखते हैं।"[2] बस, एक यही डर था जिसने द्विज लेखकों को कबीर पर लिखने के लिए मजबूर किया था। दरअसल अंग्रेजी शासन ने दलितों के लिए लिखने पढ़ने और रोजगार के द्वार खोले जिस का परिणाम यह हुआ कि दलित अपने हर तरह के हक अधिकारों के लिए और ज्यादा मुखर हुए। बीसवीं शताब्दी के शुरूआत में तो दलितों ने अखिल भारतीय स्तर पर धार्मिक आंदोलन शुरू कर दिया था जिन में उत्तर भारत में स्वामी अछूतानंद हरिहर के नेतृत्व में 'आदि हिन्दू' और पंजाब में 'आदि धर्मी' प्रमुख थे। ये आंदोलन दलित समाज की स्वतंत्र धार्मिक पहचान के आंदोलन थे। खुद द्विजों द्वारा भारत की सत्ता हथियाने का राष्ट्रवादी आंदोलन चलाया जा रहा था जिस की सफलता के लिए उन्हें अछूतों को साथ जोड़ने की मजबूरी आन पड़ी थी। दूसरी तरफ अंग्रेज लेखकों द्वारा मध्यकाल के दलित संत कबीर पर किताबें लिखी जा रही थीं। कहीं ऐसा न हो कि आदि हिन्दू आंदोलन के लोगों को मध्यकाल में 'न हिन्दू न मुसलमान' का उद्घोष करने वाले अपने पुरखे कबीर के धार्मिक आंदोलन की पहचान हो जाए, इस चुनौती से निपटने के लिए द्विज लेखकों ने कबीर पर लेखनी चलानी शुरु की। उन के भीतर फर्जी जनश्रुतियों के सहारे किंवदंतियाँ गढ़ कर कबीर को हिन्दू सिद्ध करने की परम्परा चल निकली। कबीर' को हिन्दू सिद्ध करने की द्विजों की मंशा उजागर करते हुए डा. धर्मवीर ने लिखा है –"उन सबका उद्देश्य इस संभावना पर रोक लगाना है कि हिन्दू धर्म को छोड़कर भारत के दलितों का कोई नया या अलग धर्म भी हो सकता है।"[3]

डा. धर्मवीर ने अपनी किताब 'कबीर के आलोचक' से इस देश में आलोचना की एक नयी पद्धति भी खड़ी की। डा. धर्मवीर के पहले द्विज लेखकों द्वारा की गई कबीर की आलोचना पौराणिक और किंवदंतियों के आधार पर थी। इस के उलट डा. धर्मवीर ने इतिहास और समाज की कसौटी पर कबीर का अध्ययन किया। डा. धर्मवीर ने अपनी पहली ही किताब में कबीर के ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय अध्ययन द्वारा द्विज लेखकों की सारी किंवदंतियों को जड़मूल से खत्म किया। उन्होंने कबीर को हिन्दू फोल्ड से मुक्त किया। साथ ही उन्होंने कबीर को हिन्द मुस्लिम से अलग स्वतंत्र विचारधारा का दार्शनिक सिद्ध किया। कबीर को हिन्दू मुस्लिम दोनों के फोल्ड से अलग करते हुए डा. धर्मवीर लिखते हैं –"कबीर का अपना एक अलग समाज है –इसे कबीर का लक्ष्य समाज कहा जा सकता है। इस लक्ष्य समाज में इस देश शूद्र और अन्तयज शुमार होते हैं। ये लोग यहाँ के अर्थशास्त्र में मजदूर और छोटे किसान बने हुए हैं। कबीर को केवल इनके भले की सोचनी है। सच बात यह है कि ब्राह्मण का भला वेद से होता है और मुल्ला का भला कुरान से होता है लेकिन कबीर का पक्ष यह था कि दलितों का भला कौन करेगा?"[4] कबीर के विरोधियों द्वारा कबीर के बारे में गढ़ीं गयीं सारी किंवदंतियों को उखाड़ फेंकते हुए डा. धर्मवीर ने कबीर को 'दलित धर्म का प्रवर्तक' सिद्ध किया। कबीर के ऊपर थोपे गए ब्राह्मण रामनांद नाम की किंवदंती को कबीर की विचारधारा और कबीर के समाज को दृष्टिगत रखते हुए डा. साहब लिखते हैं –"कबीर के गुरु मक्खी और मच्छर हो सकते

थे, कबीर के गुरु कुत्ते और बिल्ली हो सकते थे लेकिन रामानन्द ब्राह्मण उन के गुरु कभी नहीं हो सकते थे।"[5] ऐसे ही द्विज लेखकों द्वारा कबीर को अनपढ़ कहे जाने की बात का खंडन डा. धर्मवीर ने इस प्रकार किया है –"ब्राह्मणों ने चिढ़ कर कबीर को अनपढ़ इसलिए कहा है क्योंकि कबीर ने उनके धर्म ग्रन्थ वेद की निन्दा की थी अन्यथा कबीर गैर-संस्कृत भाषा के मामले में ज्यादा पढ़े लिखे व्यक्ति थे। लेकिन यूँ तो संस्कृत न पढ़ी हुई होने के कारण ब्राह्मणों की दृष्टि में डा. अम्बेडकर भी अनपढ़ व्यक्ति थे। कबीर के साहित्य को पढ़ने से लगता है कि उन्होंने गहन शिक्षा ग्रहण की थी। उनके अनुभव तर्क-संगत और व्यापक हैं।"[6]

इतिहास में तिथियों का बड़ा महत्व रहता है। तिथियों से कालक्रम अर्थात समयकाल का पता चलता है। यूं तिथियां ही इतिहास होती हैं। चूंकि कबीर को नष्ट करना था इसलिए कबीर के विरोधियों ने कबीर के समय को पूरी तरह से गायब करने की कोशिश की। कबीर की उम्र को तो उन्होंने अपनी पुराण पाथने की परम्परा में 300 वर्ष तक का बता डाला था। इस प्रकार कबीर के विरोधियों ने इतिहास पुरुष कबीर को नष्ट कर पौराणिक पात्रों की श्रेणी में ला कर खड़ा कर दिया था। आधुनिक काल के द्विज लेखकों ने तो कबीर के समय को और भी धूमिल करने का काम किया। इस दिशा में डा. धर्मवीर ने शोधपरक काम किया। कबीर के आलोचक किताब के पहले अध्याय 'कबीर का समय: जन्म और उनकी मृत्य' में डा. धर्मवीर ने कबीर के समय और उन की उम्र के निर्धारण का ऐतिहासिक काम किया है। डा. साहब ने कबीर की वाणी, वैज्ञानिक और ऐतिहासिक साक्षयों के आधार पर कबीर की आयु की गणना की। अध्याय के अंत में कबीर के उम्र के बारे में निष्कर्ष रूप में डा. धर्मवीर ने लिखा है –"अगली बात, संवत 1455 को कबीर का ज्ञान प्राप्ति का वर्ष माना जा सकता है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति के समय कबीर की आयु 30 वर्ष की होने पर उनकी कुल आयु 80 वर्ष की ठहरती है। कोई कारण नहीं है कि कबीर की आयु 80 वर्ष से अधिक की हो। यह असम्भव नहीं है – बुद्ध की भी यही आयु रही थी। इस गणित के हिसाब से कबीर का जन्म संवत् 1425 के लगभग बैठता है। डॉ. मोहन सिंह ने इसे संवत् 1417 तक माना है जहाँ तक जाने में कोई कठिनाई नहीं है। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने कबीर की आयु 78 वर्ष की मान कर उनका जन्म वर्ष संवत् 1427 माना है।"[7] इस प्रकार डा. धर्मवीर ने कबीर का जन्म वर्ष 1425 संवत् (सन् 1368) तथा मृत्यु वर्ष संवत् 1505 (सन् 1448) निर्धारित किया है। कबीर का समय निर्धारण के क्रम में डा. साहब ने जिन तर्कों का प्रयोग किया है वे बेजोड़ हैं और पढ़ते ही बनते हैं।

'कबीर के आलोचक' को पढ़ने से पता चलता है कि डा. धर्मवीर कबीर विमर्श में गहन अध्ययन के बाद और पूरी तैयारी के साथ उतरे हैं। उन्होंने किताब की भूमिका में शुरू में ही बताया है कि, –"यह पुस्तक कबीर पर मेरी बड़ी योजना का एक हिस्सा है।"[8] उस बड़ी योजना के क्रम में डा. धर्मवीर की कबीर के आलोचक किताब के बाद अब तक पाँच किताबें और प्रकाशित हो चुकी हैं जिन के नाम इस प्रकार हैं –

1. कबीर: बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी, 2000
2. कबीर और रामानंद: किंवदंतियाँ, 2000
3. कबीर: डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रक्षिप्त चिंतन, 2000
4. कबीर के कुछ और आलोचक, 2002
5. कबीर: सूत न कपास, 2003

सन्दर्भ

1. कबीर के कुछ और आलोचक, डा.धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ 107
2. वही, भूमिका से
3. कबीर के आलोचक, डा. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, न ई, दिल्ली, 1997, भूमिका से
4. वही, पृष्ठ 30
5. वही, पृष्ठ 96
6. वही, पृष्ठ 40-41
7. वही, पृष्ठ 24
8. वही, भूमिका से

विजयदेव नारायण साही की आलोचना का स्वरूप और वैशिष्ठ्य

कुमारी कोमल

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

विजय नारायण साही अपनी आलोचना का आरंभ मार्क्सवादी विचारधारा के मानवीय सरोकार के अन्वेषण के द्वारा करते है। इस कवि हृदय आलोचक का आलोचना -संसार 'जायसी' और 'पद्मावत' के विवेचन - विश्लेषण में अपनी परिणति प्राप्त कर लेता है। साही जी छायावाद से लेकर अज्ञेय तक की कविता की मौलिक उद्‌भावना की भाव -भूमि की भी छानबिन करते हैं। साथ- साथ कवियों के कवि 'शमशेर' की काव्यनुभूति की बनावट को पकड़ने की भी कोशिश करते दिखाई देते है। कभी काव्य भाषा की समस्या से जूझते दिखाई देते है तो कभी साहित्यिक अश्लीलता का समाधान खोजते है। कुल मिलकर कहा जा सकता है कि विजयदेव नारायण साही की आलोचना का स्वरूप बहुआयामी है। और यही बहुआयामी स्वरूप उनकी आलोचना का वैशिष्ट्य भी है।

आलोचना रचना के प्रति होने वाली एक सहज प्रतिक्रिया है। विजयदेव नारायण साही की आलोचना का स्वरूप जहां एक ओर पूर्णत: व्यावहारिक प्रतीत होता है वहीं उसमें शास्त्रीयता के तत्व भी मिल जाते है। साही जी जब सूफी दर्शन के तसव्वुफ का विवेचन करते है तो उनकी आलोचना पूर्णत: शास्त्रीय हो जाती है लेकिन 'जायसी' और उनकी रचना 'पद्मावत' के संदर्भ में सूफी काव्य और तसव्वुफ की व्याख्या करते है तब साही जी आलोचना के व्यावहारिक स्वरूप का अनुसरण करने लगते है। साही जी जब मार्क्सवादी सिद्धांतों को अपने तर्क की कसौटी पर कसना आरंभ करते है तो मार्क्सवाद की शास्त्रीय या सैद्धांतिक आलोचना होती है लेकिन जब वे मार्क्सवाद के मानवीय पक्ष की व्याख्या करते हुए अपनी स्थापनाएं प्रस्तुत करते है तो वहाँ हमें व्यावहरिक के साथ -साथ निर्णयात्मक आलोचना का स्वरूप भी दिखाई देता है।

> *"मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में हीगेल के अद्वैतात्मक नियतिवाद का अंश काफी हद तक मौजूद है, विशेषत: उन स्थानों पर जहां मार्क्स आंकड़ों से ना जूझकर शुद्ध दार्शनिक खंडन -मंडन में व्यस्त हो जाते है। ..... लेकिन यह हठ की साहित्यकार -कृतिकार राजनीतिक भूमिका भी ग्रहण करें, राजनीतिक क्रियाशीलता की तुलना में कलाकृतियों को हेय समझा जाए, मार्क्सवादी साहित्य -दृष्टि की मौलिक अथवा अनिवार्य स्थापना नहीं है।"*

यह उद्धरण जहां एक ओर शास्त्रीय है वहीं दूसरी ओर व्याहरिक और निर्णयात्मक भी। 'जायसी' में विजयदेव नारायण साही ने शुक्ल जी द्वारा पूर्व स्थापित स्थापनाओं का खंडन करते हुए नवीन स्थापनाएं दी हैं। इन स्थापनाओं को व्यवस्थित करने के लिए साही जीने जो तर्क दिए हैं उन तर्कों के पीछे गवेषणाप्रधान आलोचना एक सहायक के रूप में दिखाई देती है। जायसी और सूफी संप्रदाय आदि की विवेचना में साही जी ने गवेषणा पूर्ण आलोचना का अच्छा प्रयोग किया है। शुक्ल जी के समय गवेषणा के अभाव को स्वीकार करते हुए साही जी कहते है,

"संभवत: भारतीय इतिहास में उस समय तक जो भी रिसर्च हुआ था वह भी शुल्क जी के सामने नहीं था जो आज 1982 में हमारे समक्ष प्रस्तुत है, वह आज के पचास - साठ वर्ष पहले कहाँ से होता। जितनी जानकारी हमें आज सूफियों, सूफी आंदोलनों, सूफियों और बादशाहों के संबंधों के बारे में इतिहासकारों ने उपलब्ध करा दिया है, वह पूरी की पूरी जानकारी शुक्ल जी के सामने नहीं थी।"

'जायसी' पुस्तक का प्रारंभिक अंश जितना जायसी का जीवन वृत्त है उतना ही परिचयात्मक भी है। साही जी की आलोचना का एक महत्वपूर्ण अंश तुलनात्मक आलोचना है। अगर साही जी 'शिव प्रसाद सिंह' के उपन्यास 'अलग -अलग वैतरणी' का विवेचन करते है तो साथ -साथ 'श्री नरेश मेहता' का उपन्यास 'एक पथ बंधु था' 'प्रेमचंद' का 'गोदान', 'राही मासूम रजा' का 'आधा गाँव' सबके साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन भी साथ -साथ चलता रहता है। साही जी अगर 'गोदान' की आलोचना करते है तो प्रेमचंद की अन्य रचनाएं भी उसकी परिधि में आ जाती है। 'जायसी में साही जी ने जायसी की तुलना मुल्ला दाऊद, कुतबन और मँझन से करते है। क्योंकि इतिहासकारों ने इनकी कृति को एक ही श्रेणी में स्थान दिया है। लेकिन साही जी जायसी की तुलना जहां एक ओर कबीर से करते है वहीं दूसरी ओर अमीर खुसरो से भी करते है। यह उनकी तुलनात्मक आलोचना का वैशिष्ट्य है।

"जायसी ने वह मुहावरा विकसित किया था जो एक साथ कई स्तरों पर झंकृत होता है। उनका स्वाभाविक पाठक वर्ग अलग -अलग धर्मों और ससंस्कृतिओं के बावजूद बिना किसी दुराव या सांस्कृतिक सीमा रेखा के एक साथ उनके सृजनात्मक संसार में शामिल हो सकता है। जैसा कि मैंने कहा, कबीरदास भी अपनी प्रतिरोधात्मक वाणी के साथ उसी संधि स्थल पर खड़े है। लेकिन कबीरदास में हिन्दू और मुसलमान दो जमातों में अलग -अलग उनके पाठक है। कबीरदास जानकर दोनों से समानांतर दूरी की नीति बनाते है, ताकि उनकी निष्पक्षता पर आंच ना आवे। हिन्दू -मुसलमान दोनों बिना राह पाए भटक रहे है, लेकिन दोनों का भटकाव अलग -अलग है। जायसी एक मात्र कवि हैं जिनके सामने हिन्दू -मुसलमान अलग -अलग नहीं है, वे घुल -मिल कर सामान्य पाठक या श्रोता हो गए है।"

साही जी जायसी और खुसरो में स्पष्ट रूप से होड मानते है। उन्हें जायसी और अमीर खुसरो के तुलनात्मक अध्ययन पर स्पष्ट रूप से एक विस्तृत शोध की आवश्यकता महसूस होती है। साही जी की आलोचना चिंतन -प्रधान आलोचना है। उनकी समीक्षा से सर्वत्र उनका चिंतन लक्षित होता रहता है। सामान्य बातों के माध्यम से ही वे अपने चिंतन द्वारा हमेशा कुछ विशेष व्यक्त करना चाहते है। एक स्वतंत्र विचारक की भांति उनका चिंतन चलता रहता है। विजेताओं ने सदा सबसे पहला प्रहार विजित की संस्कृति पर किया। इसके कारण की व्याख्या करते हुए सही जी कहते है -

> *"विजित समाज को पुनर्निर्मित करने का और उसे भविष्य का रास्ता बनाने का काम ऐसे विजेताओं के ऊपर पड़ा जो विजितों से पिछड़े हुए थे। ऐसी दशा में यदि भौतिक शक्ति और वर्ग शक्ति के आधार पर विजेता रहते भी तो उन्हें संस्कृति में दसता स्वीकार करनी पड़ती, क्योंकि स्वयं उनके पास ऐसा कुछ भी नहीं था जिससे वे पुरानी शक्ति को परिमार्जित करके अपने हित में प्रयुक्त करने में सफल होते।"*

यह व्याख्या जर्मनी द्वारा रोमन संस्कृति के दोहन के संबंध में किया गया है। लेकिन जहां भी विजितों का सांस्कृतिक हनन किया जाता है उन सबके लिए यह व्याख्या सटीक है।

'शमशेर की काव्यनुभूति की बनावट' अभिव्यंजनावादी दृष्टि से की गई आलोचना है। अभिव्यंजनावादी आलोचना का यह स्वरूप यहाँ भी मात्र एक सहायक तत्व के रूप से ही आया है। साही जी की उस पर निर्भरता नहीं है। यहाँ भी उनका चिंतन अबाध गति से चल रहा है। किसी भी कृति की आलोचना करते समय साही जी जितना उसके पूर्ववर्ती इतिहास का आश्रय ग्रहण करते है उतनी ही उनकी दृष्टि समकालीन साहित्य पर भी रहती है। उनकी यह दृष्टि उन्हें ऐतिहासिक आलोचना के करीब लाती है। शुक्ल जी के साथ -साथ साही जी को डॉ जॉनसन और आइ. ए. रिचर्ड्स सबकी याद बराबर बनी रहती है। छायावाद से नई कविता तक के बहस में भी न महात्मा गांधी को भूलते है, ना पंडित नेहरू को, रवीन्द्रनाथ और टी. एस. इलियट भी साथ -साथ चलते दिखाई देते है।

साही जी आलोचना के क्रम में कहीं -कहीं कृति के गुण एवं दोषों का विवेचन भी करते चलते है, लेकिन यह मात्र रूढ़ि निभाने के लिए नहीं बल्कि आलोचना की आवश्यकता के लिए। जहां वह गुण -दोष विवेचन ना रहकर समीक्षा का अनिवार्य अँग प्रतीत होता है। समीक्षा से उसकी अभिन्नता बनीं रहती है। वह उस रचना का अविच्छिन्न अंग बन जाता है।

साही जी की आलोचना मात्र आलोचना ना होकर वह रचनात्मक आलोचना है। 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस (छायावाद से अज्ञेय तक)' में सर्वत्र उनका रचनात्मक स्वरूप दिखाई देता है। वह आलोचना ना होकर स्वयं एक महत्वपूर्ण रचना हो गई है। आलोचना करते समय कृति को जब कुछ नियमों या सिद्धांतों की कसौटी पर ना कस कर उस रचना को रचनाकार के मानसिक जगत से सम्बद्ध करके देखने की चेष्टा की जाती है तो उसे रचनात्मक आलोचना कहा जाता है। 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कावित पर एक बहस' में साही जी ने रचनाकार के मनोभूमि की तलाश की है। जो एक

रचनात्मक आलोचना का उदाहरण है। रचनाकार की मूल चेतन का संबंध कृति के साथ जितना अधिक स्पष्ट होता है रचनात्मक आलोचना उतनी ही सफल मानी जाती है। इस दृष्टि से साही जी सफल रचनात्मक आलोचक है। साही जी आलोचना के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते है। अपनी आलोचना के वैज्ञानिक स्वरूप की पुष्टि साही जी ने स्वयं भी किया है।

स्पष्ट है की साही जी की आलोचना का स्वरूप कहीं भी किसी एक ढांचे मे नहीं आता, उनकी आलोचना किसी एक पद्धति के अनुसार चलती हुई नहीं दिखाई देती। उनके आलोचना के स्वरूप में बहुत विविधता है यही विविधता उनकी आलोचना की विशेषता भी है। साही जी की आलोचना का स्वरूप एक प्रकार से जैन दर्शन के अनेकांतवाद की झांकी प्रस्तुत करता है। साही जी की आलोचना का स्वरूप बहुआयामी है। जिसका एक आयाम यदि मार्क्सवादी है तो दूसरी ओर यह रचनात्मक भी है।। यदि वह व्यावहारिक है तो शास्त्रीयता से पूर्णत: अलग नहीं हो पाती है। वह व्याख्यात्मक है तो उसमें निर्णयात्मकता का भी पुट है। इसलिए साही जी की आलोचना का कोई एक स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता, बिल्कुल भारतीय संस्कृति की तरह यदि कम शब्दों में कहा जाए तो साही जी की आलोचना का स्वरूप मानवीय सरोकारों से सम्बद्ध है।

सहायक रचनाएं:

1. विजयदेव नारायण साही - छठवाँ दशक, हिंदुस्तान अकादमी, इलाहाबाद
2. विजयदेव नारायण साही - वर्धमान और पतनशील, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
3. विजयदेव नारायण साही - जायसी, हिंदुस्तान अकादमी, इलाहाबाद